वर्ष : 6 • अंक : 21 (भाग-II) • जुलाई-सितम्बर 2019 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

संरक्षक :

प्रो. दलवीर सिंह चौहान

पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

रूपेश कुमार चौहान

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक

द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

दूरभाष संख्या-09555222747, 09540468787, 0991158532, 09266319639

Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vaaksudha.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी, अंग्रेजी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 4000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* लेख में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोध लेखक के अपने विचार हैं तथा इसमें सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल के विचारों की उद्भावना स्पष्टत: नहीं है। अत: इसके लिए शोध-लेखक स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**

*** शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

सलाहकार परिषद् :

- **प्रो. अरविन्द कुमार पाण्डेय**
  (पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
  (पूर्व कला संकाय अध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **महामहोपाध्याय प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री**
  (पूर्व उप-कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
  (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **प्रो. रामनाथ झा**
  (संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. राजवीर शर्मा**
  (पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. शम्स-उल-इस्लाम**
  (प्रधानाचार्य, गया कॉलेज, गया, बिहार)
- **प्रो. राम सरेख सिंह**
  (पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. पवन अग्रवाल**
  (हिन्दी एवं आधुनिक भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
  (अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)
- **प्रो. आभा त्रिवेदी**
  (पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. राम भरत सिंह**
  (पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीति शास्त्र, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. रामप्रवेश कुमार**
  (संस्कृत विभागाध्यक्ष, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
  (राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)
- **डॉ. विक्रमादित्य राय**
  (अध्यक्ष, समाज-शास्त्र विभाग, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, (बी.एच.यू.) वाराणसी
- **डॉ. इन्द्र नारायण सिंह**
  (बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय)
- **प्रो. राजेश रंजन**
  (पालि विभाग, नालन्दा नव-महाविहार)
- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
  (इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. काशीनाथ जेना**
  (राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **डॉ. प्रवेश सक्सेना**
  (सेवानिवृत्त प्रोफेसर संस्कृत विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. गजेन्द्र सिंह**
  (एसोसिएट प्रोफेसर, अफ्रीकन स्टडीज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. पी.के. सिसोदिया**
  (भौतिकी विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज)
- **श्री महीपाल सिंह**
  (पूर्व वरिष्ठ पत्रकार, राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली)
- **श्री अनिल चमड़िया**
  (वरिष्ठ पत्रकार एवं स्वतंत्र लेखक, दिल्ली)
- **डॉ. शरद रंजन**
  (एसोसिएट प्रोफेसर, जाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य), दिल्ली)

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Mob : 9555222747, 9540468787,
9267944100

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
Mob. 9555666907, 9891526584

Co- Editor
Abhishek Priyadarshi
M.A., Ph.D. (History),
Mob. 9971656921

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
I-11, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi-****110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (Bihar) :
Prof. D.S. Chauhan
C/o Late Bindeshwari Singh, Jaiprakash Nagar, Gewal Bigha,
Gaya-*823001*
Mob. : 9263078395

Branch Office (International) :
• Mrs Kirthee Devi Ramjatton
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

Correspondence Address :
B-11/39, MIG Flats, Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. कृष्ण लाल**
(सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, अरविन्दो कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. रसाल सिंह**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **डॉ. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. दिलीप कुमार झा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. हरीश अरोड़ा**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली)
- **डॉ. मनोज कुमार सिन्हा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **लाजपत राय**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **उमेश कुमार**
(इतिहास विभाग, श्रद्धानन्द कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. राम प्रमोल कुमार**
(संस्कृत विभाग, विश्व भारती विश्वविद्यालय, शान्ति निकेतन, बंगाल)
- **डॉ. संजय सेठ**
(हिन्दी विभाग, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. के.के. झा**
(हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. सुभाष कुमार सिंह**
(संस्कृत विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चन्द्रशेखर राम**
(हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. अमित सुमन**
(इतिहास विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-शास्त्र, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)

विद्वत् समीक्षा समिति (Peer-Review Committee)

हिन्दी :
डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर, दलित चिंतक, राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी
डॉ. रसाल सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. राम किशोर यादव, असिस्टेंट प्रोफेसर, वेंकटेश्वर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. लालजी सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. कृष्णलाल, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, श्री अरविन्दो कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
श्री महीपाल सिंह, पूर्व वरिष्ठ पत्रकार, राष्ट्रीय सहारा, नोएडा
श्री राजीव रंजन श्रीवास्तव, पत्रकार एवं स्तम्भकार, हिन्दुस्तान, नोएडा
डॉ. चन्द्रशेखर राम, असिस्टेंट प्रोफेसर, अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृत :
प्रो. दलवीर सिंह चौहान, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
प्रो. रामप्रवेश कुमार, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया
डॉ. उमाशंकर, असिस्टेंट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. मारूफ-उर-रहमान, असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य), दिल्ली
डॉ. राजीव रंजन, असिस्टेंट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. रूपेश कुमार चौहान, असिस्टेंट प्रोफेसर, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

इतिहास :
डॉ. एम.एम. रहमान, एसोसिएट प्रोफेसर, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. उमेश कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर, स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. अजीत झा, असिस्टेंट प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. मनोज शर्मा, असिस्टेंट प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. ईश्वर दान, असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

विधि :
डॉ. अनुपम झा, असिस्टेंट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. पंकज चौधरी, असिस्टेंट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. आशुतोष मिश्रा, असिस्टेंट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
अजय कुमार सिंह, एडवोकेट, सुप्रीम कोर्ट, दिल्ली
रवि शेखर मंगलमूर्ति, लोक अभियोजन अधिकारी, दिल्ली

अर्थशास्त्र :
डॉ. शरद रंजन, एसोसिएट प्रोफेसर, जाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य), दिल्ली
डॉ. अनिल कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर, श्यामलाल कॉलेज (सांध्य), दिल्ली
डॉ. दुष्यंत त्यागी, असिस्टेंट प्रोफेसर, जाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य), दिल्ली

अंग्रेजी :
डॉ. सूर्यकांत मिश्रा, एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज (प्रात:), दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. संजय वर्मा, असिस्टेंट प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

अफ्रीकन स्टडीज :
डॉ. गजेन्द्र सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय

भूगोल शास्त्र :
डॉ. वीरेन्द्र सिंह नेगी, एसोसिएट प्रोफेसर, शहीद भगतसिंह कॉलेज, दिल्ली
डॉ. बाबर अली, असिस्टेंट प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. नवल किशोर, असिस्टेंट प्रोफेसर, शहीद भगतसिंह कॉलेज, दिल्ली

राजनीति शास्त्र :
प्रो. राम भरत सिंह, पूर्व विभागाध्यक्ष, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
प्रो. काशीनाथ जेना, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा
डॉ. सुधीर सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, दयाल सिंह कॉलेज, दिल्ली
लाजपत राय, असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज (प्रात:), दिल्ली

दर्शन शास्त्र :
प्रो. राम सरेख सिंह, पूर्व विभागाध्यक्ष, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
डॉ. प्रमोद कुमार सिंह, मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. आशुतोष पाण्डेय, पूर्णिया कॉलेज, बिहार
राकेश कुमार सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य)

बौद्ध अध्ययन एवं पालि
प्रो. राजेश रंजन, नालन्दा नव-महाविहार, बिहार
डॉ. कामाख्या नारायण तिवारी, असिस्टेंट प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय

मीडिया एवं पत्रकारिता
अनिल चमड़िया, वरिष्ठ पत्रकार एवं समाजसेवी
राजीव रंजन श्रीवास्तव, सम्पादक धर्मपृष्ठ, हिन्दुस्तान
डॉ. रूपेश कुमार चौहान, प्रधान सम्पादक-युगान्तर टुडे
मोहम्मद अफसर, संवाददाता-न्यूज एजेंसी, यू.एन.आई.

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय 9

पं. दीनदयाल उपाध्याय का हिन्दी साहित्य में योगदान 'सम्राट चन्द्र गुप्त' उपन्यास के संवाद 10
डॉ. ओम मिश्रा

Exposition of "Chala" in Vādi-Vinoda ---- 12
Rahul Kumar

पं. दीनदयाल उपाध्याय का हिन्दी साहित्य में योगदान 'सम्राट चन्द्रगुप्त' उपन्यास के पात्र एवं चरित्र-चित्रण 17
डॉ. ओम मिश्रा

भारतीय राष्ट्रवाद : बंधुता, मानव की गरिमा एवं राष्ट्र की एकता और अखंडता को आत्मसात करने की ओर अनवरत प्रयास 22
महेश कुमार किलानियाँ

महीप सिंह की कहानियों का वैचारिक फलक . 29
डॉ. शगुफ़्ता खान

दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय - एक परिचय 34
डॉ. अर्चना द्विवेदी

स्त्री विमर्श और सचेतन कहानीकार 41
डॉ. शगुफ़्ता खान

हिंदी साहित्य में श्रम का पलायन एवं प्रवासी पीड़ा 45
काली सहाय

Philosophical Foundation of Buddhist Art - 48
Prerna Bhardwaj

AN EXAMINATION OF JĀTAKA STORIES AT SĀNCHI ---------- 54
Jyoti Dwivedi

आधुनिक हिन्दी कविता की नई दृष्टि और कुँवर नारायण की काव्य-संवेदना 58
अभिनव प्रकाश

स्वाधीनता संग्राम का आईना 63
अदिति झा

प्रायश्चित्त की अवधारणा एवं प्रायश्चित्तेन्दुशेखर ... 70
अरविन्द कुमार

पर्यावरणविज्ञानविषयक संस्कृतवाङ्मयम् 75
डॉ. आशुतोषकुमारमिश्रः

कृष्णा सोबती का कथा साहित्य : विविध आयाम 81
अभिनव प्रकाश

Uses of History in Contemporary Dalit Political Movement ---------- 88
Dr. Surbhi Sehgal

Ground Realities of Singhvahini & Katharai Gram Panchayat in Access of Safe Drinking Water & Sanitation ---------- 98
Narendra Kumar Singh

रामचरितमानस में विभिन्न भाव दशाएँ 101
डा. शत्रुघ्न शरण सिंह

The Upanishads and Rabindranath --------- 105
Dr. Ram Pramol Kumar

भारतीय संस्कृति अथवा विरासत : राष्ट्र निर्माण की आधारिक संरचना 109
महेश कुमार किलानियाँ

Settlement Problem ---------- 118
Dr. Kumar Pratiyogi Kamlesh

Political Dimension of International Relation in Ancient India ---------- 127
Pankaj Kumar Bharti

गीता के अठारहवें अध्याय की पुष्पिका में प्रयुक्तमोक्षसंन्यासयोग की मीमांसा 131
डॉ. ललन कुमार पाण्डेय

Buddhism and Suffering – Raja Rao's View - 140
Purnima Priyadarshi

राष्ट्रकूट कालीन राज संस्था सामाजिक संगठन - धर्म, शिक्षा, साहित्य एवं कला के विशेष महत्व 144
विनय शंकर मिश्रा

Investigate Factor of Mahadalit and Dalit High School Students ---------- 150
Bandana Kumari

Role of Child And Mother in the Field of Child Development ---------- 156
Dr. Shobha Kumari
मनरेगा और पंचायती राज की भूमिका का विश्लेषण 159
डॉ. रंजु कुमारी
नई व्यापारिक नीति और भारतीय निर्यात का विश्लेषण 162
डॉ. चन्द्रमणि प्रसाद
राष्ट्र निर्माता सच्चिदानन्द सिन्हा : वैधानिक एवं प्रशासनिक कार्यों का ऐतिहासिक अवलोकन 166
डॉ॰ समरेन्द्र नाथ विश्वास
रामायण में वर्णित राक्षस संस्कृति 171
डॉ. संजय कुमार
सांख्य दर्शन में पुरुष 175
डॉ. रश्मि कुमारी
Condition of Peasants in India in the First Half of 20th Century: A Study ---------- 178
Dr. Jitendra Kumar
Good Governance: Its Meaning, Growth and Needs in Modern Development Perspective ---------- 184
Dr. Ravi Kant Pandey
बौद्ध धर्म में प्रतिबिम्बित बोधिसत्त्व की अवधारणा 188
डा. रिंकु पांडेय
आधुनिक भारत में : महिला आन्दोलन 192
डॉ. साधना कुशवाहा
सूरकाव्य संबंधी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का चिंतन 196
रिंकु कुमारी
प्राचीन भारत में व्यापार का स्वरूप 198
संजीव प्रकाश
कालिदास के महाकाव्य में प्रकृति विशेषकर सामाजिक परम्परा 201
मणि वाजपेयी
ग्रामीणों के सामाजिक विकास में शिक्षित महिलाओं का योगदान विशेषकर सहभागिता हेतु उपाय .. 204
डॉ. प्रमोद कुमार प्रभाकर
महाभाष्यकालीन आर्थिक स्थिति विशेषकर व्यापारिक मार्ग 207
डॉ॰ इंद्रजीत कुमार
भारतीय दर्शन में अध्यात्म तत्त्व 210
माधव झा
कौटिल्य अर्थशास्त्र में कृषि व्यवस्था 212
मधुलिका सिन्हा
वेदान्त दर्शन का उद्‌भव और विकास 215
डॉ. संजय कुमार पांडेय
बाल्यावस्था में ऋतुओं के अनुसार आहारचर्या ... 219
डॉ. अंजुला सिन्हा
तण्हा (तृष्णा) 222
श्रीमति रेणु कुमारी
गोस्वामी तुलसीदास के काव्यों में : रस-विवेचन 225
डॉ. स्नेहा कुमारी
विशेष आर्थिक क्षेत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन 230
डॉ. रंजु कुमारी
Intelligence Test of Mahadalit and Dalit High School Students ---------- 233
Bandana Kumari
लालकिताब ज्योतिषीय परम्परा में ऋण-विमर्श 239
डॉ. राजीव रंजन
भारतवर्ष में लेखन कला की प्राचीनता 243
हरिओम कुमार

सम्पादकीय

इक्कीसवीं शताब्दी का दूसरा दशक समाप्त होने को है। आज का मानव प्रतिस्पर्धापूर्ण संस्कृति में जी रहा है। उसका ध्येय प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना है। इस प्रयत्न में वह अपनी संवेदनाओं का दमन कर देने से भी नहीं चूकता। अभिलाषा पूर्ति के लिए घर, परिवार और जीवन की तमाम इच्छाओं का हनन कर देता है। सब कुछ पाकर भी वह संतुष्ट नहीं है। इसलिए वह तनावपूर्ण स्थिति में रहता है। तनाव से मुक्ति के लिए वह या तो दैवीय शक्ति की आराधना करता है या किसी बाबा, ताबिज पंडित, मौलवी और मजार के चक्कर लगाता है। ऐसे तनावग्रस्त मानवता के लिए 'श्रीमद्भगवद गीता'' अद्भुत ग्रन्थ है।

गीता में जब अर्जुन अपने सम्बन्धियों व गुरुजनों को युद्धक्षेत्र में विपक्ष की ओर देखता है, तो गंभीर तनावग्रस्त हो जाता है। अर्जुन वास्तविकता को स्वीकार नहीं करता है। तनाव मुक्ति के लिए गीता के अनुसार सदैव कर्मरत रहना चाहिए। जो मनुष्य फल की इच्छा न रखते हुए भगवान् को अर्पित करके सब कर्म करता है, उसके कर्म असफल होने पर भी उसे दु:खी नहीं करते।

तनाव का मुख्य कारण मानसिक द्वन्द्व है। गीता का प्रारम्भ ही अर्जुन के मानसिक द्वन्द्व को लेकर हुआ है। गीता में एक तरफ कौरवों के साथ धर्मयुद्ध करना उसका कर्तव्य है तो दूसरी तरफ कौरव उसके अपने ही सम्बन्धी हैं, जिनको युद्ध में मारना उनके लिए मोह को कुचलना है। अर्जुन कहता है–जिनके लिए मैं युद्ध कर रहा हूं, वही लोग अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए मेरे साथ हैं। दूसरी तरफ प्रतिद्वन्द्वी सेना में भी परिजन है। जिसके मारे जाने पर परिवार की स्त्रियां पथ भ्रष्ट हो जाएंगी। उनके बच्चों के द्वारा श्राद्ध न कर सकने से पूर्वजों को नरक मिलेगा। दूसरी तरफ गुरुओं और पूजनीयों का वध करने से इनके खून से सना हुआ भोग मिलेगा। इस मन:स्थिति से उभरने के लिए श्रीकृष्ण अर्जुन को धर्मयुद्ध के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं–

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

अर्थात् सुख-दु:ख, लाभ-हानि, विजय और पराजय को समान समझकर धर्मयुद्ध कर। इससे तू अपने कर्तव्य की पूर्ति कर यश प्राप्त करेगा तथा पाप का भागी नहीं बनेगा। अगर नहीं करोगे तो मनुष्य तेरे अपयश की बातें किया करेंगे। जो आदमी सम्मानित रह चूका हो, उसके लिए निन्दा मृत्यु से भी कहीं बुरी है और जिनके लिए तू युद्ध से विमुख हो रहा है, वे तुझे भीरु समझेंगे।

गीता में कर्तव्यपूर्ति के साथ सुख-दु:ख, राग-द्वेष, मान-अपमान तथा विजय-पराजय को समभाव से लेने पर बल है–समत्वं योग उच्यते।

गीता के अनुसार किसी भी कार्य को करने के लिए 'दृढ़ निश्चय' का होना अति आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में अच्छे व बुरे विचारों तथा इसी प्रकार उसका कर्तव्य क्या है या क्या नहीं का निरन्तर द्वन्द्व बना रहता है। यह द्वन्द्व उनके जीवन में किसी प्रकार का निश्चय लेने में बाधा डालते हैं। जब कभी मनुष्य किसी कारण से कर्तव्यपूर्ति में घबराता है या कर्तव्यपूर्ति में उसके उत्साह में कमी होती है, तब वह धर्म की आड़ में अपनी कमियों को छिपाकर उस विकट व दुविधाजनक परिस्थिति से निकलने का प्रयत्न करता है। वस्तुत: इस प्रकार कर्तव्य के प्रति विमुख होकर अधार्मिक कर्म बनकर मानसिक व शारीरिक जीवन को क्षति पहुंचाता है। गीता व्याकुलता की स्थिति में स्वस्थ व निश्चित निर्णय लेने के लिए प्रेरित करती है।

श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से समस्त मानव मात्र को कहते हैं कि तू केवल अपने कर्तव्य का पालन कर–'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' और फल के लिए विचार न कर। गीता के अनुसार प्रत्येक कर्म की फल की इच्छा त्याग कर अनासक्त भाव से करना चाहिए। क्योंकि आसक्ति युक्त कर्म सदैव बन्धन में बांधे रहता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तू प्रत्येक कर्म को परमात्मा को समर्पित कर। इस प्रकार तू शुभ और अशुभ परिणामों से मुक्त हो जाएगा, जोकि कर्म के बन्धन हैं–

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै:।

गीता के अंतिम अठारहवें अध्याय का आरम्भ जो कि समस्त गीता का उपसंहार है में कहा गया है–

सर्वकर्मफलत्वांग प्राहुस्यागं विचक्षणा:।

अर्थात् समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। क्योंकि जिसका मन दु:खों में बेचैन नहीं होता और जिसे सुखों में अधीरतापूर्ण लालसा नहीं होती, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह स्थिर बुद्धि वाला मुनि अर्थात् निश्चित निर्णय लेने वाला व्यक्ति कहलाता है–

दु:खेष्वनाद्वग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतराग भयक्रोध: स्थितधीर्मुनिसच्यते।

इस प्रकार गीता विभिन्न रास्तों में से एक उपर्युक्त निर्णय लेने पर बल देती है। इसके अनुसार संघर्षों और कष्टों में से गुजरकर मनुष्य अपने अच्छे और बुरे में से चुनाव कर सकने की समर्थता से पा लेता है।

– राजेश कुमार
उप-सम्पादक

डॉ. ओम मिश्रा

पं. दीनदयाल उपाध्याय का हिन्दी साहित्य में योगदान 'सम्राट चन्द्र गुप्त' उपन्यास के संवाद

संवाद की दृष्टि से उपन्यास उच्च कोटि का है चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त दोनों के बीच के सम्वाद उत्कृष्ट कोटि के हैं। इनमें गम्भीर वार्तालाप व गम्भीर विषय दृष्टिगोचर होता है। अन्य पात्रों के बीच भी सम्वाद गम्भीर ''जब अपने साथियों का ध्यान वह मगध राज्य के अत्याचारों की ओर खींचता तथा उनसे उसका विरोध करने को कहता तो वे–''भैया चन्द्रगुप्त तुम तो उनका विरोध कर सकते हो, क्योंकि तुम्हारा शूल शत्रु की अंतकियों को भी खींचकर बाहर ला सकता है। जब अपने साथियों का धयान वह मगध राज्य के अत्याचारों की ओर खींचता तथा उनसे उसका विरोध करने को कहता तो वे–''भैया चंद्रगुप्त, तुम तो उनका विरोध कर सकते हो, क्योंकि तुम्हारा शूल शत्रु के पेट की अंतड़ियों को भी खींचकर बाहर ला सकता है, तुम्हारा बाण छिपे-से-छिपे शत्रु का भी सिर धड़ से अलग कर सकता है, परंतु हम क्या खाकर उनका विरोध करें? हममें कहाँ है इतनी कुशलता?''[1]

चन्द्रगुप्त कहता है–शस्त्रों की ताकत से दिल की ताकत ज्यादा है, जिसमें आत्मविश्वास है, वह दुनिया में सबसे अधिक शक्तिशाली है। हम अन्याय और अत्याचार सहन नहीं करेंगे, बस यही भावना हमारे हृदय में होनी चाहिए और यही सबसे बड़ी शक्ति है। मनुष्य निर्भीक हो तो, फिर उसे कौन सी शक्ति झुका सकेगी। चन्द्रगुप्त व एक वृद्ध के बीच की वार्ता का वर्णन संवादों की रमणीयता समय-सार्थकता, पात्रानुकूलता को प्रस्तुत करती है–

''तो क्या दादा, आप समझते हैं कि यदि रावण सीता का हरण नहीं करता तो भी राम रावण से युद्ध करते?''[2] उनमें से एक ने पूछा।

''आज तो कोई चक्रवर्ती सम्राट् नहीं है, दादा?''[3]

''नहीं बेटा! आज कोई चक्रवर्ती सम्राट् नहीं है; इसीलिए तो सुना है कि अलिक्सुंदर ने भारत पर चढ़ाई करने की सोची है। आज तक भारत पर आक्रमण करना तो दूर, कोई मन में इस बात का विचार भी न ला सकता था।'' यह कहते-कहते उस वृद्ध का गला रुँध गया और सूखी आँखों से भी दो अश्रु-बिंदु गिर गए।[4]

''दादा आज भारत में कई छोटे-छोटे राजा हैं, क्या वे आपस में मिलकर आलिक्सुंदर से नहीं लड़ेंगे विजयगुप्त ने पूछा।''[5]

''क्यों, मिलेंगे क्यों नहीं!'' विनयमित्र बोला, ''शत्रु के विरुद्ध तो सबको मिलकर ही लड़ना चाहिए।''[6]

''फिर तो भारत की रक्षा की जिम्मेदारी मगध की है।'' विश्वगुज बोला।

''ही, मगध की ही,'' वृद्ध ने दृढ़ता से कहा, ''पर हमारे महाराज को इतनी फ़ुरसत कहाँ है!'' वृद्ध ने एक क्षण बाद ही ठंडी साँस लेते हुए कहा।

''तब तो हम यूनानियों के गुलाम हो जाएँगे।'' वसुमित्र ने व्यग्रता से कहा। यह सुनते ही सब के चेहरे फक पड़ गए; हृदय धड़कने लगा और एकाएक सबके मुँह से निकल पड़ा, ''गुलाम-यूनानियों के!''[7]

''और इसलिए कि मगध के सिंहासन पर एक अकर्मण्य और विलासी राजा बैठा है।'' वृद्ध ने जोर देकर कहा।

चंद्रगुप्त का हाथ एकदम तलवार की मूँठ पर गया, मानो सामने ही यूनानी उनको गुलाम बनाने आ रहे हों, और वह उनसे लड़ने को उद्यत है। उसकी त्योरियाँ चढ़ गईं। ''भारतवर्ष गुलाम? नहीं, कभी नहीं!'' उसने सरोष पर दृढ़ता से कहा।

''कभी नहीं!'' एक साथ आठ आवाजें गूँज गईं।

''कभी नहीं! पर कैसे?'' वृद्ध ने स्मित हास्य के साथ पूछा। एक क्षण को सब चुप हो गए मानो किसी गहरे विचार में पड़ गए हों। भारत के स्वातंत्र्य के महान् उत्तरदायित्व का पहाड़ सा बोझ! और धनानंद के निर्बल कंधे! उन्होंने देखा कि वह उस बोझ को नहीं सँभाल पा रहा है।''[8]

''हम मगध का राजा ही बदल देंगे।''[9] अरिमर्दन ने एक ऐसे विजयगर्वित स्वर में कहा, मानो उसने समस्या को हल ही कर दिया हो। सबने अरिमर्दन की ओर देखा। और फिर एक बार चारों ओर देखा। सबकी दृष्टि चंद्रगुप्त पर ठहर गई।[10]

''यह मगधेश चंद्रगुप्त कौन है सैनिकों?'' अमात्य 'राक्षस' ने अधिकार एवं रोष भरे स्वर में पूछा, ''म-हा-राज-चंद्र-गु-प्त?''[11] घृणा के स्वर में उसने दूसरे ही क्षण कहा।

कहीं-कहीं पर संवाद छोटे एवं मर्मयुक्त हैं–''क्या भारत का प्रवेश-द्वार किसी ने रोका नहीं?'' उन्होंने पूछा। ''सीमांत पर अवश्य जी-जान से लड़े गुरुदेव! परंतु उनका किला आलिक्सुंदर ने बुरी तरह घेर रखा था।''[12]

''और क्या हुआ शीलभद्र?'' आर्य चाणक्य ने पूछा।[13]

''तो आलिक्सुंदर पराजित हुआ?'' आर्य चाणक्य ने प्रसन्न होकर कहा।[14]

''कितना अबोध है पर्वतक! राजनीति में कोरा!'' आर्य चाणक्य विक्षुब्ध होकर बोले।[15]

''यह असत्य भाषण मैं कैसे करूँगा, आर्य!'' शीलभद्र ने कहा।[16]

आर्य चाणक्य की आँखों में एकदम उत्सुकता की चमक आ गई। ''वत्सद्ध एक बार उसको मुझसे मिला दो। अवश्य ही वह हमारे लिए उपयोगी होगा।'' आर्य चाणक्य ने कहा।[17]

''आर्य! अभी जाता हूँ वह यहीं-कहीं लोगों से बातचीत कर रहा होगा। उसमें कुछ ऐसा जादू है कि जिससे एक बार बात करता है, उसे अपनी ओर खींच लेता है।'' शीलभद्र ने कहा।[18]

''निस्वार्थ देशप्रेम ही वह जादू है, शीलभद्रद्ध अच्छा, लाओ तो उस जादूगर को। देखूँ तो कैसा जादू है उसका!''[19] आर्य चाणक्य ने कहा।

इस प्रकार उपन्यास के संवाद रूचिकर पात्रानुकुल, समयानुकुल, विषयानुकुल है जो दीनदयाल उपाध्याय के प्रतिभा के परिचायक है।

सह-आचार्य
भीमराव अंबेडकर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाड्मय, खंड-एक, संपादक डॉ. महेश चन्द्र शर्मा–एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान, प्रभात प्रकाशन-2016, दिल्ली।
2. वही
3. वही
4. वही
5. वही
6. वही
7. वही
8. वही
9. वही
10. वही
11. वही
12. वही
13. वही
14. वही
15. वही
16. वही
17. वही
18. वही
19. वही

Research Paper

Rahul Kumar

Exposition of "Chala" in Vādi-Vinoda

To debate and discuss in a quest to find the truth and reach definite conclusions has had been the primary nature of human. The never-ending quest for knowledge has really been the prime-mover of arguments, debates and discussions since ages. Argumentation is a process to find the real and refined meaning of the unknowns of life. It has been thus rightly said–

'Vāde-vāde hi Jāyate tattvababodhaḥ'

The two parties in a debate, carry on the process using the techniques of admission and refutation, only after establishing a particular topic as a base. India has had a long and established tradition of argumentative thinking. We can have a glimpse of this in various vedic hymns and 'saṃvāda-sūkta' and through different debates (śāstrārtha) in the courts of kings as mentioned in different 'upniṣadās.' Later this tradition goes further enriched in the 'Dārśanika-era' in the form of affirmation-refutation method (Khaṇḍana-maṇḍana-prakriyā) which is used by different philosophical schools to establish their thesis and to refute the anti-thesis.

In the Indian debate tradition, sage *Gautama* in his magnum-opus work *'Nayāya-sūtra'* has set the tone for formal debates. It thus marked the beginning of a new dawn for India for formal dialectic-tradition. It provided a systematic and classical face to the techniques of discourse. Thereafter, in the form of 'Bhāṣya', 'vārttika', 'Tātparya-tīkā' etc., this tradition continued uninhibitedly. In this series 'vādi-vinoda' of *śaṅkara Miśra* is also a very important treatise of formal debate under the Nayāya-Philosophical system. In this we can find the detailed analysis of theoretical and practical aspects of *'śāstrīya-vāda-vivāda'*. In the original words of *śaṅkara-Misra-*

'Upakartuṃ vijigīṣūn -- apkartum-ahṅagatān viduṣaḥ
vādivinodaḥ kṛyate 'saṅkarakṛtinā vivicyatantrāṇi'[1]

The term *'Kathā'* has been in vouge for formal debate or discourse in Indian traditions. There are primarily two driving forces that propel any disputant to take participate into any debate. The first one is longingness for the ascertainment of the reality i.e. *'tattva-bubhutsā'* while second one is a very strong driving force aureates who want to ascertain their authority over the subjects to the audience i.e. *'vijigīṣā'*. Taking into consideration of these above mentioned factors two fold division of the 'Kathā' has been accepted which is as follows - *'tattvabubhutsā kathā'* and vijigīsu kathā. In the Nyāya-śastrīya, terminology the *'tattvabubhutā kathā'* is known as 'vāda' while *'vijigīsā kathā'* is of two types and termed as *'jalpa'* and *viṭanḍā.* In this way the kathā is of three types i.e. vāda, jalpa and viṭandā.[2]

Since in 'vijigīsu-kathā' the only goal of debateis to earn victory through any means, the participants even employ unfair means and

techniques, that are against the established codes and norms. These unfair means are generally in the form of *'chala', jāti, Hetvābhāsa* etc. Since 'chala' has been one of the most causative factors in theformal debating system, it has been classified as one of the sixteen 'padl̥rtha' in the *'Nayāya-sūtra'.*[3]

Though the general meaning of 'Chala' is treachery, concealment of facts etc. but in philosophical terminology it is taken as twisting and tweaking of the actual meaning i.e. *'Vakrokti'.* In 'Vijigīṣu-kathā' in desperation to win a debate a disputant can go to any extent. That's why the tool that is 'Chala' has been employed by the participants.

In the 'Nyāya-Sūtra', 'Chala' has been defined as –1

'Vacana-vighāto-artha-vikalpopatyā chalaṃ.'[4]

It means 'Chala' consists in opposing a proposition by assigning to it a meaning other than the one intended.

In the *'vādi-vinoda'* general definition of 'Chala' is -

Par-tātparya-viṣye-śabdatātparya-sañcāreṇa duṣaṇavacanaṃ chalaṃ.[5]

It means, when a proponent presents his statement and the opponent do rebuttal of the argument by tweaking the meaning of a particular word or words, it is called 'Chala'.

Though 'Chala' is generally used by the opponent when he finds himself helpless in tackling the tough situation posed by the other party, here the use of 'Chala' is intentional. On the other hand, it is quite possible that he is using it by fault because of non-apprehension of the intentional meaning of the 'word' out of his sheer ignorance. *Śaṅkara Miśra* has mentioned this fact in his text 'vādi-vinoda'.[6]

This above mentioned 'chala' is of three kinds-

(i) vāk-Chala (ii) Sāmānya-chala (iii) upacāra-chala[7]

i) Vāk-chala

In the 'Nyāya-sūtra the *'vāk-chala'* is defined as -

'aviśeṣābhihite-arthe vaktur-abhiprāyād-arthāntara kalpanā-vākchalaṇ'[8]

It means verbal quibble consists in assuming a meaning other than that intended to be conveyed by the speaker, when the meaning intended is not defined.

In *'vādi-vinoda' Śaṅkara Miśra* says -

'mukhyārtha-tātparyeṇa-prayukte mukhyārtha-sañcāreṇa-abhidhānaṃ vāk-chalaṃ.'[9]

When intention of the speaker is to express the 'direct meaning' of the word and the opponent takes the meaning which is indirectly related to the 'direct meaning' of the word.

'Vāk-chala' is primarily divided into three types as - (a) Dharmi-pada-sañcārāt vāk-chala, (b) Dharma-pada-sañcārāt vāk-chala, (c) Ubhaya-pada-sañcārāt vāk-chala

Further these three are subdivided on the basis of *pratjñā, hetu* and *dṛṣṭānta.* So the total types of 'Vāk-chala' are nine.

Here only the subdivision related to 'pratijñā' has been discussed with examples.

a) 'Sañcāra' of Dharmī-pada in 'Pratijñā'-

Ex. *'Bhubhṛdayaṃ samarpriyo, mahābalatvāt'* means this king is fond of war, because of his 'valour'.

Here the term *'Bhubhṛd'* has two meanings 'the king' and 'the mountain' But as against the intentional meaning of the speaker, the quibbler takes it as 'mountain' and shows inconsistency in the proposition.

b) Sañcāra of Dharma-pada in pratijñā

Ex. *'Brāhmṇoayaṃ akṣara-rahito, mahākulatvāt*

In this example, the quibbler takes the meaning of *'Indriyarāhitya'* (devoid of sense organs) as against the intended meaning as *'Akṣara-rāhitya'* i.e. devoid of knowledge of even the basic literal word.

c) Sañcāra of Ubhaya-pada in Pratijñā

Ex. *'Bhubhṛdayaṃ saindhavavān* (means the

king possesses horse)

Here, both the terms used by the proponent has dual meaning 'Bhubṛd' means 'the king' and 'the mountain'. Likewise the term 'saindhava' means – 'salt' and 'horse'. But as against the intended meaning of these two terms, the opponent describes it as 'mountain' and 'salt' and raises an objection.

(ii) Sāmānya-chala (Generalising quibble)

In the *Nyāya-sūtra* it is defined as - 'Sambhavato-arthasyātisāmānya-yogād Sambhūtātrtha-kalpnā sāmānya-chalaṃ[10]

Genearlising quibble consists in asserting the impossibility of a thing which is really possible, on the ground that it belongs to a certain genus, whichis very wide.

In *vādi-vinoda' 'sāmānya-chala'* is - *'Vivakṣita-vākyāḥrthe-tātparyārtha-sañcārād dushaṇābhidhānaṃ sāmānyacchalaṃ'*[11]

Diverting the intended meaning of the speaker into other possible but unintended meaning of a word and on the basis of that raising an objection is *'Sāmānya-chala.'* This 'sāmānya chala' is of two types - a) *'pada-tātparya'* based and (b) *vākya-tātparya'* based.

Further each of this type is sub-divided six-fold. Here sub-division of 'pada-tātparya' is being presented with examples -

a) Sambhave-niyama-tātparya-sañcāra - i.e. possibility is looked upon as rule.

While the intention of the speaker is only in possibility, the opponent describes it as a certainty.

Ex. *'Ayaṃ sambhāvita-vidyaḥ, brāhmaṇatvādi'* means this person possibly is learned, because of his Brāhmaṇhood'.

After stating this by the proponent, the opponent hits back by saying that brl̥hmaahood is not necessarily concomitant with possession of learning as in the care of 'vrātya', who is also brāhmana.

b) Niyame sambhavaḥ i.e. rule is looked upon as possibility

Ex. *'yo-yo dhūmavān sa-sa vahnimān'* means 'whatever is smoky, is fiery also'.

Here, intention of the speaker is to show that the invariable connection between smoke and fire and the opposition takes it as mere possibility.

c) Uddeśyevidheyatva-sañcāraḥ i.e. interchanging of subject and predicate

Ex.'Sabdo-anityaḥ' means word is non-eternal.

In this example, 'word' is 'subject' and its 'non-eternality' is 'predicate' and quibbler interchanges it and says 'all non-eternal things are not word'.

d) VidheyeUddeśyatva-sañcāraḥ i.e. converting the 'subject' into the 'predicate'.

Ex. 'Anityaṃ kāryaṃ anityatvādi means whatever is 'non-eternal' is an effect because of non-eternality.

Here opposition objects by saying that 'effect' and 'non-eternal' are identicals. It means that the Proban is not distinct from the probandum.

e) Viśeṣaneviśesyatva-sañcāraḥ i.e. epithet is looked upon as the substantive.

Ex. *'dvijaśataṃ bhojitaṃ'* means hundred 'twice-born have been fed'.

Here the term, *'śataṃ'* is quantifier and the term *'dvija'* is substantive, but the quibbler interchanges them and raises on objection regarding how 'Hundred' which is only a quantity thus 'a non-living thing' can be fed.

f) Viśeṣaṇāntare viśeṣaṇātara sañcāraḥ i.e. epithet is looked upon as another

Ex. *'Sataṃ dvi-jātayo-bhojitaḥ'* means of a hundred twice-born were fed.

After that opponent objects to this by imposing on the expression the meaning 'twice-born' were fed a 'hundred times'.

III) Upacāra-chala[12]

This is defined in *Nyāya-sūtra* as -

'dharma-vikalpa-nirdeśe-artha-sadbhāva-pratiṣedha upchāra-chalaṃ'

Figurative quibble consists in of the denial (on the basis of primary meaning of words) of the

existence of that which is described on the basis of the secondary meaning of the words.

In the text *'vādi-vinoda'* it is described as

'upacāravṛtyā prayukte-mukhyārtha-tātparyakatayā duṣaṇamupcāracchalaṃ.[13]

Like in the case of *'vāk-chala', 'Upcāra-chala'* is also firstly divided into three types and these are further sub-divided into (a) *'sādhya-vaikalya'*, (b) *Sādhana-vaikalya* and (c) *Ubhahya-vaikalya.*

Here only *dṛṣṭānta*-based subdivision is being presented with examples.

a) Sādhya-vaikalya-dṛṣṭānta based upcāra-chala i.e. faulty probandum defined illustration based figurativequibble

Example - 'Ayaṃ deśo ghoṣa-vāsa-yogyaḥ, vistīrṇatvāt' means 'this place is ideal for house-making, because of its ample space', like on the banks of the Gaṅgā.

Here, the opponent takes the literal meaning of the example 'Gaṅgā' i.e. the main flow of the 'Gaṅgā' river and objects that how a house can be made in the 'Gaṅgā'.

b) Sādhana-vaikalya-dṛṣṭānta based *'upacāra chala'* i.e. faulty problem defined illustration based figurative quibble

Example : *'Ayaṃ deśo mahān, ghoṣavāsādhikarṇatvāt, Gaṅgāvat'* means 'Having the quality that house can be built in it, this country is reallygreat like the Gaṅgā.

Here the basis of the objection is the same as described in previous example.

c) Ubhaya-vaikalya-dṛṣṭānta based upacāra - chala

Ayaṃ puruṣaḥ krośankartā, bhītatvāt, mañcavat' means 'this person is making a noise, because he is in the grip of fear, like the person on the stage'.

Opponent argues that an 'insentient stage' can't be fearful and out of fearfulness he can't make a noise. Here it is mentioned that the intended meaning of the word 'mañca' means 'mañcastha puruṣa, that's why the objection is baseless.

In this way, Śaṅkara miśra in his text 'vādi-vinoda' has dealt detailed account of 'chala'. Thereafter, the author has suggested the appropriate way to deal these types of awkward situations. In this regard, author has presented a very popular example and suggests the way to counter it -

'nava-kambalo-ayaṃ māṇavakaḥ'

In this example

The speaker says - this boy is possessed of a new blanket.

A quibble replies - this boy is not certainly 'nava-kambala' (possessed of nine blankets) for has only one blanket.

Here Śaṇkara - miśra says, if the opponent uses the quibble this way, then the proponent has to invoke *'niranuyojyānayoga' nigrahasthāna* which is finding fault with what is faultless.

Finally we can conclude this topic by quoting the lines of E.A. Solomon ''The logical significance of treating 'chala' lies in the warning regarding such change of meaning and implications in a debate or discussion.''[14]

Research Scholar(Ph.d),
Department of Sankrit,
University of Delhi.

BIBLIOGRAPHY

Primary text

1. Nyāya-Darśanaṃ Gautama, with vātsyāyana's Bhāṣya Uddyotakar's vārttika, vācaspati Miśra's Tātparyatīkā and viśvanātha's Vṛtti, Munsi Ram Manoharlal Pub., Delhi, 2003.
2. Vādi-vinoda Śaṅkara Miśra, Edited by Vishwambharnath Giri Rāśtriya Saṃskrit Saṇsthān, 1995.

Secondary Text

1. Solomon, E.A. Indian Dialectics, vol. I, B.J. Institute of Learning

and Research, Gujrat Vidya Sabha, Ahmedabad 1976.

Historical Books

1. Vidyābhuṣana, S.C. A history of Indian Logic, Ancient, Medieval and Modern Schools, M.L.B.D., Delhi, 2002.

References

1. Vādi-vinoda (v.v.), pg. 1.
2. 'कथा च वाद-जल्प-वितण्डा भेदान त्रिविधा। (vv) Ist Ul. pg.4
3. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताऽवयवतर्क-निर्णयवादजल्प वितण्डाहेत्वा भासच्छल जातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसधिागमः। (N.S. 1.1.1)
4. N.S. 1.2.10
5. V.V. - Ist Ul. pg. 78
6. सददूज़णापरिस्फूर्तौ विजिगुज़यास्य प्रयोगे बुद्धिपूर्वकः। क्वचित्तात्पर्य-भ्रमादस्य पातः।' (v.v. 1st Ul.pg. 77).
7. तत त्रिविधम्-वाक्छलं सामाव्यच्छलमुपचारच्छलं चेति। (N.S. 1.2.11)
8. Ibid, 1.2.12
9. V.V. Ist. Ul. pg. 78
10. N.S. 1.2.13
11. V.V. Ist Ul. p. 81
12. N.S. - 1.2.14.
13. v.v. Ist Ul. pg. 83
14. Indian Dialectics vol. I, pg. 144.

डॉ. ओम मिश्रा

पं. दीनदयाल उपाध्याय का हिन्दी साहित्य में योगदान 'सम्राट चन्द्रगुप्त' उपन्यास के पात्र एवं चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत उपन्यास में निम्न पात्र पाए जाते है नायक तथा उसके अन्य सहायक और अन्य पात्र उपन्यास का नायक चाणक्य है चंद्रगुप्त है या यह निर्णय करना बहुत ही कठिन है। वैसे भारत के उत्थान में चाणक्य की भूमिका भी कम नहीं है मेरे अनुसार उपन्यास का नायक चाणक्य ही होना चाहिए। जैसा कि कई विद्वानों ने माना है क्योंकि चाणक्य ने ही चंद्रगुप्त को एक सुदृढ़ एवं सटीक रणनीति प्रदान की, मार्गदर्शन किया। जिस रास्ते से सफलता मिलनी थी। वही रास्ता चाणक्य ने चंद्रगुप्त को दिखाया उसी रास्ते पर चलते-चलते राजा चाणक्य राजा बन गया। और सफलता प्राप्त कर सका तथा भारत का उत्थान कर सका। हालांकि चाणक्य भी नायकोचित प्रतीत होता है वह किंग मेकर है उसे राजा बनाने की कला मालूम है राजा बनने वाले के गुणों की पहचान वह कर लेता है। उसमें परखने की कला है तभी वह चन्द्रगुप्त को पहचान कर उसमें राजा बनने के गुण परा लता हैं उसका पल-पल मार्गदर्शन भी करता है तभी चन्द्रगुप्त सफल राजा बन पाता है। अत: मुख्य कार्य तो चाणक्य की करता है भात को ऐसे ही नायक की जरूरत है। जो नवयुवकों को जागरूक कर सके तथा राष्ट्र के लिए रणवाँकुरों का तैया कर सके जो संस्कार युक्त राष्ट्र के निर्माण में पूर्ण सहायक सिद्ध हो सके।

चंद्रगुप्त एक महान राजा है उसने राजा के सारे गुण विद्यमान है। चंद्रगुप्त मौर्य एक साधारण सैनिक था। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर भारतीय युवक प्रेरणा ग्रहण कर सकते है। इसलिए पं. दीनदयाल उपाध्याय ने सम्राट चंद्रगुप्त को उपन्यास का नायक बनाया।

दीनदयाल उपाध्याय ने चंद्रगुप्त के वैयक्तित्व को विलक्षण बुद्धि वाला अध्यवसायी अवसर का पारखी, वीर, साहसी और सफलतम व्यक्ति के रूप में निरूपित किया है।

चंद्रगुप्त मौर्य को पं. दीनदयाल उपाध्याय ने एक अत्यंत वीर साहसी और निर्भीक एवं स्वतंत्र प्रकृति नवयुवक के रूप में चित्रित किया है जो निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है–''सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य उन कतिपय इतिहास निर्माताओं में से हैं, जिनको पग-पग पर सफलता ने वरण किया। इसका श्रेय जहाँ उनकी तीव्र लगन एवं अनवरत अधयवसाय को है, वहाँ उनकी उस विलक्षण बुद्धि को भी है, जिसके कारण उन्होंने अपने हाथ से किसी भी अवसर को नहीं जाने दिया। शिकारी की भांति वे उचित अवसर की ताक में रहे तथा अवसर आने पर अपनी संपूर्ण शक्ति से सर्वस्व की बाजी लगाने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं की। कूटनीति के समस्त दाँव-पेंच अपने गुरु एवं सहायक आर्य चाणक्य से उन्होंने व्यावहारिक रूप में सीखे थे।''[1]

वे अत्यंत वीर एवं साहसी थे। उन्होंने सदैव अपनी सेना के आगे रहकर युद्ध किया, विपत्तियों में स्वयं सबसे पहले कूदे और फिर अपने सहायक देशभक्तों को आहान किया। अपने साहस एवं वीरता के कारण ही वे प्रथम तो आलिक्सुंदर के विरुद्ध विद्रोह करके और फिर सेलेउक् पर विजय पाकर पंजाब, सीमांत और पश्चिम भारत की समस्त वीर जातियों से सम्मान एवं श्रद्धा पा सके। उनकी

निर्भीक एवं स्वतंत्र प्रकृति का पता तो उस घटना से ही लग जाता है, जिसमें वे अलिक्सुंदर से मिले और उसे काफी जली-कटी सुनाई। इतने निर्भीक एवं स्पष्टवादी होने पर भी वे सदैव लोकप्रिय रहे। इसी लोकप्रियता के कारण मगध के सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही वे जनता के हृदय-सम्राट् बन चुके थे। अपने इसी गुण के कारण मालव, क्षुद्रक जैसे गणराज्यों के नागरिकों पर, जो कि प्रजातंत्री शासन के कारण अत्यंत स्वतंत्र मनोवृत्ति के थे, आधिपत्य जमा सके। उनकी लोकप्रियता तथा भारत के बड़े-बूढ़े सबके हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करने का कारण था उनकी निस्वार्थ देशभक्ति। यदि अपने ही लिए उन्होंने ये सब प्रयत्न किए होते तो शायद देश उनका इतना साथ न देता।

सम्राट् चंद्रगुप्त अपने काल के एक महान् विजेता भी थे परंतु अपनी विजय के दम में मत्त होकर उन्होंने शत्रु के प्रति कभी क्रूरता का बरताव नहीं किया। हिंदू संस्कृति की अमूल्य निधि सहिष्णुता को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। परंतु सहिष्णुता, दया और मैत्री के बड़े-बड़े शब्दों के मायाजाल में फँसाने वाले शत्रु की दाल भी उन्होंने नहीं गलने दी। विजय के पश्चात् न तो अलिक्सुंदर के समान उन्होंने विजित राजा का निर्दयतापूर्वक वध करवाया और न पर्वतक के समान विजयी होने पर भी विजित के चंगुल में फँसे। सेलेउक् को हराकर उससे उन्होंने सम्मानपूर्ण मैत्री की, परंतु अपने देश के हित और गौरव को भी आँच नहीं आने दी।

वे एक महान् विजेता ही नहीं, एक सुयोग्य शासक भी थे। साम्राज्य को दृढ एवं शक्तिशाली बनाने के लिए उन्होंने बहुत से कार्य किए। अपनी प्रजा एवं देशवासियों के हित में उन्होंने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। देश की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, बौद्धिक सर्वांगीण उन्नति के लिए सब प्रकार के कार्यों का भार मौर्य शासक ने अपने ऊपर ले रखा था। साम्राज्य की इतनी सुंदर व्यवस्था थी कि पाटलिपुत्र से संचालित सम्राट् की प्रत्येक आज्ञा का पालन आज के भारतीय साम्राज्य से दुगुने विस्तृत साम्राज्य के कोने-कोने में बिना किसी अपवाद के होता था।

सम्राट् चंद्रगुप्त स्वयं अत्यधिक परिश्रमी थे। जिस परिश्रम से उन्होंने साम्राज्य प्राप्त किया था, उसी प्रकार परिश्रम एवं दक्षतापूर्वक शासन के कर्तव्य का पालन किया। शासन के प्रत्येक विभाग का उनको ज्ञान था तथा समय-समय पर उनकी जाँच-पड़ताल भी करते रहते थे। न्यायालय में स्वयं जाकर बैठते थे तथा जनसाधारण की भी उनके पास तक पहुँच थी। निश्चय ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित आदर्श सम्राट् का चित्र उन्हीं के आधार पर बना है। आदर्श सम्राट् महाकुलीन, दैवबुद्धि, दीर्घदर्शी, धार्मिक, वीर, उत्साही, दृढ-निश्चयी एवं स्वार्थ-त्यागी होना चाहिए। उसका व्रत कर्तव्य के लिए सदा तैयार रहना है; उसका यज्ञ शासन संबंधी कार्यों को ठीक-ठीक करना हैय सब प्रजा को समान देखना उसका पुण्य है, प्रजा के सुख में उसका सुख, प्रजा के हित में उसका हित हैय उसको अपना नहीं किंतु प्रजा का हित ही प्रिय होना चाहिए। राष्ट्र की स्वतंत्रता और शक्ति के केंद्र सम्राट् चंद्रगुप्त निश्चय ही इस आदर्श के अनुयायी थे।

चंद्रगुप्त एक राष्ट्र प्रेमी योद्धा है भारत के गुलामी के बारे में सुनते ही वे भड़क उठता है–''चंद्रगुप्त का हाथ एकदम तलवार की मूँठ पर गया, मानो सामने ही यूनानी उनको गुलाम बनाने आ रहे हों, और वह उनसे लड़ने को उद्यत है। उसकी त्योरियाँ चढ़ गईं। ''भारतवर्ष गुलाम? नहीं, कभी नहीं!'' उसने सरोष पर दृढ़ता से कहा।''[2]

राष्ट्र की रक्षा के लिए एक कुशल नेता के चयन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है–''भैया चंद्रगुप्त हमारे महाराज होंगे।'' सब एकदम चिल्ला उठे। और दूसरे ही क्षण वह स्थान ''महाराज चंद्रगुप्त की जय!''[3] मगधेश चंद्रगुप्त की जय! के घोष से गूँज उठा। उस छोटे से दल ने एक ही क्षण में सैनिक चंद्रगुप्त को महाराज चंद्रगुप्त बना दिया। परंतु वे यह नहीं जानते थे कि चंद्रगुप्त को महाराज बनाना इतना सरल नहीं था। एकाएक अमात्य 'राक्षस' अपने चार सहचरों के साथ जब वहाँ आ धमका, तब उनको मालूम हुआ कि जयघोष के द्वारा अपने निश्चय की डौंड़ी पीटना उनके जीवन की सबसे बड़ी भूल हुई।''[4]

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य की विजयों, उनका साम्राज्य-निर्माण, उनकी सफल शासन- प्रणाली तथा प्रजाहित के कार्यों की दृष्टि से वे न केवल भारत के ही, वरन् संसार के सफल विजेताओं, राष्ट्र-निर्माताओं और शासकों में एक उच्चस्थान पाते हैं। इसीलिए उन्हें मुद्राराक्षस ने विष्णु का अवतार तक कहा है। जिस दृष्टिकोण से हमने अपने अन्य महापुरुषों

और राष्ट्र-निर्माताओं को विष्णु का अवतार माना है, उसी दृष्टि से देखा जाए तो मुद्राराक्षस का कथन किसी भी प्रकार से अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता।''[5]

चाणक्य एक उच्च कोटि का व्यक्ति है उसने राष्ट्र की रक्षा के लिए सारे प्रयत्न किए–''गुरु को प्रणाम करके शीलभद्र चला गया। आर्य चाणक्य के मन में आज विचारों का तूफान मचा हुआ था। भारत में एक विदेशी राजा का प्रवेश, और वह भी यहाँ के राजा से हारने के बाद। उनको मन-ही-मन क्षोभ एवं क्रोध हो रहा था पर्वतक की मूर्खता पर। शत्रु को तो मूल से उखाड़ फेंकना चाहिए यह नीति कहती है। उसका घर में घुसना, फिर चाहे वह अपने को कितना ही हितू क्यों न सिद्ध करे, हानिकारक ही है। खैर, अब पिछली भूल पर रोने से क्या लाभ, उन्होंने मन-ही-मन कहा, 'हाँ आगे का प्रबंध करना चाहिए।' उन्होंने निश्चय किया कि मगध जाकर वहाँ के जनमत एवं सेना को अलिक्सुंदर के विरुद्ध करेंगे ही, परंतु उसके जीते हुए प्रदेशों में भी विद्रोहाग्नि को भड़काकर उसे दोनों ओर से घेरकर पीस देंगे। इसी प्रकार की बहुत सी योजनाएँ उनके मस्तिष्क में घूमती रहीं। लगभग दोपहर होने पर शीलभद्र ने चंद्रगुप्त के साथ कुटी में प्रवेश किया। उसने देखा कि गुरु चाणक्य को वह जिस स्थिति में छोड़ गया था, उसी में अभी तक बैठे हैं तथा किसी गहन विचार में मग्न हैं। शीलभद्र और चंद्रगुप्त दोनों ने प्रणाम किया और बैठ गए। चंद्रगुप्त मन-ही-मन यह सोचने लगा कि इस काले-कलूटे ब्राह्मण ने जाने क्यों मुझे बुलवाया है। कहीं 'राक्षस' ने इसको मेरी खबर लाने तथा पकड़ लाने को तो नहीं भेजा है अथवा यवनों का कोई गुप्तचर तो नहीं है, यह विचार उसके मन में आते ही उसने अपनी तलवार की ओर देखा और फिर निश्चितता से बैठ गया। कितना अधिक था उसका आत्मविश्वास।''[6]

चाणक्य बहुत ही योजनाबद्ध तरीके से अपनी योजनाएँ बनाता है और अपनी सहपाठी अमात्य के साथ उसके राजा से मिलने तथा देश की रक्षा की योजना बनाता है–''दूसरे दिन प्रात काल ही अमात्य राक्षस तथा चाणक्य राजमहल के द्वार पर पहुँच गए। महाराज को सूचना भेजी गई। बड़ी देर बाद उत्तर आया कि बुला लाओ। दोनों अंदर गए। महाराज उस समय अपने प्रेमोद्यान में झूला झूल रहे थे। नर्तकियों का झुंड-का-झुंड उन्हें घेरे खड़ा था। मदिरा-पात्र पास ही रखा था। अमात्य को देखते ही महाराज कहने लगे, ''अमात्य, आप हमको व्यर्थ ही कष्ट देते हैं। आप ही क्यों नहीं सब काम कर लेते? ऐसा क्या बड़ा काम आ पड़ा? क्या होलिकोत्सव का अभी से प्रबंध करना है? ओहद्ध अरे (चाणक्य की ओर जरा तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखकर) यह ब्राह्मण कौन है? साक्षात् काल ही मालूम होता है।''[7]

आर्य चाणक्य इस अपमानपूर्ण वाक्य को सुनकर एकदम क्रोध से लाल हो गए। उनकी आँखों में खून उतरने लगा, परंतु अत्यंत सावधानी से उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपने क्रोध को दबाकर वही शांत-मुद्रा बनाए रखी। वे जानते थे कि इस समय यवनों को भारत से खदेड़ने के लिए मगध की सहायता चाहिए और उसके लिए राजाज्ञा प्राप्त करनी आवश्यक है। यह एक राष्ट्रकार्य है। राष्ट्रकार्य में इस प्रकार के मानापमान की चिंता नहीं की जाती। उनके स्वाभिमान को ठेस अवश्य लगी। परंतु उससे भी बढ़कर प्रश्न था राष्ट्र के स्वाभिमान का।

चाणक्य को नायकोचित्त कार्यों का निरूपण उपन्यास में पूर्णरूपेण मिल जाता है। चाणक्य, प्रधानमन्त्री के उस निर्देशक या सलाहकार की भांति है जो एक सफल राष्ट्र के संचालन में अपनी रणनीति विद्वता के कारण उचित राय प्रदान करता है।

चाणक्य एक शिक्षक के नायकत्व के गुणों से भरपूर है। एक शिक्षक कैसे राष्ट्र का निर्माण कर सकता है वह कैसे देश का कैस कर्णधार बन सकता है यह पूर्णत चाणक्य जैसे चरित्र से दृष्टव्य है। उपाध्याय जी ने चाणक्य का सृजन इतिहास के गहन अध्ययन के वाद किया। चाणक्य का एक-एक गुण राष्ट्र के प्रेम से पूर्ण है। भारतीय संस्कारों से पूर्ण है।

एक शिष्य की तलाश प्रत्येक गुरु की होती है चाहे व शैक्षिक क्षेत्र में हो या अन्य क्षेत्र जैसे राज काज या राजनीति। इन सभी क्षेत्रों में अपने प्रवर्तक की सतत् आवश्यकता होती है। वह था चन्द्रगुप्त चाणक्य ने सभी राजाओं को एक-एक कर देश छोड़ने को मजबूर कर दिया। आचार्य चाणक्य की बुद्धिमता से देश को एक व्यवस्थित चक्रव्यूह बनाकर ही विदेशी आक्रान्ताओं से बचाया गया। आज भी चाणक्य जैसे विचारों से ही, रणनीति से ही देश को विकास की सीढ़ी पर अग्रसर

किया जा सकता है।

चाणक्य और चंद्रगुप्त के अलावा अन्य पात्र भी है इस उपन्यास में जो उसको प्रभावी बनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है। उन सहायक पात्रों को योगदान को नकारा नहीं जा सकता। उनके बिना उपन्यास अधूरा है।

चाणक्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य सम्पूर्ण भारत का अभ्युदय करना था।

अमात्य भी एक प्रभावी पात्र है। उसका नाम कात्यायन भी है। उसका उपनाम आमात्य 'राक्षस' भी है। वह ब्राह्मण तथा एक विद्वान पुरुष है। वह नीति शास्त्र का ज्ञानी है नंद के राज्य को बड़ी कुशलता से सभालकर चला रहा है। वह स्वामी भक्त एवं राजभक्त भी है।

''हाँ आर्य अमात्य राक्षस तो हैं, परंतु वे तो इतने स्वामिभक्त हैं कि बिना नंद की आज्ञा के कछ करेंगे ही नहीं, और नंद आज्ञा देगा नहीं।'' चंद्रगुप्त ने बतलाया।

''फिर भी जाना हो चाहिए ही। 'राक्षस' मेरा सहपाठी है। देशभक्त भी है। अवश्य ही वे मेरा कहना मानेगा।''[8]

अमात्य 'राक्षस' को तक्षशिला के उस ब्राह्मण के आगमन की सूचना दी गई। अमात्य ने एकदम उनको अंदर बुलवायाय देखते ही दोनों का पिछला प्रेम उमड़ आया। राक्षस ने दौड़कर चाणक्य को बाहुपाश से जकड़ लिया। दोनों बड़े प्रेम से मिले। परंतु चाणक्य तो अपनी बात कहने के लिए अधीर हो रहे थे। ''कुछ देश की भी खबर है, अमात्य राक्षस?''[9] चाणक्य ने पूछा।

''उसके लिए मगध की सेना तैयार है। मगध की प्राणपण से रक्षा की जाएगी।'' परंतु कब? कब वह कुसुमपुर को आकर घेर लेगा? आज पंचनद के छोटे राज्यों की रक्षा भी-मगध की ही रक्षा है, और फिर देश से यवनों को बाहर करने का कार्य भी तो मगध का ही है!''[10]

उपन्यास में नंद का चरित्र भी उच्च कोटि का है वह महापद्म नंदों के सतत पल्लवित राज्य का राजा था। इसके राज्य में चारों तरफ कला कौशल व्यापार का बोलबाला था। वह राजा नंद 10 पदम् रुपयों का मालिक था।

मंत्री की इतनी योग्यता होते हुए भी राजा के राजकाज में ध्यान न देने के कारण राज्य में चारों ओर गड़बड़ मच गई। प्रजा दु:खी रहने लगी। प्रजारंजन के कारण ही राजा का राजा नाम पड़ा है। राजा धनानंद तो प्रजारंजन के स्थान पर अपना ही मनोरंजन करता था। भगवान् राम ने राजा का जो आदर्श रखा था तथा जिसको सभी भारतीय नरेश और राजा धनानंद के पूर्वज पालन करते आए थे, उसको वह भूल गया। राम का आदर्श था-लोकाराधन, न कि लोकशासन। हाँ इस प्रकार प्रजा की सेवा करने वाले राजा राम को प्रजा ने अपना स्वामी माना था, उनकी भक्ति करना अपना सौभाग्य समझा। राजा धनानंद ही जब प्रजा के लिए अच्छी भावना नहीं रखता था तो प्रजा में भी स्वभावत: उसके प्रति निष्ठा रखने वालों की कमी हो गई। उनके दु खों को कोई भी सुनने वाला नहीं था। राजा धनानंद तक न तो किसी की पहुँच थी और न उसको इतना अवकाश ही था कि वह अपना राग-रंग छोड़कर दु ख और दर्द की कहानियाँ सुने। इससे पूर्व नंदों के शासन-काल में प्रजा जिन अधिकारों का उपभोग कर चुकी थी उनका अपहरण उसको खलने लगा। वह तो सुख, शांति और सम्मानपूर्ण जीवन बिताने की आदी थी, परंतु नंद-राज्य के दिन उसको दूभर होते जा रहे थे। अपने चारों ओर नंद के विलासपूर्ण कृत्यों को देखकर प्रजा की नैतिक भावना को ठेस लगती थी और उसके अत्याचार देखकर उसकी आत्मा विक्षुब्ध हो उठती थी। आत्मसम्मान की रक्षा करने वाले और उसको मिटाने वालों में स्वाभाविक ही संघर्ष छिड़ गया। जगह-जगह आकाश की ओर उठने वाले धुएँ ने बताया कि अंदर आग सुलग रही है। लोगों ने इसी धूम्रपुंज में उठते हुए एक भव्य मूर्ति को देखा। यही है हमारा शासक चंद्रगुप्त मौर्य।

शीलभ्रद नामक व्यक्ति भी एक महत्वपूर्ण पात्र है-''आर्य चाणक्य की आँखों में एकदम उत्सुकता की चमक आ गई। ''वत्सद्ध एक बार उसको मुझसे मिला दो। अवश्य ही वह हमारे लिए उपयोगी होगा।'' आर्य चाणक्य ने कहा।

''आर्य! अभी जाता हूँ वह यहीं-कहीं लोगों से बातचीत कर रहा होगा। उसमें कुछ ऐसा जादू है कि जिससे एक बार बात करता है, उसे अपनी ओर खींच लेता है।''[11] शीलभद्र ने कहा।

''निस्वार्थ देशप्रेम ही वह जादू है, शीलभद्रद्ध अच्छा, लाओ तो उस जादूगर को। देखूँ तो कैसा जादू है उसका!''[12]

आर्य चाणक्य ने कहा।

उपन्यास का एक अन्य पात्र भी बहुत महत्वपूर्ण है एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला है। राजा का मंत्री कात्यायन बहुत ही योग्य था। उसका नाम अमात्य (राक्षस) है।

सह–आचार्य
भीमराव अंबेडकर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाड्मय, खंड-एक, संपादक डॉ. महेश चन्द्र शर्मा–एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान, प्रभात प्रकाशन-2016, दिल्ली।
2. वही
3. वही
4. वही
5. वही
6. वही
7. वही
8. वही
9. वही
10. वही
11. वही
12. वही

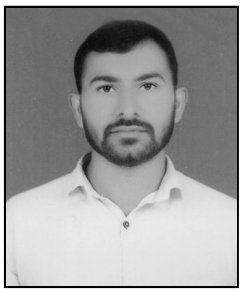

महेश कुमार किलानियाँ

भारतीय राष्ट्रवाद : बंधुता, मानव की गरिमा एवं राष्ट्र की एकता और अखंडता को आत्मसात करने की ओर अनवरत प्रयास

Indian Nationalism : Strive towards Embrace Fraternity, Human dignity and Nation's Unity & Integrity

शोध सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोधपत्र में विभिन्न ऐतिहासिक एवं समसामयिक स्रोतों के समीक्षात्मक अध्ययन एवं समझ के आधार पर यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है, कि राष्ट्रवाद एक Intergrative Force है।

नाजी अत्याचारों एवं जनसंहार के वीभत्स दृश्यों से आहत 20वीं सदी के महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंसटीन ने राष्ट्रवाद के बारे में कहा था–"Nationalism is the Measles For Humanity". लेकिन यह राष्ट्रवाद न होकर उस युग की सभ्यतागत विकृति का उदाहरण है।

समावेशी एवं संवेदनशील राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति तो गांधी, अम्बेडकर, नेल्सन मंडेला, मार्टिन लूथर, किंग जूनियर आदि के रचनात्मक विचारों एवं कार्यों में अभिव्यक्त होती है।

कुँजी शब्द (Key Words)

1. बंधुता (Fraternity)
2. मानवता (Humanity)
3. संवेदना एवं संसंजकता (Compassion of Cohesion)
4. अन्तर्निर्भरता (Inter-dependency)
5. राष्ट्र की एकता और अखडता (Nation's Unity & Integrity)

i. राष्ट्रवाद की संकल्पना (Concept of Nationalism)

ii राष्ट्र (Nation)

iii भारतीय राष्ट्रवाद की विशिष्टता (Uniqeness of Indian Nationalism)

iv. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरक विरासत : हमारी पीढ़ी का जिम्मेदारी एवं जवाबदेही (Inspiring Legacy / Heritage of Indian Nationalism : Our Generation's Responsibility & Accountability)

v. विश्व के अन्य भागों में राष्ट्रवाद की समावेशी प्रक्रिया के उत्प्रेरक (Catalyst for the process of Inclusive Nationalism Across the Globle)

राष्ट्रवाद की संकल्पना (Concept of Nationalism)

राष्ट्रवाद एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में आधुनिक अवधारणा है, जो पुनर्जागरण एवं प्रबोधन की उपज है।

राष्ट्रवाद एक Integrative Force है, जो साम्प्रदायिकता की तरह तोड़ने के बजाय लोगों को जोड़ती है।

राष्ट्रवाद लोगों का मनोभाव है, कि हम एक हैं, जो उनकी साझा संस्कृति, इतिहास एवं भाषा आदि आधारों पर आधारित है।

यूरोप में उभरी यह विचारधारा मानव मस्तिष्क को प्रभावित (Strike) करने वाली सबसे प्रभावी विचारधारा रही हैं। यूरोप में इसी राष्ट्रवादी गुप्त उष्मा (latent heat) के कारण जहाँ कई साम्राज्यों के खंडहरों पर आधुनिक राष्ट्र-राज्यों का निर्माण हुआ, वहीं इसी राष्ट्रवाद ने विभिन्न इकाईयों में बिखरे, भौगोलिक अभिव्यक्ति तक समेट दिए गये क्षेत्रों को एकीकृत कर राष्ट्र-राज्यों की नींव रखी।

आस्ट्रिया, हंगरी तथा ऑटोमन साम्राज्य के विघटन से कई राज्यों का उद्भव तथा इटली एवं जर्मनी जैसे राज्यों का विभिन्न इकाईयों के बीच एकीकरण के माध्यम से

उभरना इसके उदाहरण हैं।

यूरोप में राष्ट्रवाद ने आरोपित राजतंत्रों को समाप्त कर जहाँ जन इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप आधुनिक यूरोप के राजनीतिक मानचित्र का निर्माण किया, लेकिन इस राष्ट्र की सबसे बड़ी सीमा रही कि इसका आधार समावेशी, समन्वित संस्कृति न होकर एक भाषा या नृजाति होने के कारण कई प्रकार की समस्यायें उभर कर आयीं, जो मानव की गरिमा को आघातित करने वाली थीं।

एक भाषा या एक नृजाति के आधार पर राष्ट्रवाद के उभार ने अन्य अल्पसंख्यक भाषाओं एवं नृजातियों को बहिष्कृत कर उन्हें शरणार्थी बनने पर विवश कर दिया गया।

शरणार्थी की दुर्दशा की इससे बेहतर अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, कि एक निर्धन के सिर पर छत नहीं होती है, लेकिन शरणार्थी के सिर पर छत ही नहीं, उसके पैरों के नीचे जमीन भी नहीं होती। इसके उदाहरण के लिए विश्व इतिहास के पृष्ठों को पलटने की जरूरत नहीं है, आज म्यांमार में उत्पीड़न से तबाह रोहिंग्या शरणार्थियों को बांग्लादेश ने शरण तो दी है, लेकिन अब उन्हें बंगाल की खाड़ी में एक ऐसे द्वीप पर उसकी इच्छा के विपरीत बसाने की प्रक्रिया चल रही है जो मानसून के समय बाढ़/जल प्लावन के प्रति अति सुभेद्य हैं।

राष्ट्रवाद की इस बहिष्करण आधारित संकीर्ण संकल्पना के कारण विविध प्रकृति की विविधताओं के बीच अलगाव एवं विभाजन को प्रोत्साहन मिला, जहाँ वर्षों तक खून-खराबे के पश्चात कई देशों का विभाजन हो गया, वहीं कई देश आज भी सिविल वॉर, जनसंहार के वीभत्स काल खंड से गुजर रहे हैं।

ऑटोमन साम्राज्य ने बिखरने से पहले जहाँ आर्मेनिया में भयावह जनसंहार किया, वहीं अफ्रीका में 20वीं सदी के अंतिम दशक में कई अल्पसंख्यक नृजातियों के Cleasing के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

उदाहरण - 1994 में रवांडा में हुतु नेतृत्व वाली सरकार के हाथों तुत्सी जनजाति का जनसंहार तथा इसी प्रकार यूरोप में नाजी अत्याचारों एवं बर्बरता के कारण लाखों यहूदियों की निर्मम हत्या मानव इतिहास एवं चेतना पर एक कलंक है।

ऐसे ही वीभत्स, क्रूर उत्पीड़नों को देखकर अल्बर्ट आइंसटीन ने कहा था कि "Nationalism is the Measles For Humanity".

आज भी पश्चिम एशिया, उत्तरी अफ्रीका में राजनीतिक अस्थिरता, यूरोप एवं अमेरिका में इमीग्रेशन के प्रति आशंका, लेटिन अमेरिका में वहाँ के स्थानीय लोगों के बीच से उभरे नेतृत्व के विरुद्ध सैन्य तख्ता पलट के षड्यंत्र तथा एशिया के अन्य भागों में साम्प्रदायिक हिंसा को कहीं ना कहीं ऐसी बहिष्करण पर आधारित विभाजनकारी ताकतें ही ईंधन प्रदान कर रही हैं।

21वीं सदी के इस नवाचार युग के सामने आज सबसे भयावह चुनौती के रूप में आतंकवाद की चुनौती भी ऐसे ही आधार से समर्थन पा रही हैं।

ध्यातव्य है, कि इन सब चुनौतियों का कारण राष्ट्रवाद प्रतीत हो सकता है, लेकिन सहीं अर्थों में यह राष्ट्रवाद न होकर उसमें आयी विकृतियों की ही अभिव्यक्ति है।

राष्ट्र : Nation

लोगों का एक राजनीतिक समुदाय है जो राष्ट्रवाद पर आधारित है।

राष्ट्र की अवधारणा को परिभाषित करने के क्रम विभिन्न विचारकों, इतिहासकारों के विभिन्न मत रहे हैं।

1. राष्ट्र कोई मूर्त अभिव्यक्ति न होकर लोगों के मनोभावों में रोपित (Inculcate) की गयी एक परिकल्पित अवधारणा है। बेनेडिक्ट एंडरसन ने 1933 में अपनी पुस्तक 'Imagined Community' इसी विचार को स्थापित करने का प्रयास किया है।

राष्ट्र, राष्ट्रवाद की मूर्त अभिव्यक्ति है, जिसकी अभिव्यक्ति बहुआयामी है, (1) *भौतिक*-एक निश्चित भौगालिक क्षेत्र, इस आधार पर जन इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर निर्धारित राजनीतिक सीमायें।

(2) *सांस्कृतिक*-एक साझा सांस्कृतिक विरासत, उदाहरण के रूप में एक भाषा, नृजाति, साझा इतिहास एवं एक ही शक्ति की उपज आदि।

पश्चिमी राष्ट्र-राज्य का संस्करण इसी प्रकार का रहा है लेकिन इससे भी विकृत राष्ट्र का संस्करण रहा है, साम्प्रदायिक आधार पर भारत से पृथक होकर अस्तित्व में आयें इस्लामिक रिपब्लिक ऑफ पाकिस्तान का संस्करण, जिसकी आयु बहुत की कम रही, क्योंकि आरोपण के आधार पर राष्ट्र बनते नहीं हैं, बिखरते हैं।

उदाहरण-पश्चिमी राष्ट्र-राज्य के बहिष्करण आधारित संस्करण के उन्माद में पश्चिमी पाकिस्तान ने जब तत्कालीन

पूर्वी पाकिस्तान पर, उनकी भाषायी एवं सांस्कृतिक विरासत के प्रति संवेदनहीन होकर उन पर उर्दू भाषा को थोपने का प्रयास किया और आरोपण की प्रक्रिया में किए गए उत्पीड़नों के प्रतिरोध के क्रम में पाकिस्तान से टूटकर एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में बांग्लादेश का जन्म हुआ।

इसी प्रकार श्रीलंका में अल्पसंख्यक तमिलों पर सिंहली भाषा एवं संस्कृति को आरोपित करने का प्रयास किया गया तो इस द्वीपीय राष्ट्र ने न केवल वर्षों तक सिविल वॉर झेला बल्कि आज भी Reconciliation के अभाव में विभिन्न समूहों के बीच अविश्वास इस देश की संभावनाओं के साकारीकरण में सबसे बड़ी बाधा है।

बहिष्करण पर आधारित राष्ट्र-राज्य की यूरोपिय संकल्पना को ही एकमात्र विकल्प माने वाले विचारकों के लिए भारत का एक राष्ट्र-राज्य के रूप उभरना एक आधारहीन, निरर्थक विचार था। उनके विचारों में भारत विभिन्न जातियों, नृजातियों, भाषाओं एवं धार्मिक सम्प्रदायों का बेमेल समुच्चय था, अर्थात भारत न तो एक राष्ट्र है, और न ही एक राष्ट्र-राज्य के रूप में उभर सकता है। उदाहरण के लिए जॉन स्ट्रैची आदि।

इसी प्रकार भारतीय आंदोलन द्वारा राष्ट्रवाद की चेतना के प्रसार एवं ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के शोषण, नस्लभेद एवं दमन के विरुद्ध उठी दुर्जेय प्रतिरोध की भावना के आगे विवश होकर जब ब्रिटिश सत्ता ने भारत के आत्मनिर्णयन के अधिकार को स्वीकार किया, तब भी चर्चिल जैसे रूढ़िवादियों का यही विचार था कि भारत स्वतंत्र होते ही विभिन्न समूहों के बीच संघर्ष, रक्तपात के कारण विभिन्न इकाईयों में बिखर जायेगा, और भारत को विवश होकर एक बार फिर ब्रिटिश अधिकारियों और जर्मन सैनिकों से अपनी सुरक्षा के लिए अनुनय करना पड़ेगा।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की समावेशी प्रकृति जिसकी अभिव्यक्ति भारतीय संविधान के आधारिक ढांचे (Basic stracture)-पंथनिरपेक्षता, जो धार्मिक-सांस्कृतिक समता (अनुच्छेद 25-30), बल्कि भाषायी पंथनिरपेक्षता अर्थात 8वीं अनुसूची में 22 भाषाओं को सहेज कर तथा अनुसूचित जातियों, जनजातियों को, विधायिका एवं कार्यपालिका (राजनीतिक एवं प्रशासनिक दोनों) प्रतिनिधित्व/भूमिका प्रदान कर लोकतंत्र को धरातल पर समग्रता प्रदान करते हुए विविध प्रकृति की विविधताओं के बीच समरसता एवं समायोजन को सहेजते हुए एक नवाचारी राष्ट्र-राज्य की संकल्पना प्रस्तुत कर विश्व को एक नवीन विकल्प प्रदान कर संघर्षों एवं civil war ridden देशों को Reconciliation and Nation Building की प्रेरक प्रेरणा दी। आज बड़े गर्व से यह कहा जा सकता है, कि यदि ब्रिटेन भारत के इस समावेशी राष्ट्रवादी संस्करण को आत्मसात कर इसे धरातल पर उतारने का प्रयास करे तो शायद 'BREXIT' जैसी समस्या ना उभरे, और यूरोप का एक United States of Europe के रूप में उभरने का स्वप्न शीघ्र साकार हो जाये और Ever-lasting भी।

जर्मनी उग्र एवं विकृत राष्ट्रवाद के दुष्परिणाम झेलकर, समोवशन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की दिशा में प्रयासरत है, जिसका परिणाम 9 नवंबर 1989 को बर्लिन की विभाजक दीवार के टूटने एवं पूर्वी एवं पश्चिमी जर्मनी के एकीकरण तथा यूरोपिय एकीकरण में जर्मनी की निर्णायक भूमिका को देखा जा सकता है। जिस जर्मनी ने नाजी हिटलर के विकृत दौर में जहाँ लाखों यहूदियों का जनसंहार देखा आज वही जर्मनी civil war-ridden Middle-East के शरणार्थियों को शरण दे रहा है; तो यह समावेश राष्ट्रवाद एवं मानवता का ही उदाहरण है, जिसकी प्रेरणा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एवं स्वतंत्र भारत के समावेशी चरित्र से ग्रहण की जा सकती है।

आज यूरोप ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व को भारतीय संस्कृति की समावेशी एवं सुलह आधारित विरासत से प्रेरित होकर विश्व के अस्तित्व पर भयावह खतरे के रूप में उपस्थित अतिवाद, आतंकवाद, जलवायु परिवर्तन को सामूहिक रूप से संबोधित करते हुए मानवता एवं इस गृह पृथ्वी के लिए बेहतरी सुनिश्चित करनी चाहिए।

4. भारतीय राष्ट्रवाद की विशिष्टता (Uniqueness of Indian Nationalism)

भारतीय राष्ट्रवाद की संकल्पना एक समावेशी राष्ट्रवाद की संकल्पना है। समावेशन, भारतीय संस्कृति की सबसे समृद्ध एवं जीवंत विरासत है, जो आज भी वैश्वीकरण के इस दौर में एकीकृत एवं अन्तर्निर्भर हो रहे वैश्विक समाज के लिए एक आदर्श प्रेरणा-स्रोत है।

भारत में उदार चिंतन एवं इसकी अभिव्यक्ति के प्रति आरंभ से ही सम्मान का भाव रहा है।

मानव की प्रथम उदार अभिव्यक्ति-वैदिक संहिता में उदार चिंतन एवं विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से परस्पर अन्त:क्रिया एवं संश्लेषण की प्रक्रिया के उदाहरण मिलते हैं।

उदाहरण के लिए अथर्ववेद में व्रात्यस्तोप यज्ञ के अनुष्ठान का उद्देश्य आर्य-अनार्य समायोजन को प्रोत्साहित करना था।

रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों को सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में अनूदित किया गया एवं शिल्पादिकरम, मणिमेखलै एवं तिरूकुरल के प्रति सम्पूर्ण भारतवर्ष में आदर का भाव आज भी सम्पूर्ण विश्व के लिए अनुकरणीय है।

भारत में राष्ट्र के बीज तत्व प्राचीन काल की जम्बूद्वीप की संकल्पना, चक्रवर्ती सम्राट की अवधारणा, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' एवं कालिदास के 'मेघदूतम्' आदि में विभिन्न वृतांतों के माध्यम से प्रकट होते हैं। उदाहरण-कालिदास के मेघदूतम् में पत्नी वियोग से तड़प रहे अभिशापित यक्षराज के संदेश को पहुँचाने वाला बादल कश्मीर से कन्याकुमारी तक की भौगोलिक सांस्कृतिक विशिष्टताओं को बखूबी बखान करता है।

इसी प्रकार मध्यकालीन युग में भक्ति की धारा ने रामानुज, नरसी मेहता, मीराबाई, गुरुनानक देव, कबीर, लालद्देद एवं शंकरदेव के माध्यम से अखिल भारतीय अभिव्यक्ति पायी वहीं शंकर ने चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना कर भारत को सांस्कृतिक एकता प्रदान करने का प्रयास किया।

भारत में अशोक के धम्म, अकबर के सुलह-ए-कुल, दाराशिकोह की समावेशी सांस्कृतिक चेतना एवं गांधी के सर्वोदय ने राष्ट्र की पश्चिमी संकल्पना से विशिष्ट राष्ट्र के एक समावेशी भारतीय संस्करण की नींव को आधुनिक सन्दर्भ में और अधिक सुदृढ़ता प्रदान की।

भारत की विविधतामयी लेकिन सामासिक चरित्र वाली संस्कृति की अभिव्यक्ति औपनिवेशिक काल के उत्पीड़नों एवं शोषण के विरुद्ध भारतीय प्रतिरोध के एक व्यापक या यूँ कहें, कि भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में मिली।

1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की ऊर्जा हिन्दू-मुस्लिम एकता में निहित थी, सैनिक तथा जनता हो, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उल्लेखनीय सहयोग देखा गया।

बहादुर शाह को विद्रोहियों द्वारा अपना सम्राट स्वीकार करना तथा सम्राट द्वारा गौवध पर रोक लगवाना परस्पर संवेदनशीलता का ही परिचायक है।

इसी एकता के सन्दर्भ में बहुत ही कड़वे मन से एक वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारी हचिंशन ने कहा था, ''इस मामले में हम मुसलमानों को हिंदुओं से नहीं लड़ा सकते।''[1] इस्लाम में आधुनिकता के बीज बोने वाले सर सैय्यद अहमद खान के विचार ''क्या आप एक ही देश में नहीं रहते? क्या एक ही जमीन पर आपका अंतिम संस्कार नहीं होता? याद रखिए हिन्दू और मुसलमान शब्द सिर्फ धार्मिक अंतर लाते हैं। अन्यथा सभी लोग चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान यहाँ तक की ईसाई भी इस मामले में एक ही राष्ट्र के लोग हैं।''[2]

ये विचार भारत की सहस्त्रों वर्ष प्राचीन संस्कृति के अनुरूप थे लेकिन ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने अपने शोषणात्मक ढांचे के अस्तित्व को ऐसे विचारों से जर्जरित हो जाने की आशंका में भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया।

साम्प्रदायिकता को लोकतंत्र की जड़ों तक संस्थागत करने के लिए 1909 के परिषद अधिनियम में जहाँ मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडलों की स्थापना की गयी। वहीं 1919 एवं 1935 के अधिनियमों के माध्यम से अन्य समुदायों को भी पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान कर विभाजन की वह विषैली फसल बोयी गयी जिसका परिणाम भारत के विभाजन के रूप में हुआ। इस विभाजन के कारण जो सांस्कृतिक संघर्ष एवं भावात्मक विघटन हुआ, उसका प्रभाव आज भी भारतीय उपमहाद्वीप में आर्थिक एकीकरण में तथा सांस्कृतिक अन्त:क्रिया में सबसे बड़ी बाधा है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने जिस नवीन समावेशी संस्कृति का सृजन किया तथा एक भावी राष्ट्र की नींव रखी, उसके विचारों की अभिव्यक्ति हमारे राष्ट्रपिता गांधी ने इस शब्दों में की है– "I want the Freedom of my Country so that other countries may learn somthing from my free country, so that the resources of my country may be utilized for the benifit of mankind.

Just as the cult of patriotism teaches us today that the individual has to die for the family, the family has to die for the village, the village for the district,

the district for the province and the province for the country, even so country has to free in order that it may die, if necessary, for the benifit of the world. My love therefore, of nationalism or my idea of nationalism is that my country may become free, that if need be the whole country may die, so that the human race may live. There is no room for race, hatred there, let that be our nationalism." [3]

भारतीय संविधान के शिल्पी डॉ. अम्बेडकर ने जहाँ एक ओर न केवल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को केवल एक राजनीतिक आंदोलन के बजाय उसे एक समग्र एवं समोवशी रूपांतरणकारी ताकत के रूप में परिणत करने में निर्णायक भूमिका अदा की, वहीं राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद पर अपने विचार रखे-

"He decribes Nationality as a consciousness of kind, awareness of the existense of that tie of kinship and Nationalism as the desire for a separate Nation/ existence for those who are bound by this tie of Kinship."

"Ambedkar has immence fatith in the bright future and evolution of this country, his ultimate goal was to unite the people eliminating discrimination and promoting Fratenity & kinship."

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के विचार आधुनिक भारत के उद्देश्यों को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं-"Freedom implies not only emancipation from Political Bondage but also equal distribution of wealth and destruction of communalism and religious intolerance."

भारतीय राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक पिता स्वामी विवेकानंद के विचार राष्ट्र की समावेशी प्रकृति के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। "So long as the millions live in-hunger and ingnoance, I hold every man a traitor who having been educated at their expense but pay not the least heed to them."

शहीद-ए-आजम भगत सिंह के लिए स्वतंत्रता एवं नवीन राष्ट्र का स्वरूप मानव की अन्तरनिहित संभावनाओं के साकारीकरण के लिए समग्र स्वतंत्रता के विचारों पर आधारित था "...By Freedom I mean allround Freedom that is Freedom for the Individual as well as for society, Freedom For the rich as well as for the poor, Freedom for men as well as for women. Freedom for all invididual and for all classes. This freedom implies not only emancipation from political bondage but also equal distribution of wealth abolition of caste barrier and social inequities and destruction of communalism and religious intolerance. This is an ideal which may appear utopian but this ideal alone can appease the hunger in the soul."[4]

भारत का राष्ट्रवाद न तो बहिष्करण पर आधारित है और न ही अन्य राष्ट्र के प्रति शत्रुता के भाव से प्रेरित है।

सच्चे अर्थों में भारतीय राष्ट्रवाद जहाँ राष्ट्र के भीतर विविध प्रकृति की विविधताओं को स्वीकार करते हुए प्रत्येक के प्रति आदर के भाव से प्रेरित हैं, वहीं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में इसकी अभिव्यक्ति पंचशील के माध्यम से हुयी अर्थात शांतिपूर्ण सह अस्तित्व, रचनात्मक अन्त:क्रिया के माध्यम से शांति एवं सुरक्षा की सामूहिक स्थापना और मानवता के हितों को प्रोत्साहन। वसुधैव कुटुमब्कम का भारतीय विचार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के मूलभाव को उद्घाटित करता है।

(iv) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरक विरासत : हमारी पीढ़ी की जिम्मेदारी एवं जबावदेही। (Inspiring heritage of Indian National Movement : Our Generation's responsibility & Accountabilty

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने सहस्त्रों वर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृति के रचनात्मक, प्रगतिशील तत्वों एवं पश्चिम के आधुनिक तत्वों अर्थात् अध्यात्म एवं विज्ञान के बीच समन्वय स्थापित कर आधुनिक सामासिक एवं मानववाद पर आधारित नवीन संस्कृति की नींव रखी तथा इसे संस्थागत रूप दिया गया। भारतीय संविधान तथा इसके आधार पर स्थापित संस्थाओं के माध्यम से समता, स्वतंत्रता, बंधुता, न्याय, गरीबों, वंचितों के प्रति उन्मुखता, अल्पसंख्यकों के प्रति संवेदनशीलता आदि प्रेरक विचारों को आज हमें सत्यनिष्ठा के आत्मसात कर, संवैधानिक नैतिकता को अपने चरित्र एवं आचरण में उतारकर एक ऐसे भारत के निर्माण को सुदृढ़ता प्रदान करनी चाहिए जिसकी नींव हमारे संविधान निर्माताओं ने रखी थी।

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए साझा खुशहाली, अशोक के धम्म एवं अकबर के सुलह-ए-कुल, गांधी के सर्वोदय से प्रेरणा लेकर भारतीय पंथनिरपेक्षता-सर्वधर्म समभाव की जड़ों को सुदृढ़ करना होगा ताकि हम अपने पूर्वजों के ऋण से उऋण हो सके

तथा आने वाली पीढ़ियों के प्रति अपनी जिम्मेदारी निभा सके।

जिस प्रकार हमारे पूर्वजों ने हमें एक गौरवशाली सामासिक संस्कृति, लोकतंत्र एवं पक्ष निरपेक्षता आदि की विरासत सौंपी है, उसी प्रकार हम भी अपनी आने वाली पीढ़ियों को भय से मुक्त, समावेशी एवं संवेदनशील समाज, अधिक लोकतांत्रिक राजव्यवस्था, समावेशी अर्थव्यवस्था तथा पर्यावरणीय नैतिकता की विरासत उन्हें सौंप सकें।

भारतीय चेतना में मानव साध्य है, साधन नहीं, इसलिए मानवीय गरिमा विशेषकर महिलाओं के प्रति सम्मान को रोपित करनेवाले मूल्यों की विरासत हमें आने वाली पीढ़ियों के लिए सुनिश्चित करनी चाहिए।

v. विश्व के अन्य भागों में समावेशी राष्ट्रवाद की प्रक्रिया के उत्प्रेरक (Catalyst for the process of inclusive nationalism across the Globe)

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों से प्रेरित मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने अमेरिका में अश्वेत लोगों को न्याय दिलाने के लिए रचनात्मक संषर्ष का मार्ग अपनाया और राष्ट्रीय समावेशन को उत्प्रेरित किया- "I have a dream that one day, on the red hills of Georgia, the sons of former slaves will sit down in brotherhood ....that my children be not judged by the colour of their skin but the content of their character."[5]

इनके रचनात्मक संघर्ष की परिणति वर्ष 2008 में एक अश्वेत बराक ओबामा को अमेरिका ने अपना नेतृत्व सौंपा। बराक ओबामा भी गांधी को अपना प्रेरणास्रोत मानते हैं, उनके विचार, "No one is born hating another person because of the colour of his skin, or his background or his religion. People must learn to hate and if they can learn to hate, they can be taugnt to love, for love came more natually to the human heart."[6]

दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद एवं पार्थक्य की नीति के उन्मूलन के लिए 27 वर्ष तक जेल की कठोर यातना झेलने के बाद जब नेल्सन मंडेला ने दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति पद की जिम्मेदारी संभाली तो प्रतिशोध नहीं Recanciliation की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया, क्योंकि वे भी भारत के समावेशी राष्ट्रीय आन्दोलन एवं इसके अग्रणी नेतृत्वकर्ता राष्ट्रपिता के विचारों एवं जीवन से प्रेरित थे।

"....We must therefore act together as a united people for national relonciliation, for nation building, For the birth of New world.

Let there be justice for all.

Let there be peace for all

Let there be work, bread, water and salt for all

Let each know that for each the body, the mind and the soul have been freed to fullfill themselves.

..... To my compatriots, I have no hesitation in saying that each one of us is as intimately attached to the soil of this beautiful country.[7]

आज वैश्वीकरण सच्चे अर्थों में तभी साकार होगा जब इस गृह पृथ्वी पर उपलब्ध संसाधन इसके किसी भी भाग में रहने वाले लोगों की आवश्यकता को पूरा कर पायेंगे।

1. राष्ट्रवाद कोई खनिज नहीं है, जिसे खोदकर निकाला जा सके बल्कि यह तो एक धागा है, जिसे संवेदनशीलता से बुनकर सहेजा जाता हैं।

2. राष्ट्रवाद बंधुता का बंधन है।

3. राष्ट्रवाद पूर्वाग्रहों एवं घृणा जैसी त्रुटियों से उत्थान तथा स्नेह एवं संवेदनशीलता/करुणा जैसे मानवीय मूल्यों को आत्मसात कर मानवता के लिए सर्वस्व समर्पण की भावना है।

राष्ट्रवाद सर्वस्व/सर्वोच्च त्याग जैसे उच्च मूल्यों पर आधारित संकल्पना है। इस आदर्श का हमारे चरित्र में रोपित (Inculcate) होना एवं आचरण में अभिव्यक्ति जहाँ हमारे राष्ट्र के लिए एक एक समावेशी, समतामूलक, न्यायप्रिय एवं संवेदनशील समाज के सृजन में हो सकती है, वहीं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ विभिन्न राष्ट्रों के बीच, समता आधारित शांतिपूर्ण एवं सौहार्दमय संबंधों को सुदृढ़ कर अन्तर्राष्ट्रीय शांति सहयोग एवं वैश्विक प्रकृति की उभरने वाली चुनौतियों को प्रभावी रूप से संबोधित करते हुए मानवता की बेहतरी को सुनिश्चित किया जा सकता है।

सिविल समाज एवं राजनीतिक नेतृत्व वर्ग की मंशा यदि संवैधानिक नैतिकता को रोपित करने के प्रति समर्पित हो जाये तो राष्ट्रवाद मानवता के लिए Measles नहीं, संघर्ष एवं तनावों से भरे इस वैश्विक परिदृश्य में Reconciliation, Nation building तथा Internal peace creative and innovative alternative है।

शोधार्थी

इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

संदर्भ सूची

1. History of Modern India (for NCERT) (one major enterprise that Bipan Chandra under took in the 1970s was his school text book on modern India - written for NCERT)
2. India's Struggle for Independence - 1857-1947, New Delhi-1989
3. GIV. p-17, comprehensive Gandhi website by Gandhian Institutions, Sarvodaya Mandal & GRF Bombay
4. The Indian Express, C. Uday Bhaskar 23, March 2016.
5. on August 28, 1963, Washington D.C.
6. Excerpt -Barack Obama's speech the 16th Annual Nelson Mandela Lecture, South Africa
7. ..... speech pretoria, May 10, 1994. From - ancdipe @W.N. Apc. DRH.

Other Books

- The rise and growth of economic nationalism in India : Economic Policies of Indian Natonal Leadership - 1880-1905, New Delhi-1966
- Indian National Movement : The long term Dynamics, New Delhi
- Communalism in Modern India, New Delhi-1984
- India's Struggle for Independence - 1857-1947, New Delhi-1989
- Essays on Indian Nationalism, New Delhi-1993
- Ideology and Politics in Modern India, New Delhi-1994
- Nationalism and Colonialism in Modern India
- Essays in Colonialism New Delhi-1999
- The writings of Bipan Chandra
- Towards Freedom : Documents on the Movement for Independence in India-1942.
- Freedom Struggle (Jointly with - Amalesh Tripathi and Barun De), New Delhi-1992
- Indian since Independence (Jointly with Mridula Mukherjee and Aditya Mukherjee), 2008
- History of Modern India (for NCERT) (one major enterprise that Bipan Chandra under took in the 1970s was his school text book on modern India - written for NCERT)
- Preface of the book, 'Why I am atheist' written by Martyr Bhagat Singh.
- India after Gandhi, The History of the World's Largest Democracy, MacMillan, 2007
- Gandhi Before India, Penguin Books, 2013
- Patriots and Partisans, Penguin Books, 2016
- Inquilab : Bhagat Singh on Religion and Revolution
- To make the deaf hear : Ideology and Programme of Bhagat Singh

डॉ. शगुफ़्ता खान

महीप सिंह की कहानियों का वैचारिक फलक

सचेतन कहानी के पुरस्कर्ता महीप सिंह का जन्म 15 अगस्त 1930 को उत्तर प्रदेश के जिला उन्नाव अजगैन तहसील के नयी सराय गाँव के एक मध्यवर्गीय सिक्ख परिवार में हुआ। उनके पिता व्यवसाय से एक कपड़ा व्यापारी थे। जो बच्चों की पढ़ाई के सिलसिले में उन्नाव से कानपुर आकर बस गये। कलक्टर गंज के सरकारी स्कूल से महीप सिंह ने प्राथमिक परीक्षा पास की। मारवाड़ी विद्यालय इण्टर कॉलेज से मैट्रिक पास करके कानपुर के डी. ए. वी. कॉलेज से इण्टर एवं बी.-ए. किया तथा अपनी पारिवारिक शिक्षा की सीमाओं को लाँघते हुए उन्होंने एम.-ए. (हिंदी) भी किया। एम.-ए. की पढ़ाई के दौरान ही उनमें एक लेखक ने जन्म लिया था जो आगे चलकर एक महान लेखक के रूप में विख्यात हुआ।

महीप सिंह एक गरिमामयी व्यक्तित्व के स्वामी थे। जीवन के विशालकाय समुद्र में अनुभव रूपी नाव पर बैठ कर विसंगति रूपी उतार-चढ़ाव को देखा ही नहीं अपितु अपनी सजगता और उदार दूरदृष्टि रूपी पतवार से इस विशालकाय समुद्र रूपी जीवन में आने वाली बाधाओं रूपी लहरों को दर किनार किया है। एक अनुभवी कहानीकार होने के नाते उन्होंने आधुनिक जीवन की विसंगतियों के मध्य पिसते हुए मानव की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक समस्याओं को अपनी कहानियों का विषय बनाया।

यद्यपि उनकी कहानियों में दिल्ली-मुंबई महानगरीय परिवेश की अधिकता थी। तथापि उनका वैचारिक फलक विस्तृत और गहरा था। उन्होंने तदयुगीन भारतीय समाज के अंतर्गत व्यक्ति, परिवार के बनते-बिगड़ते मानवीय संबंधों की विसंगतियों एवं विडंबनाओं को देखा और अनुभूत किया। सम्भवत: इसीलिए उनकी कहानियों में जीवन के प्रत्येक पक्ष को स्थान मिला है। समाज में व्याप्त विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांप्रदायिक समस्याएँ उनकी कहानियों में गहराई के साथ व्यक्त हुई हैं।

औद्योगिक युग की भागती-दौड़ती जिन्दगी में सभी अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हैं। एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से कोई सरोकार नहीं है। व्यक्ति अपने पत्नी बच्चों तक सीमित होकर रह गया है। और साठोत्तरी युग के इसी विघटन को महीप सिंह की 'पारदर्शी दीवार' कहानी में देखा जा सकता है। प्रस्तुत कहानी में भाई-भाई को नहीं पहचानते हैं। उनके मध्य एक ऐसी पारदर्शी दीवार खड़ी हो गई है उसमें से खड़े होकर वे एक दूसरे को देखते हैं। पहचानते हैं किन्तु निकट नहीं आ पाते हैं। परिवार के सदस्य अपनी संस्कृति और नैतिकता को खो रहे हैं। उनके संबंधों की ऊष्मा समाप्त होती जा रही है। वे टूटकर बिखर रहे हैं।[1] 'सुबह के फूल' कहानी में बड़े भाई के कृत्य ने भाइयों के प्रेम, विश्वास और त्याग की भावना पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। ''जिस लड़की को वह मेरे लिए देखने गए थे वह उन्हें अपने लिए पसंद आ गई और उन्होंने उससे विवाह कर लिया।''[2] 'फोकस' कहानी में भी माता-पिता और भाई-बहन के संबंधों में स्वार्थ और थोथी संवेदनाओं को देखा जा सकता है। पब्लिसिटी के लिए रानी के पिता एवं भाई-बहन उसके रोमांस की झूठी खबर छाप देते हैं। ''आई एग्री विद यू, पब्लिसिटी की बड़ी वैल्यू होती है,

फिल्म लाइन में तो इसके बगैर कुछ नहीं।''[3] यांत्रिक युग में संबंधों के व्यवसायीकरण की सीमा यहीं समाप्त नहीं होती हद तो तब हो जाती है, जब पिता की अंत्येष्टि का भी व्यवसायीकरण होता है। उनकी 'शोक' कहानी में इस व्यवसायीकरण को देखा जा सकता है जहाँ पुत्र सागर को अपने पिता की मौत का दु:ख कम अंत्येष्टि में वी. आई. पी. लोगों की भीड़ नहीं जुटा पाने का दु:ख ज्यादा है। इसी प्रकार महीप सिंह की 'कील' कहानी में भी संबंधों में स्वार्थ और झूठी संवेदनाओं को देखा जा सकता है। यहाँ पिता असुरक्षा एवं आर्थिक तंगी के डर से अपनी बेटी के विवाह को टालने का प्रयास करता है। संबंधों की समाप्त होती ऊष्मा को दर्शाती महीप सिंह की कहानी 'सन्नाटा' वास्तव में संबंधों का ही सन्नाटा है जहाँ माँ-बेटी को अपने संबंधों की अनुभूति किसी तीसरे के आने पर होती है। ''कैसी अजीब बात है कि हमारे बीच में जब तक तीसरा व्यक्ति न आए हमें अहसास ही नहीं होता कि हम माँ-बेटी है।''[4] इन संबंधों के अतिरिक्त पारिवारिक संबंधों में सबसे महत्वपूर्ण माना जाने वाला पति-पत्नी सम्बन्ध भी अपनी ऊष्मा खोता होता हुआ व्यवसायीकरण की ओर बढ़ता जा रहा है। पति-पत्नी सामंजस्य, त्याग, समर्पण, उदारता, प्रेम-विश्वास को भूल कर स्वार्थी मतलबी बनते जा रहे हैं। परिणामस्वरुप समाज में तलाक और अलगाव की समस्या जन्म ले रही है। महीप सिंह की 'पति' 'पत्नी', 'वेतन के पैसे', 'काला-बाप गोरा-बाप', 'पेरिस रोड', 'घिराव,' 'कटाव', 'माँ,' 'गमले का फूल', 'कुर्सी', 'उलझन', 'धूप की उंगलियों के निशान', ऐसा ही है, कहानियों में इसी समस्या को दर्शाया गया है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा समाज में रहकर ही होती है। वह समाज में रह कर ही सभ्य बनता है। मानवीय-सम्बन्ध स्थापित करता है। जीवन-यापन करता है। मशीनीकरण के युग में अर्थ और स्वार्थ ने मानवीय संबंधों को बड़ी तेजी से परिवर्तित किया है। महीप सिंह ने इन्हीं बदलते हुए मानवीय संबंधों को अपने कथ्य का विषय बनाया है। मानवीय संबंधों में सबसे सुन्दर और मधुर सम्बन्ध मित्रता का है। यह सम्बन्ध त्याग, समर्पण और नि:स्वार्थ प्रेम की भावना से मजबूत बनता है लेकिन बदलते हुए युग में अपनी परिभाषा खोता चला जा रहा है। आज मित्रता धर्म, जाति और स्वार्थपरता के आधार पर की जा रही है। इस दृष्टि से उनकी एक 'मित्र एक पत्र', 'और भी कुछ', 'दोस्ती में पानीपत की चौथी लड़ाई' कहानियाँ उल्लेखनीय है। सच्चा मित्र अपने मित्र को कभी भी रुसवा नहीं होने देता वह उसे हर संभव खुश रखने का प्रयास करता है। महीप सिंह भी स्वयं इसी प्रकृति के थे।- ''मुझे याद नहीं पड़ता कि जिसे महीप सिंह ने अपना मित्र कहा हो या माना हो, उसे कभी रुसवा होने दिया हो।''[5] उनकी इसी विचारधारा को 'पहले जैसे दिन' कहानी में देखा जा सकता है जिसमें सतबीर नामक व्यक्ति सच्चे मित्र कि कसौटी पर खरा उतरना चाहता है लेकिन उसकी मित्र बाली इंद्रा गाँधी की हत्या के विषैले प्रचार से प्रभावित होकर उससे दूरियाँ बना लेती है। इसी प्रकार धार्मिक कट्टरता भी दोस्ती के मध्य दरार पैदा कर देती है। 'सहमे हुए' कहानी में इस तथ्य को देखा जा सकता है। प्रस्तुत कहानी में दंगे फसाद शुरू होने के कारण पाँच ऑफिस सहकर्मी जो पहले अच्छे दोस्त थे। एक दूसरे को शक की नजर से देखने लगते हैं।

यंत्रीकरण और औद्योगिकीकरण के युग में शिक्षा एक व्यवसाय बनकर रह गई है। गुरु और शिष्य दोनों अपनी मर्यादा खो रहे हैं। जिसका सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव समाज पर पड़ रहा है। जिसे उनकी 'विपर्यय', 'ब्लाटिंग पेपर', 'सीधी रेखाओं का वृत्त', 'उखड़े हुए रास्ते का यात्री', 'धुंधले चेहरे' में देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में 'विपर्यय' कहानी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं- ''सर मैं रत्ना के बिना नहीं रह सकता... सर आप मेरे लिए कुछ करिए। प्रोफेसर साहब बोले प्रेम में जबरदस्ती तो चल नहीं सकती। रत्ना को बुलाकर मैंने पूछा था वह कहती है कि उसने तुमसे प्रेम नहीं किया। सिर्फ हमदर्दी रखती थी।''[6]

आधुनिक युग की भागती-दौड़ती जिन्दगी में मनुष्य इतना व्यस्त हो गया है कि उसके पास न अपने परिवार के लिए समय है और न ही अपने पड़ौस के लिए। उसके इस स्वभाव के कारण संबंधों की मधुरता समाप्त होती जा रही है। समाज में ईर्ष्या-द्वेष की भावना दिखाई दे रही है। उनकी 'पड़ौसी', 'ठंडक', 'अवश', कहानी में समाज से विलुप्त होती हुई सामाजिकता को देखा जा सकता है। ''तुम बक-बक किये जाओगी या चुप भी बैठोगी..., सारी पिक्चर का मजा किरकिरा करके रख दिया।''[7] परिवार,

पड़ौस के सम्बन्ध के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध, विवाहेतर सम्बन्ध, नाम-अनाम सम्बन्ध और स्त्री जाति की समस्याओं पर भी उनकी दृष्टि गई है। आज के बदलते परिवेश में विवाह के प्रति स्त्री-पुरुष का दृष्टिकोण बदल गया है। उनके लिए विवाह कोई बंधन नहीं सोच-समझ कर लिया गया निर्णय है। जिसे असुविधा के चलते कभी भी तोड़ा जा सकता है। अपनी इसी सोच के कारण वे विवाहेतर सम्बन्ध बनाने से भी संकोच नहीं करते हैं। कई बार यह सम्बन्ध आकर्षित होकर बन जाते हैं तो कभी-कभी यह सम्बन्ध भावुकता में बन जाते हैं। तो कई बार यह एकरसता (ऊब) को मिटाने के लिए बनाये जाते हैं। और कभी-कभी तो पति-पत्नी के झगड़ों से बढ़ती दूरी विवाहेतर सम्बन्ध का कारण बन जाती हैं। विवाहेतर सम्बन्ध समाज के लिए एक अभिशाप हैं जिसे महीप सिंह ने अपनी कहानियों में अभिव्यक्त कर हमारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है। उनकी 'मैडम', 'झूठ', 'गंध', 'टाइपिस्ट', 'सीधी रेखाओं का वृत्त', 'धिराव', 'बाद की बात', 'कुछ और कितना', 'लय', 'शोर', 'कालसंध्या', 'पारदर्शक', आदि कहानियाँ इसी तथ्य को उजागर करती हैं।

सामाजिक समस्याओं के अंतर्गत नारी की समस्या बहुत बड़ी समस्या रही है। महीप सिंह ने अपनी कहानियों में नारी की समस्या को दर्शाते हुए उसके सामाजिक और वैयक्तिक रूप को भी चित्रित करने का प्रयास किया है। उन्होंने 'मैडम' तथा 'शास्त्री जी' कहानी में वेश्या की समस्या को उठाया है। 'मैडम' कहानी में मैडम एक वैश्या पुत्री होने के कारण एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ ब्याह दी जाती है। विवाहित जीवन में अपने अतीत के कारण सुखी नहीं रह पाती है। 'शास्त्री जी' कहानी की वैश्या नर्तकी मन की तृप्ति पाने में असमर्थ रहती है। 'कील' कहानी की मोना भी 26 वर्ष तक अपने पिता की सेवा करते-करते अनजाने में शोषण का शिकार बनती है।

महीप सिंह ने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज में व्याप्त पाखंड और भ्रष्टाचार पर भी प्रकाश डाला है। उनकी 'सफाई' कहानी स्वयं को प्रगतिशील समझने वाले और गरीबों का हिमायती करने वालों के पाखंड को दर्शाती है। 'शोक' में प्रदर्शन के पाखंड को दर्शाया गया है तथा 'दर्द' कहानी में संतों पर व्यंग्य को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। ''मान लो, वह सुरेंद्र जी की भूल जाने की बिमारी ले लेते हैं और उसे छोड़ना भूल जाते हैं फिर तो कबाड़ा हो जायेगा... दुनिया भर की सारी बीमारियाँ उनसे चिपट जाएँगी...।''[8]

वर्तमान भौतिकता प्रधान युग में धन की महत्वता को नकारा नहीं जा सकता। देखा जाये तो धन अपने आप में कुछ नहीं एक साधारण कागज का टुकड़ा है लेकिन यही कागज का टुकड़ा वर्तमान युग में सर्वोपरि माना जा रहा है इसीलिए व्यक्ति धन की प्राप्ति हेतु हर संभव प्रयास करता है। धन-प्राप्ति का सकारात्मक पहलू तब तक है जब तब तक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के साथ समाज-कल्याण को भी दृष्टि में रखता है लेकिन जहाँ व्यक्ति अपने स्वार्थ के आगे समाज-कल्याण को उपेक्षित करता है वहाँ उसके नकारात्मक पहलू सामने आने लगते हैं। महीप सिंह ने धन को मुख्य मानकर चलने वाले लोगों के बनते-बिगड़ते संबंधों तथा उनसे उत्पन्न समस्याओं को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया है। 'कितनी परछाइयाँ' कहानी में माता-पिता और संतान के मध्य धन को लेकर बढ़ती दूरी तथा वैचारिक अंतर को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है- ''देखिये मैं स्पष्ट कहने का आदी हूँ.... मुझे लगता है, मेरे पिताजी ने गलत निर्णय लिया था लेखक बनने में रखा ही क्या है।''[9] व्यक्ति पर जब आर्थिक संकट गहराता है तो मित्र, सगे-सम्बन्धी भी दूर हो जाते हैं। महीप सिंह ने 'जीना-मरना' कहानी में मुख्य पात्र के इन शब्दों में जीवन के इस कटु सत्य से अवगत करवाया है। ''मित्र, सगे-सम्बन्धी... ये सब किसके लिए होते हैं।''[10] वर्तमान जीवन में आर्थिक वर्चस्व का परिणाम यह है कि अधिकांश सम्बन्ध आर्थिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। महीप सिंह की 'पारदर्शी दीवार' कहानी में दो भाइयों के मध्य दीवार खड़ी हो जाती है। यह अंतर भाई-भाई के मध्य ही सीमित नहीं रहता अपितु मानव-मानव के बीच एक दीवार खड़ी कर देता है। यह दीवार महीप सिंह की 'थर्ड क्लास फर्स्ट क्लास', 'और और 'वृत्त', 'लकीरों वाला मकान' कहानी में देखी जा सकती है। महीप सिंह मूलत: एक अध्यापक थे। उन्होंने तदयुगीन अध्यापक जीवन की आर्थिक विसंगतियों को देखा, जाना समझा और अनुभूत किया था। महीप सिंह की 'ट्यूशन', 'मास्टर साहब', 'धुंधले चेहरे', 'एक लड़की शोभा', 'पुत्र', 'बेसुर'

और 'उलझन' आदि कहानियों में उनकी इसी अनुभूति को अभिव्यक्ति मिली है।

स्वातंत्र्योत्तर युग राजनीतिक उथल-पुथल का युग रहा है। महीप सिंह ने इस पूरे घटना-क्रम को बड़ी पैनी दृष्टि से देखा और अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया। उनके 'कितने सम्बन्ध' संग्रह की कहानियों में राजनीतिक दशा और दिशा की झलक देखी जा सकती है। इस संग्रह की भूमिका में वह लिखते हैं-''मुझे प्रायः यह लगता रहा है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन असुरक्षा की भावना से बुरी तरह ग्रस्त है... परिणामस्वरूप हम छोटेपन, कमीनेपन, अफरा-तफरी जैसे भी हो अपना काम निकालो कि भावना से बुरी तरह ग्रस्त है...। सुरक्षा के अभाव में व्यक्ति की मानसिकता आत्मकेंद्रित मौकापरस्त और सभी को शंका की दृष्टि से देखने वाली बन जाती है। हमारे देश का अधिकांश जन इस मानसिकता से बुरी तरह ग्रस्त है।''[11] 'धूप की उंगलियों के निशान' कहानी की भूमिका में वह राजनीतिक परिवेश में व्याप्त नितांत मूल्यहीनता की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि ''....इन वर्षों में सांप्रदायिक द्वेष की आग ने अपने आप को हिन्दू-मुसलमान संज्ञाओं में ही नहीं घेरा, हिन्दू-सिख, हिन्दू-ईसाई, स्वर्ण-दलित, कबाइली गैर-कबाइली, मुल्की और गैर-मुल्की जैसी संज्ञाओं का निर्माण भी कर बैठी। सत्ता के लिए सभी कुछ जायज है। सभी कुछ ठीक है। सभी कुछ अर्थवान है। इसे स्वीकार कर लिया गया है। रिश्वत की परिभाषा बदल गयी है।''[12] अपनी कहानियों में उन्होंने राजनीतिक परिवेश की विसंगतियों से जूझते हुए मनुष्य की पीढ़ा को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया है। 'एक गुंडे का समय बोध' राजनीतिक परिवेश में व्याप्त मूल्यहीनता को चित्रित करती हुई कहानी है। राजनीति में गुंडों की घुसपैठ, शराफत और गुंडागर्दी के अंतर के समाप्त होते जाने के साथ ही लूट खसौट की राजनीति को एक गुंडे जग्गू के माध्यम से व्यक्त किया है। राजनेता का बढ़ता कुर्सी-प्रेम, वोटों की तथा नेताओं की खरीद-फरोख्त आदि को अपने कथ्य का विषय बनाकर हमें सचेत करने का प्रयास किया है। आज कल राजनीतिक कितनी भ्रष्ट हो गई है इसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। ''किसी पार्टी के इशारे पर किसी विधायक को दो-तीन दिन के लिए गायब कर दो और पाँच-दस हजार रुपये ले लो।''[13]

राजनीति के कारण उपजी साम्प्रदायिकता की समस्या को भी उन्होंने अपनी 'एक मरता हुआ दिन', 'शहर' 'सहमे हुए', 'पानी और पुल', 'पहले जैसे दिन' और 'डर' आदि कहानियों में चित्रित कर यह रेखांकित करने का प्रयास किया है कि साम्प्रदयिक सदभाव के लिए समझदारी, धार्मिक सहिष्णुता एवं भाईचारे की भावनाएँ आवश्यक है न कि धार्मिक-उन्माद को बढ़ावा देने की। साम्प्रदायिक तनाव जब गहराता है, तो लोगों के मन में अनेक आशंकाएँ उठती हैं। कहीं लुटे जाने की, कहीं मरे जाने की तो कहीं घर से निकाले जाने की। महीप सिंह की कहानी में दंगों के दौरान लोगों के मन में उठने वाली इन्हीं आशंकाओं का, तनाव का, वर्णन एक कॉलोनी के लोगों द्वारा किया गया है। ''अँधेरा ढलते ही कुछ प्रमुख भगौड़े एक घर में इकट्ठा हुए। उसमें से एक बोला मुझे पता है कि पास के मोहल्ले के कीड़े हथियार बंद होकर रात को हम पर हमला करेंगे।''[14] साम्प्रदायिक दंगों में किसी एक वर्ग या उम्र के लोग नहीं मरते इसमें सभी वर्ग के लोग शिकार होते हैं। यह आग सभी को अपनी चपेट में ले लेती है। दंगों में मानवता को ताख पर रखकर अमानुषिक कृत्य किये जाते हैं। स्त्रियों का शोषण कर उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित किया जाता है। बच्चों और वृद्धों को भी नहीं छोड़ा जाता। जान के साथ-साथ माल का भी नुकसान होता है। घरों को जला दिया जाता है। असामाजिक तत्वों का बोलबाला रहता है। अवसर पाकर दंगाई अपना उल्लू सीधे करते हुए दिखाई देते हैं। दंगों की इसी लूट-खसौट और आगजनी का मंजर 'सहमे हुए' कहानी में देखा जा सकता है। -''कल अलीगढ में दंगाई एक मकान में घुस गए, घर पर उस समय एक बूढ़ा था, सत्तर साल का और एक लड़की थी। आठ साल की, दंगाइयों ने दोनों को चाकू से गोद के मार डाला।''[15]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि महीप सिंह ने परिवार के सदस्यों के मध्य समाप्त होती प्रेम और विश्वास की भावनाओं को, पति-पत्नी के मध्य किसी तीसरे के प्रवेश द्वारा विवाहेतर संबंधों के दुष्प्रभाव को, पति-पत्नी के बीच बढ़ती दूरी को, समाज से समाप्त होते मानवीय संबंधों, नारी-शोषण, पाखंड, भ्रष्टाचार जैसी समस्याओं तथा संबंधों में अर्थ निर्माण की भूमिका, राजनीतिक में व्याप्त मूल्यहीनता, गुंडागर्दी, भ्रष्टाचारी, दलबदल राजनीतिक,

अवसरवादिता और जातिवाद जैसी प्रवृत्तियों को रेखांकित किया है। साम्प्रदायिक समस्याओं को उठाते हुए यह समझाने की चेष्टा की है कि कोई भी धर्म पाप या अत्याचार करने की शिक्षा नहीं देता। इसलिए सभी धर्मों के लोगों को एक दूसरे के धर्मों की भावना का सम्मान करना चाहिए। उनकी कहानियों का वैचारिक फलक सिर्फ दो महानगरों तक ही सीमित नहीं अपितु विस्तृत एवं गहरा है। जीवन के प्रत्येक पक्ष को उनकी कहानियों में देखा जा सकता है। चाहे व्यक्ति हो, परिवार हो, समाज हो, या फिर समाज में व्याप्त विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांप्रदायिक समस्या हो। सभी महीप सिंह की कहानियों में गहराई के साथ व्यक्त हुई हैं। जो उनके कथ्य की व्यापकता को दर्शाती हैं।

पी. एच. डी. (हिन्दी) 2009
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़, उत्तर प्रदेश
ईमेल : mm_khan1@rediffmail.com

सन्दर्भ सूची

1. 'पारदर्शी दीवार', सुबह की महक, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 83
2. 'सुबह के फूल', सुबह की महक, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 138
3. 'फोकस', क्षणों का संकट, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 187
4. 'सन्नाटा', संबंधों का सन्नाटा, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 15
5. महीप सिंह-'एक अंतरंग व्यक्ति' चित्र, कथाकार महीप सिंह, कन्हैया लाल नंदन, पृष्ठ 7
6. 'विपर्यय', सुबह की महक, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 255
7. 'ठण्डक', सुबह की महक, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 235
8. 'दर्द', क्षणों का संकट, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 150
9. 'कितनी परछाइयाँ', संबंधों का सन्नाटा, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 112
10. 'जीना मरना', संबंधों का सन्नाटा, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 19
11. 'कितने सम्बन्ध' की भूमिका, डॉ. महीप सिंह
12. धूप की उंगलियों की भूमिका, डॉ. महीप सिंह
13. 'एक गुंडे का समय बोध', क्षणों का संकट', डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 126
14. 'डर', संबंधों का सन्नाटा, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 183
15. 'सहमे हुए' डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 94

डॉ. अर्चना द्विवेदी

दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय - एक परिचय

पंडित दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्पित स्वयंसेवक और भारतीय जनसंघ के नेता, प्रखर विचारक, महामनीषी थे। वे अपनी सूझबूझ, संवेदनशीलता, अध्ययनशीलता, व्यवहारकुशलता और अथक परिश्रम के कारण आदर्श के रूप में देखे जाते थे। 25 सितंबर 1916 को जन्मे इस महापुरुष की जन्म शताब्दी वर्ष पर एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान और प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली ने उनकी संपूर्ण रचनाओं को एकत्रित कर सराहनीय कार्य किया है। कुल पंद्रह खंडों में प्रकाशित दीनदयाल उपाध्याय वाङ्मय का अक्टूबर 2016 में लोकार्पण हुआ था।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के साहित्य एवं एकात्म मानवदर्शन के प्रखर अध्येता डॉ. महेश चंद्र शर्मा के संपादन में आया। डॉ. महेश शर्मा ने राजस्थान विश्वविद्यालय से सन् 1988 में पीएच.डी. उपाधि के लिए शोध कार्य प्रोफेसर डॉ. इकबाल नारायण के निर्देशन में 'पंडित दीनदयाल जी का राजनैतिक जीवन चरित-कृतित्व एवं विचार सारणी' विषय पर शोध कार्य कर अकादमिक जगत में इस विषय का महत्व स्थापित कर दिया था। यह वाङ्मय एकात्म मानवदर्शन के सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक दर्शन से साक्षात कराने के साथ ही दीनदयाल उपाध्याय के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनजाने पहलुओं से भी पाठक/शोधक समुदाय को परिचय कराता है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था एवं अर्थव्यवस्था के मूल राष्ट्रीय स्वरूप आदि महत्वपूर्ण विषयों के सांगोपांग विवेचन के साथ-साथ समसामयिक विषयों पर सुस्पष्ट एवं निर्भीक टिप्पणियाँ भी हैं।

खंडों की संरचना की बात करें तो सभी खंड तीन भागों में विभाजित हैं। पहला भाग पूर्वपाठ है। इसमें समर्पण, जिस विभूति को खंड समर्पित किया गया है उनका परिचय, संपादकीय, भूमिका, वह काल, वाङ्मय संरचना और अनुक्रमाणिका है। दूसरा भाग मुख्य पाठ का है, जिसमें दीनदयाल जी की उपलब्ध पुस्तकें, लेख वक्तव्य, साक्षात्कार आदि हैं। अंतिम भाग परिशिष्ट और संदर्भिका का है। संदर्भिका सामान्यत: हिंदी की पुस्तकों में नहीं होती, लेकिन इसमें इसे जोड़कर पाठकों के लिए अधिक सुविधाजनक बना दिया गया है। पहले, छठे और अंतिम खंड में पूर्वपाठ की संरचना थोड़ी भिन्न है। पहले खण्ड के पूर्वपाठ में अन्य सामग्री के अलावा दीनदयाल जी के प्रारंभिक जीवन का परिचय भी है। वहीं पंद्रहवें खण्ड में 'वह काल' की जगह 'अवसान' है। पंद्रहवें खण्ड में परिशिष्ट वाला भाग काफी बड़ा है। कालखंड के नाम पर 'विविध' संज्ञा से अभिहित यह खंड वस्तुत: दीनदयाल जी के निधन के बाद का है। परिशिष्ट में उनके असामयिक निधन के बाद विभिन्न समाचार पत्रों में छपे संबंधित समाचार हैं।

वाङ्मय का पहला खंड चार सौ सैतालिस पृष्ठों के अतिरिक्त अड़सठ प्रारंभिक पृष्ठों के साथ-साथ कुछ स्मरणीय फोटो भी समेटे है। इस खंड में दीनदयाल जी की 1942 से लेकर 1950 तक की रचनाएं ली गई हैं।

कालखंड की दृष्टि से देखें तो यह सबसे बड़े अंतराल को समेटता है। इसमें भी बड़ा अंतराल समेटता है वरिष्ठ पत्रकार राम बहादुर राय का लिखा 'वह काल'। इस खंड में किशोरों के लिए लिखे गए दीनदयालजी के दो ऐतिहासिक उपन्यास हैं- 'सम्राट चंद्रगुप्त' और 'जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य' शामिल हैं। इनमें एक तरु तो लेखक की कल्पनाशीलता और साहित्यिक प्रतिभा देखते ही बनती है, वहीं यह भी ध्यातव्य है कि ऐतिहासिक तथ्यों को कतई नजरअंदाज नहीं किया गया है। 'जगद्गुरु श्री शंकराचार्य' जैसे व्यक्ति के जीवन पर लिखते हुए भी उनका दृष्टिकोण पूरी तरह वैज्ञानिक है। श्री शंकराचार्य के रचे श्लोक और स्तोत्र अवश्य दिए गए हैं, पर न तो स्तोत्र के पाठ मात्र से किसी चमत्कार की बात है न ही परकाया प्रवेश की। नर्मदा की बाढ़ और उससे फैली महामारी के समय वे उनकी सामाजिक संगठन की क्षमता और सेवाकार्य की बात करते हैं तो सांसारिक अनुभव के लिए राज्य संचालन के संदर्भ में एक राजा से समझौते की। इसी खण्ड में दीनदयाल जी के दो पत्र भी हैं। एक तो उनके मामा श्री नारायण शुक्ल के और दूसरा ममेरे भाई बनवारीलाल शुक्ल के नाम। ये दोनों पत्र उनके निजी जीवन और पारिवारिक संघर्ष की साफ तस्वीर पाठक के सामने रखते हैं।

दूसरा खंड 322 पृष्ठों में तीन वर्षों- 1951, 1952 और 1953 का लेखाजोखा समेटे है। डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को समर्पित इस खंड में समर्पण परिचय डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी रिसर्च फाउंडेशन के निर्देशक अनिर्बाण गांगुली और भूमिका विख्यात इतिहासकार देवेंद्र स्वरूप ने लिखी है। इस खंड में भी प्रारंभिक बत्तीस पृष्ठों में परिचय, जनसंघ के उद्देश्य, संपादकीय, भूमिका, 'वह काल', भ्रम और टकाराव के साल तथा वाङ्मय रचना दी गई है। इसमें दीनदयाल जी की दो पुस्तकें हैं- 'अखंड भारत क्यों' तथा 'हमारा कश्मीर' शामिल है। इसके परिशिष्ट वाले हिस्से में एक पुस्तक 'जोड़ें कश्मीर : मुखर्जी-नेहरू और अब्दुल्ला का पत्र व्यवहार' शामिल है। यह वस्तुत: अंग्रेजी में दीनदयाल जी द्वारा प्रकाशित की गई 'इंटीग्रेट कश्मीर : मुखर्जी-नेहरू एंड अब्दुल्ला करेस्पॉडेंस' का अनुवाद है। जैसा कि नाम से ही जाहिर है, यह पुस्तक तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू शेख अब्दुल्ला के साथ ही श्यामाप्रसाद मुखर्जी के पत्रव्यवहार का संकलन है। जम्मू आंदोलन पर केंद्रित ये पत्र ऐतिहासिक महत्व के हैं।

तीसरे खंड में 1954-55 की कृतियों को कुल 388 पृष्ठों में दिया गया है। गोवा मुक्ति के लिए सत्याग्रह के नायक जगन्नाथ राव जोशी को समर्पित इस खंड के लिए जोशी जी का परिचय वरिष्ठ पत्रकार और पूर्व सांसद बलवीर पुंज ने लिखा है। भूमिका दिल्ली विधानसभा में मुख्य कार्यकारी पार्षद रहे डॉ. विजय कुमार मल्होत्रा और 'वह काल' संविधानविद ब्रजकिशोर शर्मा ने लिखा है। प्रारंभ में परिचय, संपादकीय, भूमिका, 'वह काल' तथा वाङ्मय संरचना छत्तीस पृष्ठों में दी गई है। इसमें संकलित पुस्तक ''टैक्स या लूट ?'' में दीनदयाल जी के विचार ध्यातव्य हैं, ''अत: राज्य को इस प्रकार संपत्ति अपहरण का तब कोई अधिकार नहीं है, जब तक वह यह सिद्ध न कर दे कि उसका उद्देश्य फिजूलखर्ची कम करके पूरा नहीं हो सकता। आज आवश्यकता तो इस बात की है कि शासन का खर्चा कम किया जाए, क्योंकि यह भार बहुत अधिक बढ़ गया है।'' दूसरी पुस्तक 'बेकारी की समस्या और उसका हल' में वे भारत में बढ़ती बेरोजगारी की समस्या के कारणों का विश्लेषण ही नहीं करते, अपितु समाधान के उपाय भी सुझाते हैं। परिशिष्ट वाले भाग में एक और किताब शामिल है 'कश्मीर के मोर्चे पर'। पत्रकार रामशंकर अग्निहोत्री की इस किताब की प्रस्तावना दीनदयाल उपाध्याय ने ही लिखी है। यह कश्मीर के संबंध में प्रजा परिषद द्वारा चलाए गए आंदोलन का पूरा ब्योरा है।

चौथा खंड 1956-57 का संकलन है, जिसमें 284 पृष्ठ के अतिरिक्त चौंतीस पृष्ठ और हैं। प्रजा परिषद् के संस्थापक पं. प्रेमनाथ डोगरा को समर्पित इस खंड के लिए डोगरा जी का परिचय जम्मू-कश्मीर के उपमुख्यमंत्री डॉ. निर्मल सिंह और भूमिका रंगा हरि ने लिखी है। 'उजागर होते अंतर्विरोध' शीर्षक 'वह काल' में पं. जवाहरलाल नेहरू की टिप्पणियों को जिक्र करते हुए वरिष्ठ पत्रकार और माखनलाल चतुर्वेदी विश्वविद्यालय के कुलपति अच्युतानंद मिश्र कहते हैं, ''उनके राजनीतिक दावों और आर्थिक वास्तविकताओं के बीच का अंतर्विरोध

दशक के अंतिम वर्षों में उजागर होने लगा था। 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का शुभारंभ करते समय उन्होंने आश्वासन दिया था कि अब से विदेशों से अनाज का आयात नहीं किया जाएगा। लेकिन यह सच्चाई थी कि अगस्त 1956 से अमरीका से पी.एल. 480 के अंतर्गत जो समझौता किया गया, उसमें 1067 करोड़ का गेहूँ खरीदना पड़ा, जबकि पूरी प्रथम योजना दो हजार करोड़ रुपये की थी। लेनिन के प्रशंसक और फेबियन समाजवादी प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू जहां सामूहिक सहकारी खेती, औद्योगिक विकास, राष्ट्रीयकरण और बिजली उत्पादन के पक्षधर थे, वहीं कृषि उत्पादन को लेकर उनकी उदासीनता आलोचना के केन्द्र में थी। 1956-57 के वर्ष में जब चार हजार आठ सौ करोड़ की दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू हुई थी, उस समय भारत में विदेशी पूंजी निवेश और विदेशी व्यापार के क्षेत्र में भुगतान संतुलन की स्थिति बेहद खराब हो गई थी। भारत की आर्थिक मदद करने के लिए विश्व बैंक को 1958 में एक सहायता कोष स्थापित करना पड़ा था।'' इसमें कोई पुस्तक नहीं है। 'पांचजन्य' और 'ऑर्गनाइजर' में नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे विचारवीथी और वीकली डायरी जैसे स्तंभों में दीनदयाल जी ने राज्य पुनर्गठन, भाषा संबंधी राजनीति, औद्योगिक नीति, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, अर्थ व्यवस्था, कश्मीर के पृथक संविधान जैसे समसामयिक विषयों पर अपने विचार बिना किसी लाग-लपेट के पूरी स्पष्टता से रखे हैं।

पांचवें खण्ड में 333 पृष्ठों में सन् 1958 का पूर्वार्द्ध दिया गया है। शिक्षाविद् और जनसंघ के नेता रहे आचार्य देवा प्रसाद घोष को समर्पित इस खंड में समर्पण परिचय ऑर्गनाइजर के संपादक फ्रुल्ल केतकर ने लिखा है। भूमिका हिमालय प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री शांता कुमार ने लिखी है। यह दीनदयाल जी के आर्थिक विचारों के परिपक्व होने का काल है। समसामयिक विषयों पर दीनदयाल के लेखों के अलावा उनकी एक पुस्तक 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा' भी है। इसके 'वह काल' में भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय महामंत्री रह चुके के. एन. गोविन्दाचार्य का मत है, ''भारत का राजनीतिक प्रभुवर्ग भारत को रूस के नक्शेकदम पर डालने का ही विचार मानने लगा और भेड़चाल के तहत समाजवाद अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाने लगा। भारत सत्ता प्रतिष्ठान उपनिवेशवादी रंग में ही रंगा था। भारत को यूरोप के नजरिये से देख रहा था। भारत की ताकत को कमजोर और यूरोपीय व्यवस्था को अंधाधुंध लादने की कोशिश को ही विकास का रास्ता समझ रहा था। भारत की परंपरा, भारतीय समाज में परिवार संस्था की ताकत का न उसे अनुमान था, न ही समझ'' इस विडंबना को दीनदयाल जी ने अपने लेख ''भारतीय आर्थिक संकट की भूमिका'' में इस प्रकार रेखांकित किया है, ''द्वितीय पंचवर्षीय योजना खटाई में पड़ी हुई है और अब बहुत से लोग विचार करने लगे हैं कि उसमें काट-छांट की जाए, उसका काल बढ़ाया जाए अथवा उसका पुनर्निर्धारण किया जाए। किंतु क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि इन्हीं लोगों ने योजना को समस्त आर्थिक व्याधियों की अचूक औषधि घोषित किया था? योजना आयोग ने ही नहीं, अर्थशास्त्रियों की समीति ने, मंत्रिमंडल ने, संसद ने, राज्य सरकारों तथा राज्य विधानमंडलों ने, राष्ट्रीय विकास परिषद् ने, कांग्रेस कार्यसमिति तथा कांग्रेस अधिवेशन ने और यहां तक कि समाजवाद पर आस्था रखने वाले सभी राजनीतिक दलों ने एक आवाज से योजना के बारे में घोषित किया था कि इससे कम में विचार किया ही नहीं जा सकता। निसंदेह कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने योजना के आकार और प्रकार के विरुद्ध आवाज उठाई थी, किंतु उन्हें जन्मजात निराशावादी तथा प्रतिक्रियावादी घोषित कर उनकी आवाज को दबा दिया गया, उनकी चेतावनियों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।।''

छठे खंड में 266 पृष्ठों में 1958 का उत्तरार्द्ध है। परिचय, संपादकीय, भूमिका, वाङ्मय संरचना के लिए इक्कीस अतिरिक्त पृष्ठ दिये गये हैं। इसमें केवल एक पुस्तक है- दो योजनाएं : वायदे, अनुपालन, आसार। यह दीनदयाल जी की अंग्रेजी में लिखी गई मूल पुस्तक 'द टू प्लांस : प्रॉमिसेज, परफॉर्मेंस, प्रॉस्पेक्ट्स' का हिन्दी अनुवाद है। पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं के आलोचनात्मक विश्लेषण पर केंद्रित यह पुस्तक दीनदयाल जी की अर्थदृष्टि समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। परिशिष्ट में डॉ. भाई महावीर द्वारा की गई दो समीक्षाएं दी गई हैं, जिनका प्रकाशन ऑर्गेनाइजर के सन् 1958 के सितंबर माह में हुआ था। श्रमिक नेता दत्तोपंत ठेंगड़ी को

समर्पित इस खंड के लिए समर्पण परिचय राजकुमार भाटिया ने लिखा है।

सातवां खंड 355 पृष्ठों में निबद्ध तथा संघ के पूर्व सरकार्यवाह भाऊराव देवरस को समर्पित है। समर्पण परिचय अच्युतानंद मिश्र, 'वह काल' वरिष्ठ लेखक-पत्रकार डॉ. नंदकिशोर त्रिखा और भूमिका विश्व हिंदू परिषद के महामंत्री चंपत राय ने लिखी है। इसमें जनवरी 1959 से दिसंबर 1959 तक की सामग्री को संजोया गया है, तथापि इसमें कोई पुस्तक शामिल नहीं की गई है। तिब्बत पर चीन के आक्रमण, नेहरू की चीन संबंधी नीति, अंग्रेजीपरस्तों की कुटिल चालों, सहकारिता कृषि, केरल और जनसंघ और तत्कालीन राजनीतिक संकट जैसे समसामयिक विषयों पर दीनदयाल जी के विचारोत्तेजक लेख है।

आठवें खंड में वर्ष 1960 की सामग्री 314 पृष्ठों में संकलित की गई है। यह खंड उत्तर प्रदेश जनसंघ की पहली महिला उपाध्यक्ष और जम्मू कश्मीर सत्याग्रही हीराबाई अय्यर को समर्पित है। उनका परिचय ब्रजकिशोर शर्मा ने लिखा है। भूमिका संघ के पूर्व सह सरकार्यवाह मदनदास ने लिखी है। यह वह समय है जब चीन भारत पर आक्रमण की भूमिका बनाने लगा था। 'दिशाहीनता और संकट का समय' शीर्षक 'वह काल' में दीनदयाल शोध संस्थान के प्रधान सचिव अतुल जैन ने हमारे नीति नियंताओं में व्याप्त दिग्भ्रम का संकेत देते हुए स्पष्ट किया है, ''चीनी आक्रमण का प्रश्न देश के सामने सबसे तीव्रता के साथ खड़ा था। सरकार जनता को इस बात पर विश्वास में नहीं ले रही थी कि वह चीन के साथ क्यों और किस मुद्दे पर बातचीत कर रही है। पूरे देश में इस बात को लेकर आक्रोश था कि सरकार चीन के साथ दृढ़तापूर्वक क्यों नहीं पेश आ रही है। उलटे जब भी भारत सरकार बातचीत की पेशकश करती, चीन एक इलाके पर अपना दावा जता देता था। ऐसी स्थिति में पंडित नेहरू ने चीनी प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई को भारत आने का निमंत्रण देकर देश की जनता को भौंचक्का कर दिया।'' दीनदयाल जी के लेखों में यह बात बार-बार आई है कि राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय चुनौतियों के प्रति जैसी गंभीरता और कूटनीतिक कुशलता की आवश्यकता है, हमारे नीति-नियंताओं में उसका घोर अभाव दिखाई देता है।

नवें खंड में सन् 1961 में विभिन्न अवसरों पर दीनदयाल जी द्वारा लिखे गए लेखों एवं उनके वक्तव्यों का संकलन 285 पृष्ठों में किया गया है। यह दीनदयालजी के साथी रहे सुंदर सिंह भंडारी को समर्पित है। भंडारीजी का परिचय साहित्यकार डॉ. इंदुशेखर तत्पुरुष ने लिखा है। भूमिका संघ के कार्यवाहक सुरेश भय्याजी जोशी और 'वह काल' बलबीर पुंज ने लिखा है। सामाजिक, आर्थिक और कूटनीतिक मोर्चे पर सरकार की विफलताएं और उनका सूक्ष्म विश्लेषण इस खंड के लेखों का मूल स्वर है। इसमें शामिल दो लेख खासतौर से गौरतलब हैं- 'प्रेम नगर का खूनी स्कूल' और 'चीनी आक्रमण से ध्यान हटाने के लिए शुरू हुआ सांप्रदायिक सियार रोदन'। इनमें पहला जानकारी की दृष्टि से एक विस्फोटक लेख है। वैश्विक कूटनीति और उसमें दूसरे देशों में अस्थिरता फैलाने के लिए अपनाए जाने वाले तौर-तरीकों, जिनमें प्रायोजित जनांदोलनों से लेकर हत्याएं तक शामिल हैं, पाठक को अवाक् कर देता है।

दसवें खंड में जनवरी 1962 से लेकर दिसंबर 1962 तक की सामग्री संकलित है, जिसमें अधिकांश लेख मतदाता परिष्कार विषयक हैं। 'आपका मत' शृंखला के इन लेखों में चुनावी प्रक्रिया, उसमें राजनीतिक दलों की भूमिका और वस्तुस्थिति, मतदाताओं की बेचारगी, चुनावी नारों और मुद्दों, राजनीतिक दलों के छल-प्रपंच में फंसने की विवशता जैसे कई मसले उठाए गए हैं। यही वह समय है जब भारत ने चीनी आक्रमण का दंश झेला। चीन के युद्धविराम प्रस्ताव पर केंद्रीय लेख 'चीनी प्रस्ताव का एक्स-रे' में इस खतरे के प्रति दीनदयाल जी की दृष्टि ध्यातव्य है, ''कुछ ऐसे शांतिकामी हो सकते हैं, जो चाहेंगे कि एशिया के दो महान् देशों के बीच युद्ध टालने की गर्ज से भारत को यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेना चाहिए, भले ही यह कितना भी अपमानजनक हो। उन्हें यह बताने की आवश्यकता है कि चीन यहीं नहीं रुकने जा रहा है। उन्होंने जो भी हड़पा है, यदि हम उन सभी का समर्पण कर दें तो भी आगे वे और की मांग करेंगे। बीते इतिहास के अतिरिक्त ऊपर से निर्दोष से दिखने वाले इस युद्धविराम वक्तव्य के बिलकुल अंत में यह बात स्पष्ट हो जाती है।'' उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री डॉ. संपूर्णानंद को समर्पित

इस खंड के लिए समर्पण परिचय पांचजन्य के संपादक हितेश शंकर ने लिखा है। भूमिका संघ के सहसरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपाल और 'वह काल' वरिष्ठ पत्रकार बनवारी ने लिखा है।

ग्यारहवें खंड में जनवरी 1963 से लेकर दिसंबर 1964 तक की सामग्री संकलित की गई है। इसमें एक पुस्तक 'सिद्धांत और नीतियां' है। सन् 1964 में आयी इस पुस्तक में भारतीय जनसंघ के राजनीतिक दर्शन के साथ-साथ उसके सिद्धांतों और नीतियों का जिक्र है। इसमें शामिल 'कुछ धारणाएं' शृंखला के लेखों में दीनदयाल जी अपनी विदेश यात्राओं के अनुभवों का जिक्र करते हैं। इसमें उनका मुख्य प्रतिपाद्य दूसरे देशों में भारत संबंधी धारणा है। कश्मीर समस्या, चीन के आक्रमण और पाकिस्तान के विश्वासघाती एवं आक्रामक रवैये पर केंद्रित लेख भी ऐतिहासिक महत्व वाले हैं। भाषाविद् एवं प्राच्यविद् डॉ. रघुवीर को समर्पित इस खंड के लिए समर्पण परिचय साहित्यिकार राजीव रंजन गिरि ने लिखा है। भूमिका स्वामी गोविन्ददेव गिरी और 'वह काल' सांसद डॉ. विनय सहस्रबुद्धे ने लिखा है।

बारहवें खंड में जनवरी 1965 से लेकर दिसंबर 1965 तक की सामग्री संकलित की गई है। यह संकलन संघ के पहले गृहस्थ प्रचारक प्रभाकर बलवंत भैया जी दाणी को समर्पित है। दाणीजी का परिचय दिल्ली प्रांत के सहसंघचालक आलोक कुमार ने लिखी है। भूमिका बिहार के तत्कालीन महामहिम राज्यपाल (अब भारत के महामहिम राष्ट्रपति) रामनाथ कोविंद ने लिखी है और 'वह काल' साहित्यकार सीतेश आलोक है। इसी साल पाकिस्तान के साथ भारत का युद्ध हुआ। प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के नेतृत्व में भारत ने यह युद्ध जीता, लेकिन जो संधि हुई वह भारत के लिए कतई उपादेय नहीं रही। इसमें शामिल पुस्तिका 'विश्वासघात' में इस युद्ध विराम समझौते पर गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं। दीनदयाल जी द्वारा प्रतिपादित दर्शन 'एकात्म मानववाद' पर उनके द्वारा बंबई (अब मुंबई) में दिए गए चार व्याख्यानों की शृंखला और इसी विषय पर राष्ट्रधर्म में प्रकाशित एक लेख भी है। संपादक मंडल को उपलब्ध दीनदयालजी की एकमात्र कविता, जो भैयाजी दाणी के देहावसान पर लिखी गई थी, से इस खंड का आरंभ होता है।

तेरहवें खंड में सन् 1966 के कृतित्व का संकलन है। इसकी भूमिका उत्तर प्रदेश के राज्यपाल राम नाईक ने लिखी है। ऋषिकल्प मनीषि नानाजी देशमुख को समर्पित इस खंड के लिए समर्पण परिचय देवेंद्र स्वरूप ने लिखा है। इसमें लेखों-वक्तव्यों के अलावा दो पुस्तकें भी हैं- पहली 'वचनभंग : ताशकंद घोषणा की शव परीक्षा' और दूसरी 'अवमूल्यन : एक बड़ा पतन'। 'दूरगामी परिवर्तन वाला वर्ष' शीर्षक इसके 'वह काल' में वरिष्ठ पत्रकार राहुल देव लिखते हैं, ''देश पिछले साल अगस्त-सितंबर में पाकिस्तान के साथ युद्ध में जीतने की खुशी, सकारात्मकता और गर्व से अब भी आविष्ट था। सन् 1962 में चीन से अपमानजनक पराजय के बाद 1965 में पाकिस्तान को जमकर मजा चखाने के अनुभव ने देश का आत्मविश्वास और मनोबल खूब बढ़ा रखा था। छोटे कद के सरल, शुद्ध देसी आदमी लगने वाले पौने दो साल पुराने प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने जवाहरलाल नेहरू की विराट छाया से अपने का मुक्त करके, अपने बारे में सारी आशंकाओं को दूर करके देश को पाकिस्तान से युद्ध में निर्णायक जीत दिलाई थी।....इस पृष्ठभूमि में साल शुरू होते ही कल्पनातीत तुषारापात हुआ। ताशकंद में शास्त्री जी की अकस्मात हृदयघात से मृत्यु हो गई।''

चौदहवां खंड 1967 की सामग्री 267 पृष्ठों में समेटे हुए है। यह खंड जना कृष्णमूर्ति को समर्पित है। कृष्णमूर्ति जी का परिचय ला. गणेशन और भूमिका गुजरात के महामहिम राज्यपाल ओम प्रकाश कोहली ने लिखी है। इसी साल दीनदयाल जी भारतीय जनसंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष हुए। 'कांग्रेस के प्रभुत्व का अवसान' शीर्षक 'वह काल' में वरिष्ठ पत्रकार जगदीश उपासने लिखते हैं, ''अमरीका अपने पब्लिक लॉ-480 (पी.एल.-480) के तहत भारत को लाल गेहूँ के रूप में कर्ज देता था। वहां से जहाज आता और राशन बांटता। उस दौर में भारत को दो करोड़ टन से अधिक अनाज का आयात करना पड़ा था। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक समेत कुछ यूरोपीय देश भारत का 'भीख का कटोरा' भरते थे। महंगाई चरम पर थी। यह सोवियत मॉडल पर बनी जवाहरलाल नेहरू की तीन पंचवर्षीय योजनाओं के एकांगी स्वरूप की नाकामी

की मुनादी थी।'' विकेंद्रीकरण की बात तो देश में बार-बार की जाती रही, पर यथार्थ इसके विपरीत रहा। इसका नतीजा है विकास के नेहरू मॉडल की विफलता। दीनदयाल जी इसके मूल निहित गलती की ओर संकेत करते हैं, 'विकेंद्रीकरण की विडंबना' में, ''विकेंद्रीकरण की मौलिक इकाई है- व्यक्ति और कुटुंब। व्यक्ति के प्रयत्नों तथा कुटुंब के सहारे और स्वामित्व के द्वारा सभी व्यापक रूप से विषमता अथवा शोषण की संभावनाएं नहीं उत्पन्न हो सकती हैं।

पंद्रहवें खंड की सामग्री पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के महाप्रयाण के बाद की प्रतिक्रियाओं को समेटे हुए है। यह खंड गाँधीवादी विचारक और इतिहासकार धर्मपालजी को समर्पित है। संपादकीय में संपादक डॉ. महेश चंद्र शर्मा लिखते हैं, ''कालक्रमानुसार उपलब्ध सामग्री तो चौदह खंडों में समाहित हो चुकी थी। यह पंद्रहवां खंड क्या है? वस्तुत: संकलित सामग्री में ऐसी भी सामग्री थी, जिनका कालक्रम ज्ञात नहीं हो सका तथा दीनदयालजी की मृत्यु के बाद कुछ अप्रकाशित सामग्री विविध पत्र-पत्रिकाओं में तथा पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई। इस उपलब्ध सामग्री की मूल लेखन-तिथि इन प्रकाशनों में उपलब्ध नहीं है, अत: विविध शीर्षकांकित इस खंड का प्रणयन हुआ है। ...दीनदयाल जी की मृत्यु के बाद उनके दो वरिष्ठ सहयोगियों श्री भानुप्रताप शुक्ल तथा श्री रामशंकर अग्निहोत्री ने 'राष्ट्रजीवन की दिशा' नाम से एक पुस्तक संपादित की। सामान्यत: इसके सभी अध्याय दीनदयालजी द्वारा दिए गए संघ शिक्षा वर्गों के बौद्धिक वर्गों को संपादित करके बनाए गए हैं। लेकिन इनमें तिथि व स्थानों का कहीं उल्लेख नहीं है।''

संपूर्ण वाङ्मय में दीनदयाल जी की कुल 12 पुस्तकें शामिल हैं। इसके अलावा उनके द्वारा समय-समय पर लिखे गए लेख, दिए हुए व्याख्यान, वक्तव्य, प्रेस वार्ताएँ, कुछ पत्र और पत्रकारों के लिए इंटरव्यू भी समेटे गए हैं। दो ऐसी पुस्तकें भी परिशिष्टों में ली गई हैं जिनके लेखक तो दीनदयाल जी नहीं हैं, लेकिन उनके जीवन और कार्यों से इनका सीधा संबंध जुड़ा है। परिशिष्ट सभी खंडों में हैं और परिशिष्टों में वही सामग्री ली गई है जो दीनदयालजी की लिखी या बोली हुई नहीं है, लेकिन उस कालखंड की राजनीतिक दशा-दिशा का ऐसा चित्र उपस्थित करती है, जिससे पाठक को तत्कालीन समाज और भारतीय राजनीति को समझने में मदद मिले। भले वह छोटी-छोटी घटनाओं के समाचारों के रूप में ही क्यों न हो। पाठक की इसी सुविधा के मद्देनजर पहले से चौदहवें खंड तक हर खंड के प्रारंभिक भाग में एक पाठ 'वह काल' रखा गया है। पंद्रहवें खंड में 'वह काल' की जगह 'अवसान' है।

लेखों के साथ विशिष्ट संदर्भों के क्रम में दी गई पाद टिप्पणियां काफी महत्वपूर्ण हैं। ये संदर्भ को स्पष्ट करने में सहायक हैं। कहीं-कहीं तथ्यगत भूलें और प्रूफ की अशुद्धियां खटकती हैं। अनुक्रमणिका प्रत्येक खंड के पहले हिस्से के अंत में दी गई है, जो कई स्तंभों के बाद मिलती हैं। यह इच्छित विषय की तलाश को पाठक के लिए कठिन बनाती है। यद्यपि परंपरा यही है, लेकिन ऐसे गंभीर प्रयास के मामले में परंपरा तोड़ी जा सकती थी। अंग्रेजी की पुस्तकों में कंटेंट अब प्राय: आरंभ में ही दिया जाता है। छोटी-मोटी त्रुटियों के बावजूद कुल मिलाकर यह एक चिरस्मरणीय प्रयास और संग्रहणीय संकलन है। यद्यपि इसे ही दीनदयाल जी के कष्टति व्यक्तित्व की इतिश्री मान लेना भी भूल होगी। जैसा कि संपादक डॉ. महेश चंद्र शर्मा पहले खंड के संपादकीय में स्वयं स्वीकार करते हैं, ''पचास वर्ष के लंबे कालखंड तथा प्रसिद्धिपराङ्-मुखी प्रवृत्ति का ऐसा मेल हुआ कि जितना हमने संकलित किया है, उससे ज्यादा सामग्री अनुपलब्ध है। आगे कोई अनुसंधानपूर्वक उसे खोजेगा या खोज पाएगा कि नहीं, यह तो नहीं मालूम, लेकिन जितना संकलित करना संभव हुआ, वह तो समष्टि को लोकार्पित हो जाए, इसी आकांक्षा के साथ अधूरेपन से ही क्यों न हो, इस खंड की सामग्री संजाई गई है।'' यह केवल पहले ही नहीं, सभी खंडों के संदर्भ में सच है। अपने महत्वपूर्ण व्यक्तियों कि स्मृति को संजोने के संदर्भ में जब हम पश्चिम की प्रवृत्ति से इस बात को मिलाकर देखते हैं तो लगता है कि अपनी ही थाती के प्रति उदासीनता की हमारी दृष्टि और वैचारिक मताग्रहों के नाते अपनी ही विभूतियों के प्रति उपेक्षा का भाव कितना हानिप्रद है। क्या यह हमें अपने ही पूर्वजों के अनुभवों से वंचित नहीं करती, जिनसे हम लाभ उठा सकते थे।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय को राजनीति में संस्कृति का दूत कहा जाता है। इसका कारण केवल यही नहीं कि वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से भारतीय जनसंघ में आए थे और भारतीय संस्कृति के सुधी अध्येता थे। अपितु यह भी है कि वह मूलतः संस्कृतिकर्मी थे। इसका पता उनके साहित्य से चलता है। उनके द्वारा रचे गए साहित्यिक-सांस्कृतिक निबंधों, उपन्यासों और व्यंग्य के अलावा कविता भी वाङ्मय में शामिल की है।

पी.डी.एफ.
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
2-डी 23 हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी झालावाड़
राजस्थान-326001
Email : drarchnadwivedi@gmail.com

संदर्भ सूची

1. डॉ. महेश चंद्र शर्मा (सं.) : दीनदयाल उपाध्याय, संपूर्ण वाङ्मय, खण्ड एक-पंद्रह, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016।

स्त्री विमर्श और सचेतन कहानीकार

डॉ. शगुफ़्ता खान

हिंदी में 'विमर्श' अंग्रेजी के Discourse शब्द से आया है। जिसका अर्थ है:- वर्ण-विषय पर गंभीर चिंतन-मनन। गंभीर चिंतन और मनन करते समय किसी समस्या या विषय को एक विचार, एक दृष्टि, एक कोण और वैचारिक प्रतिबद्धताओं का समाहार करते हुए उलट-पलट कर देखा जाता है। उसे समग्रता से समझने की कोशिश की जाती है। इसी के कारण यह एक जीवंत बहस बन जाती है। इस प्रकार विमर्श का अर्थ विचार, विवेचन, जाँच, परामर्श आदि समझा जा सकता है।

''स्त्री विमर्श'' दो शब्दों से मिलकर बना है स्त्री और विमर्श। अर्थात् स्त्री को केंद्र में रखकर किया गया चिंतन-मनन। प्रो. रोहिणी अग्रवाल के अनुसार, ''स्त्री को केंद्र में रखकर समाज संस्कृति परम्परा एवं इतिहास का पुनरीक्षण करते हुए स्त्री की स्थिति पर मानवीय दृष्टि से विचार करने की अनवरत प्रक्रिया है।''[1]

नारी को लेकर हिंदी साहित्य में काफी कुछ लिखा जाता रहा है। आरंभिक युग में नारी आदर और सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी। मध्य युग तक आते-आते उसके इस सम्मान को ठेस पहुँचा कर उसे भोग-विलास की वस्तु के रूप में चित्रित किया गया। उसके दु:ख, उसकी पीड़ा और उसकी व्यथा पर शायद ही किसी की दृष्टि गई हो। समय के अंतराल के साथ दृष्टि बदली और आधुनिक युग के साहित्यकारों ने नारी को नायिका के रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसकी पीड़ा और उसकी समस्या को भी उठाया। नारी की पीड़ा को व्यक्त करने वाले साहित्यकारों में प्रेमचंद, पंत, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा आदि का नाम उल्लेखनीय है।

जहाँ तक नारी की अस्मिता को लेकर कहानियाँ लिखने का प्रश्न है सचेतन कहानीकार भी इससे अछूते नहीं हैं। युगीन संदर्भों में बदलते जीवन मूल्य में मध्य नारी जीवन के विविध पक्षों की यथार्थ अभिव्यक्ति सचेतन कहानीकारों की विषय वस्तु बनी है। सचेतन कहानीकार महीप सिंह की रचनाओं में नारी की अस्मिता देखते बनती है। उनकी कहानियों के नारी पात्र सामाजिक संस्कार से सुशोभित होने के साथ ही आधुनिक मानसिकता से भी परिपूर्ण हैं। सामाजिकता को धारण करने वाले पात्र अपने स्वार्थ के विषय में काफी संयम बरतते हैं। अपने छोटे-छोटे लाभों और लोभों का दूसरे के लिए परित्याग करके उन्हें आनंद आता है, सुख मिलता है। सामाजिक सम्बन्धों को तो वह अधिक से अधिक तरजीह देते हैं।''[2] इस संदर्भ में ''ठंडक'' की 'सत्या', ''पड़ोस'' की 'शांति' और ''कितने सम्बन्ध'' की 'जीति' तथा 'मिसेज खन्ना' आदि पात्रों को देखा जा सकता है।

भारतीय समाज की कैसी विडंबना है कि स्त्री (नारी) को देवी समझ कर पूजा करने वाले इस समाज में उसे तरह-तरह से प्रताड़ित किया जाता है उसका शारीरिक शोषण किया जाता है। उसकी पीड़ा का अंत यही नहीं होता उसे इल्ज़ाम लगा के बदनाम किया जाता है। उसे मानसिक रूप से भी प्रताड़ित किया जाता है, अपमानित किया जाता है। उसकी इसी पीड़ा की अभिव्यक्ति का विषय स्त्री विमर्श के महत्त्वपूर्ण विषयों में से है, जिसे महीप सिंह जी की ''मैडम'', ''विगत का डर'', ''एक्स्ट्रा'',

''परवरिश के लिए'' कहानी में महसूस किया जा सकता है। समाज में अकेले जीवन व्यतीत करने वाली महिला के प्रति बनने वाली घिनौनी सोच का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–''मैंने तो आपसे पहले ही कहा था ये स्त्री ठीक नहीं है। मैं तो एक नज़र देखते ही आदमी को पहचान लेता हूँ कि वह कैसा है इसे पहली बार देखते ही मैं समझ गया था कि यह कोई बाज़ारू औरत है।''[3] इस प्रकार ना केवल उसे बदनाम किया जाता है अपितु उसकी मजबूरी, गरीबी का फायदा उठाकर उसका शारीरिक शोषण कर उसे देह व्यापार को मजबूर किया जाता है।

महीप सिंह की ''एक्स्ट्रा'' कहानी में बच्चू सिंह के शब्दों से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। ''भई सती-सवित्रियों की लिए हमारे पास कुछ काम नहीं है। .... जो किसी के छू लेने से छुई-मुई की तरह कुम्हला जाती हैं। उसके लिए इस लाइन में कोई जगह नहीं है .... देखो सावत्री बाई ये फिल्म लाइन है। इसमें सवित्रीपना नहीं चलेगा दूसरी एक्स्ट्राओं की तरफ देखो। वे तुम्हारी तरह छुई-मुई नहीं हैं। इसलिए उन्हें काम मिल जाता है। और वे अच्छे पैसे कमाती हैं। मेरा मतलब समझती हो ना?''[4]

इसी प्रकार ''परवरिश के लिए'' कहानी में आनंद की इन पंक्तियों से इस बात की पुष्टि होती है। ''सस्ती लड़कियों को मैं मुंह नहीं लगाता। पता नहीं किसका पाप मेरे गले मढ़ने आ गई है ...ज्यादा बक बक करने की जरूरत नहीं। मैं तुम कमीने लोगों की आदत को अच्छी तरह से जनता हूँ।''[5]

पुरुष प्रधान समाज में नारी वर्षों से अपने अधिकार की लिए लड़ती आई है। इस समाज में पुरुष स्त्री को प्राप्त करने कर लिए स्वतंत्र है। क्या इसीलिए कि वह पुरुष है? स्त्री अपने पैरों पर खड़ी होकर भी अबला बन कर रह गई है। ''यह भी नहीं'' उपन्यास में पाठक की पत्नी पतिव्रता होते हुए भी तिरस्कृत और निष्कासित रही। तो क्या नारी की यही नियति है? पुरुष ठुकरा कर चला जाता है और नारी उसी नामधारी की चौखट पर सिर फोड़ने को जीवित रहती है।

प्रस्तुत उपन्यास में सुभी जैसी सुंदर सुशिक्षित युवती को भी पुरुष प्रधान समाज में एक नितांत अयोग्य लड़के के साथ जीवन जीने के लिए मजबूर किया जाता है। इसी प्रकार ''अभी शेष है'' की कोमल भी अपने प्रो. पति और उसकी सेक्रेटरी प्रेम-संबंध का पता चलने पर बिना किसी विद्रोह के उसके साथ रहना स्वीकार का लेती है। इसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास की मनजीत अत्यधिक सुन्दर एवं सुशिक्षित होने पर भी अमेरिका में नौकरी करने वाले लड़के के साथ ब्याह दी जाती है।

''यह नारी जीवन की विडंबना नहीं तो और क्या है? कि वह एक चिंगारी की समान असीम आकाश में तड़पती हुई अँधेरे की अनन्य परतों से टकराती है न जाने क्या कुछ पति से पाने की आशा में अनवरत भटकती रहती है। किनारे छूटते जाते हैं ....साथी बिछुड़ते जाते हैं, फिर भी तो जीना पड़ता है क्योंकि हर नारी की कन्धों पर पुरुष प्रधान समाज द्वारा प्रस्तुत क्रॉस लटक रहा है। जिस से मुक्ति असम्भव है।''[6]

सचेतन कहानीकार महीप सिंह की रचनाओं में इन दबे-कुचले शोषित नारी पात्रों के विपरीत कुछ नारी पात्र ऐसे भी हैं जो बोझ की नीचे दब गए हैं पर सचेत हैं। वह इस तरह की बोझ को आजीवन ढोने को तैयार नहीं हैं। वे सचेत होकर अपनी अस्मिता की तलाश की लिए प्रयत्न करती है, तथा अपने बेहतर जीवन की खोज के उपक्रम करने लगती है और यदि आवश्यक हो तो सामाजिकता के अनावश्यक और अतिरिक्त भार को भी उतार फेंकने के लिए तैयार हो जाती है। ऐसी नारियों में 'काला बाप गोरा बाप' कहानी की 'जमीला' तथा 'कील' कहानी की 'मोना' है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में आधुनिक यंत्रीकरण ने यद्यपि व्यक्ति की भौतिक सुविधाओं को तो बढ़ाया तथापि उसे बेकार बनाकर उसकी पारिवारिक अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। परिवार की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने की लिए नारी को घर की चारदीवारी से बाहर निकल कर नौकरी करना पड़ा। बाहर के वातावरण ने उसकी मानसिकता को प्रभावित किया, उसकी सोच को विकसित कर उसे क्रान्तिकारी बनाया। अपने अधिकारों की लिए सचेत बनाया। परिणामस्वरूप वह अपने विचार अपने व्यक्तित्व की बात करने लगी। वह परिस्थितियों अनुसार जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा परिस्थितियों को अपने अनुसार करने में विश्वास करने लगी।

''यह भी नहीं'' उपन्यास की नायिका एक ऐसी नारी

का प्रतिनिधित्व करती है जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होकर अपने ऊपर किसी का प्रभाव स्वीकार नहीं करती। वह अपना भला बुरा समझती है। और अपने पति की इच्छा के विरुद्ध नौकरी करती है। उसके पति सोहन के इन शब्दों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ''मेरी मर्जी की खिलाफ नौकरी करके तुमने यह तो साबित कर दिया, कि तुम पहले की औरतों की तरह घर में पति की इच्छा या सत्ता को ही सब कुछ नहीं मानती हो।''[7]

आधुनिक नारी जीवन में सुरक्षित होने के लिए आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहना चाहती है। वह आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति से शादी नहीं करना चाहती है। आधुनिक नारी इसी मानसिकता का प्रतिनिधित्व करने वाली शांता मिस्टर राय की साथ शादी के विचार को इसीलिए त्याग देती है क्योंकि उसे नौकरी छोड़नी पड़ सकती है- ''वह कहती है - मैं कैसे जा सकती हूँ, मैं अपनी नौकरी नहीं छोड़ सकती।''[8]

स्वयं उत्तरदायित्त्व संभाल लेने के कारण नारी में एक नई चेतना एक नई स्फूर्ति का संचार हुआ है। परिणामस्वरूप वह अपने अहं को महत्त्व देने लगी है। अपने अधिकारों की मांग करने लगी है। नारी का यह रूप पिछले रूप से काफी अलग था जिसे परिवार के सभी सदस्यों को स्वीकार करना मुश्किल होने लगा है। संबंधों में खटास आने लगी है। नारी के इस नए रूप को लेकर सचेतन कहानीकारों ने अनेक कहानियाँ लिखीं जिसमें पारिवारिक विघटन से लेकर नारी के इस अहं-पोषित स्वरूप का चित्रण किया गया है। महीप सिंह की ''लोग'' कहानी में इसी स्थिति का चित्रण हुआ है। प्रस्तुत कहानी में नौकरीपेशा पत्नी, पति को महत्त्व नहीं देती है वह अपने स्व को स्थपित करने के लिए पति की भावनाओं को ठेस पहुँचाने से भी नहीं चूकती, पति के इन शब्दों में उसके दर्द को देखा जा सकता है। ''यदि वह बस थोड़ा सा मेरी भावनाओं की कदर कर लिया करे। पर पता नहीं क्या बात है कि मुझे हर्ट करने में उसे बड़ा स्वाद आता है। बात-बात में वह मुझे खिझाती है टीज करती है। ....मेरे मांगने पर वह एक गिलास पानी भी मुझे पीला देगी। ... मैं क्या तुम्हारी नौकरानी हूँ? तुम्हीं बताओ यह कोई घर है? क्या घर शादी से या धन दौलत से बन जाता है? घर जिस चीज से बनता है वह मुझमें और नीला में कहाँ है?''[9]

इस प्रकार आपसी भावनाओं की अवहेलना तथा स्व को लेकर उनके संबंधों में बिखराव आ जाता है। इसी प्रकार दाम्पत्य संबंधों की मधुर कहानी 'उलझन'' में पत्नी सुरजीत पति द्वारा प्रताड़ित होने पर अपना विद्रोही रूप प्रस्तुत कर देती है। वह कह उठती है ''कि आप पुरुष लोग यह समझते हैं कि जीविका कमाने के लिए आप तो मेहनत करते हैं और यह स्त्रियां घर में बेकार बैठी रोटियां तोड़ती हैं। इसलिए घर गृहस्थी का और अपना जितना भी बोझ इन पर डालो, उतना ही ठीक। किन्तु हम औरतें घर में अपना दिन किस तरह गुजारती हैं। यह हमें ही पता है। आपकी नौकरी तो कुछ घंटों की होती है किन्तु हम चौबीस घंटे के नौकर हैं और ऐसे नौकर कि जिनके काम को काम नहीं समझा जा सकता। आप अपने मालिकों से दया और सहानुभूति की आशा रखते हैं किन्तु हम पर आप शायद भूलकर भी दया नहीं दिखाना चाहते।''[10]

इसी प्रकार ''कील'' कहानी में नारी की मुक्ति की छटपटाहट को देखा जा सकता है। जिसमें वह अपने पिता के अत्यधिक प्रेम और सानिध्य के पीछे छिपी मंशा को भांप कर अपनी मुक्ति की घोषणा करते हुए शादी के लिए तैयार हो जाती है। वह कह उठती है ''नहीं डैडी, यह फैसला मैंने खुद किया है।''[11]

इसी प्रकार ''मैडम'' कहानी की नायिका भी अंत में अपने पति को पाकर ही दम लेती है। लेकिन साथ ही यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि नारी की पुरुष की समान योग्य, आत्मनिर्भर, स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी होने की ललक सकारात्मक है लेकिन जहाँ नारी प्रकृति प्रदत्त शारीरिक सीमाओं तथा समाज निर्मित मान्यताओं वर्जनाओं का उल्लंघन करने लगती है तो समाज में इसके नकारात्मक प्रभाव भी दिखाई देने लगते हैं। बाह्य रूप से नारी चाहे जितनी भी समानता की बातें करे, महिला आंदोलन चला ले, परन्तु रहस्य की बात तो यह है कि वह या तो पुरुष से कम रहेगी या ज्यादा, समान नहीं। आज नारी और पुरुष की स्थिति दो समानांतर रेखाओं की भांति है जो साथ तो चल सकती हैं लेकिन मिल नहीं सकती।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्त्री-विमर्श विषय स्त्री, उसका जीवन और उसकी समस्याओं से जुड़ा है। स्त्री-विमर्श का सही उद्देश्य स्त्रियों की पीड़ा के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। सचेतन कहानीकार महीप

सिंह ने आधुनिक नारी की पीड़ा, संघर्ष और साहस को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने आधुनिक नारी के मनोविज्ञान को चित्रित करने के साथ ही उसके वात्सल्यपूर्ण हृदय का भी चित्र प्रस्तुत किया है। साथ ही अपने दोनों उपन्यासों में नारी को समझने और समझाने की दृष्टि का परिचय इस प्रकार दिया है कि स्त्रियां दो प्रकार की होती है। ''एक उन्हें मां जाती की कहा जा सकता है। और दूसरे वह जिन्हें प्रिय जाति की माना जा सकता है। ऋतुओं से तुलना की जाये तो एक वर्षा की भांति होती है वह ऊपर घुमड़ते हुए बादलों से जल की वर्षा करती है, धरती की तपिश दूर करती है, हमें तृप्त करती है। दूसरी की तुलना वसंत ऋतु से की जा सकती है वह, हमारी नस-नस में उन्माद भर देती है, हमें इस प्रकार उद्वेलित कर देती है कि व्यक्ति तुरंत एक स्वप्निल संसार में पहुँच कर उसमे डूब जाना चाहता है।''[12]

पी. एच. डी. (हिन्दी) 2009
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़ उत्तर प्रदेश
ईमेल : mm_khan1@rediffmail.com

संदर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य - वैचारिक पृष्ठभूमि, सम्पादक लाल चंद गुप्त मंगल, पृष्ठ 229
2. कथाकार महीप सिंह संख्या डॉ. गुरुचरण सिंह, पृष्ठ 105
3. ''मैडम'' सुबह की महक, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 11
4. ''एक्स्ट्रा'' सुबह की महक, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 54-55
5. ''परवरिश के लिए'' क्षणों का संकट, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 42, 43
6. जीवन में कुछ सतत की तलाश-डॉ. ज्ञान अस्थाना, पृष्ठ 215
7. ''यह भी नहीं'' डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 15
8. ''यह भी नहीं'' डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 193
9. ''लोग'' क्षणों का संकट, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 132
10. ''उलझन'' सुबह की महक, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 26
11. ''कील'' क्षणों का संकट, डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 144
12. ''अभी शेष है'' डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 78

काली सहाय

हिंदी साहित्य में श्रम का पलायन एवं प्रवासी पीड़ा

प्रवासी साहित्य हिंदी साहित्य से कोई अलग विधा नहीं है बल्कि उसी की एक शाखा है। प्रवासी साहित्य हिंदी साहित्य को दृढ़ता एवं मजबूती प्रदान की है। प्रवासी साहित्य अघाये हुये लोगों का साहित्य नहीं है जैसे कि कुछ परजीवी साहित्यकारों द्वारा कहा जाता रहा है। प्रवासी साहित्य में भी जीवन है, द्वंद्व है, जीवन संघर्ष की प्रामाणिक अनुभूति एवं सच्चाई है। प्रवासी साहित्य ने हिंदी साहित्य को बहुत कुछ दिया। उसने अपनी संवेदना एवं सृजन शक्ति से हिंदी साहित्य का विस्तार ही किया है। प्रवासी साहित्य अपनी नई चिंताओं, समस्याओं एवं संघर्षों से हिंदी साहित्य को वैश्विक धरातल पर ला खड़ा किया है। प्रवासी साहित्य वादों, खांचों, गुटों, विचारधाराओं एवं विमर्शों से हटकर बड़ी मजबूती एवं संघर्षशीलता से हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान किया है। हिंदी साहित्य में प्रवासी साहित्य के महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता है।

प्रवासी साहित्य का जन्म पलायन और प्रवास की पीड़ा के फलस्वरूप हुआ है। पलायन एवं प्रवास मुख्यत: दो प्रवृत्तियों के कारण होता है–स्वेच्छा एवं विवशता। स्वेच्छा से किए गए प्रवास का मुख्य कारण बेहतर एवं महत्वाकांक्षी जीवन के आस से है। नौकरी एवं उच्च पदों की चाह भी प्रवास का कारण बनती है। बहुत लोगों द्वारा भारत सरकार के उच्च पदों पर आसीन होने के लिए विदेश गए। जहां से उच्च-शिक्षा प्राप्त कर स्वदेश लौट आए, उन लोगों में महात्मा गांधी, वीर सावरकर और हरिवंशराय 'बच्चन' का नाम लिया जा सकता है। कुछ लोग ऐसे भी थे जो उच्च-शिक्षा प्राप्त कर सुख-समृद्धि जीवन के लिए वहीं पर बस गए और वहां की नागरिकता प्राप्त कर ली। किंतु अपनी भारतीय पहचान को बनाए रखें। कमल किशोर गोयनका लिखते हैं कि ''ये भारतीय प्राय: अपने घरों में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं और चाहते हैं कि बच्चों में भी यही प्रवृत्ति बनी रहे। ये यदा-कदा अपनी संवेदनाओं तथा अनुभूतियों को अपनी-अपनी मातृभाषाओं में अभिव्यक्ति करने के निमित्त जवाब की स्थिति में कलम उठा लेते हैं। इन प्रवासी भारतीयों में हिंदी भाषा-भाषियों की संख्या भी काफी है और ये लोग भी अपने प्रवासी जीवन के तनावों संघर्षों के साथ अपने देश की संस्कृति तथा जीवन की अनुभूतियों को अपनी मातृभाषा हिंदी में अभिव्यक्त करते हैं।''[1]

विवशता से किए गए पलायन का मुख्य कारण अंग्रेजों की शोषण एवं दमनकारी नीति थी जिसके चलते लोग निर्धनता एवं दरिद्रता की स्थिति में पहुंच गए थे। अंग्रेजों ने उनके उद्योग-धंधे नष्ट कर दिए लाखों लोग बेरोजगार हो गए। जीविकोपार्जन के सारे साधन सीमित होने से लोग विदेशों की तरफ पलायन होने लगे। मजदूरों को 'शर्तबंदी-प्रथा' के तहत गिरमिटिया मजदूर बनाकर छल प्रलोभन में फंसाकर मारीशस, फिजी, सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिडाड, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में उनकी मातृभूमि से हजारों मील दूर भेड़-बकरियों की तरह भरकर ले जाया गया। अंग्रेजों ने उन्हें गुलाम बनाकर रखा जिससे इन्हें घोर अपमान और यातना का जीवन जीना पड़ा।

गिरमिटिया प्रवासी अपने साथ कई धार्मिक ग्रंथ भी

लेकर गये थे जिससे रामायण, महाभारत, हनुमान चालीसा जैसे ग्रंथ थे। इन ग्रंथों से भारतीयों को अपनी संस्कृति एवं मानवीय मूल्यों की रक्षा में मदद मिली। दिनभर हाड़तोड़ परिश्रम करने के बाद प्रवासी भारतीय अपनी कोठरी में मानस के दोहे चौपाइयों को गाकर अपने कष्टों को भूलने का प्रयास करते थे। इन ग्रंथों से उन्हें बड़ा सम्बल मिलता था इससे कठिन से कठिन कार्य भी वे कर जाते थे। विदेशों में जीवन संघर्षों एवं अन्यायों से जूझने में ये ग्रंथ सहायक हुए। यातनामय जीवन जीते हुए भी ये अपनी संस्कृति एवं जीवन मूल्य को बनाए रखें।

हिंदी का प्रवासी साहित्य इन्हीं प्रवासी मजदूरों की बेबसी, पीड़ा चीत्कार, मौन, आक्रोश की दु:खद गाथा है। हिंदी प्रवासी साहित्यकारों ने कविता, कहानी, संस्मरण, जीवनी, उपन्यास आदि विद्या के माध्यम से प्रवासी जीवन की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। इन साहित्यकारों में तेजेंद्र शर्मा, ऊषा प्रियंबदा, योगेश कुमार, शुषम बेदी, कमलेश चौहान, महेंद्र भल्ला, नरेश भारती, मीनाक्षी पुरी आदि हैं।

हिंदी साहित्य में प्रवासी पीड़ा से संबंधित सूत्र-बिंदु सर्वप्रथम प्रेमचंद की कहानी 'शूद्रा' में देखी जा सकती है। गुलेरी की कालजयी कहानी 'उसने कहा था' में भी प्रवासी भारतीय सैनिकों की छवि इंगित की गई है। 'गोदान' में धनिया-गोबर वार्तालाप में भी मारिच देश का उल्लेख हुआ हैं पंडित तोताराम सनाढय 1893 ई. में गिरमिटिया मजदूर के रूप में फिजी गए थे और 21 वर्ष वहां बिताकर भारत वापस लौटे। उन्होंने अपनी पहली रचना 'फिजीद्वीप में मेरे 21 वर्ष' (1915) संस्मरणात्मक शैली में लिखा है। इस पुस्तक में प्रवास की त्रासदी एवं समस्याओं को पूरे अनुभव के साथ रेखांकित किया गया है। इस पुस्तक को राजनेताओं, साहित्यकारों एवं आम जनता द्वारा अत्यधिक सराहा गया। महात्मा गांधी भी दक्षिण अफ्रीका में प्रवास किए थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा एवं दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह इतिहास में प्रवास से संबंधित अनुभवों का वर्णन विस्तार से किया है।

तोताराम की तरह महात्मा गांधी भी दक्षिण अफ्रीका में 21 साल बिताकर आए। दोनों ने प्रवासी पीड़ा को नजदीक से देखा और अपने साहित्य में लिखा जिससे लोगों को प्रवास की दुर्दशा-पूर्ण जीवन का पता चला। दोनों ने 'शर्तबंदी-प्रथा' को बंद कराने का प्रयास किया। पं. बनारसी चतुर्वेदी ने 'प्रवासी भारतवासी' (1918), 'फिजी में भारतीय' तथा 'फिजी की समस्या' पुस्तकें लिखीं और वहां की प्रवासी भारतीय मजदूरों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया। मारीशस के प्रसिद्ध हिंदी लेखक अभिमन्यु 'अनत' प्रवासी साहित्य पर बहुत कुछ लिखा। उनके चार उपन्यास 'लाल पसीना', 'गांधी जी बोले थे', 'और पसीना बहता रहा' एवं 'हम प्रवासी' तथा रामदेव धुरंधर के उपन्यास 'पूछो इस माटी से' एवं एक त्रिखंडी उपन्यास 'पथरीली सोना' गिरमिटिया प्रवासी भारतीय जीवन का महाख्यान है। इसमें भारतीयों के दमन, शोषण का चित्रण बड़ी मार्मिकता से किया गया है।

विदेशों में प्रवासी मजदूर कुत्तों से भी बदतर जिंदगी जीने को अभिशप्त थे। इसका उल्लेख अभिमन्यु 'अनत' ने 'लाल पसीना' में किया है। गिरमिटिया मजदूरों को जो मजदूरी मिलती थी वह उनके जीवन-यापन के लिए पर्याप्त नहीं थी। अभिमन्यु 'अनत' लिखते हैं कि 'सप्ताह में दो डिबिया चावल, तीन डिबिया आटा, मुट्ठी भर दाल, अंजुली में तेल उसी में दो प्राणियों का गुजारा हो जाता था।''[2] रामदेव ने भी अपने इस उपन्यास 'पूछो इस माटी से' में गिरमिटिया मजदूरों को अन्न-राशन न मिलने पर कैसे गुजारा करते थे के बारे में लिखा है-''चार-चार, पांच-पांच रोज शकरकंद और सफेदकंद पर गुजारा करना पड़ता था। वह भी किसी को एक टुकड़ा मिला तो किसी को बिल्कुल नहीं बांटकर खाया तो मुंह में एक छोटा सा टुकड़ा मिला। जामुन, अमरूद, आम, शहतूत के लिए जंगलों में भागने के लिए हर एक में बेताबी होती थी।''[3]

प्रवासियों में सर्वाधिक उत्तर प्रदेश और बिहार के लोग थे। उन्हें अपनी मातृभूमि छोड़ने का अपार कष्ट था। वे अपने घर-बार छोड़कर पैसों की लालच में मारीशस जैसे देशों में पलायन को मजबूर हो गए। इस त्रासदी पूर्ण जीवन का वर्णन हिंदी साहित्य के भोजपुरी लोकगीतों में देखने को मिलता है-

''सोनवा कारण अइली राम यही रे मारिच देश,
गलि गइले सोनवा शरीर यही रे मारिच।।''[4]

मारीशस में सोना पाने की चाह में पहाड़ों और पत्थरों को काटते काटते अपने सोने जैसे शरीर को भी गला दिया किंतु सोना उन्हें नहीं मिला। भारतीय प्रवासियों की सबसे

बड़ी समस्या यह है कि उनको दोहरी संस्कृति में जीना पड़ता है। वे न तो विदेशी संस्कृति को पूरी तरह अपना पाते हैं और न अपनी संस्कृति को छोड़ पाते थे। उन्हें दोनों संस्कृतियों के बीच जीना पड़ता है। इसी अंतर्द्वंद्व में जीने के कारण उनमें हताशा, निराशा, कुंठा, घुटन जैसी प्रवृत्तियों का जन्म होना स्वाभाविक था। इन मनोवृत्तियों के प्रबल होने पर उन्हें अपनी आत्मीय जनों की याद सताती थी और उन्हें अकेलेपन की ओर ले जाती थी। अकेलेपन और अजनबीपन के कारण उन्हें व्यर्थता-बोध का अनुभव होता था जो अपने घर की ओर लौटने को विवश करता था। इस तरह पराएपन और अजनबीपन से उन्हें अपना जीवन निस्सार लगता था। वे अपनत्व की खोज में दिग्भ्रमित रहते थे। इस तरह दोहरेपन की स्थिति उनमें सदैव बनी रहती थी।

भारतीय प्रवासियों को नस्लभेद एवं रंगभेद की समस्याओं से दो चार होना पड़ता था। अंग्रेज अपने को दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अन्य देशों से आए हुए लोगों से वे अच्छा बर्ताव नहीं करते थे। महेंद्र भल्ला ने 'उड़ने से पेशतर' में नस्लभेद की अभिव्यक्ति की है। अंग्रेज भारतीयों को अपमान-सूचक शब्दों में कहते हैं कि 'ब्रिटेन को साफ रखो, साले, हरामजादे।'

नस्लभेद सिर्फ नौकरियों में ही नहीं सार्वजनिक स्थलों पर भी भेदभाव किया जाता था। कौशलेंद्र 'प्रसन्न' 'जनसत्ता' में लिखते हैं कि ''नस्लीय टिप्पणियों, गालियों एवं हिंसक हमलों से प्रवासी भारतीयों में हमेशा भय बना रहता है। इन सब कारणों से नागरिकता ले लेने के बावजूद उस देश के प्रति अपनत्व की भावना नहीं आ पाती है वे अपने को दूसरे दर्जे का नागरिक समझते हैं। इसी कारण अपने मूल देश से भी संबंध बनाए रखते हैं।''[5]

इस तरह हिंदी के प्रवासी साहित्य में पलायन एवं प्रवास की पीड़ा की अभिव्यक्ति मुखर रूप में देखने को मिलती है। भारतीय प्रवासियों की आशा, अभिलाषा, आकांक्षा, स्वप्नभंग, सांस्कृतिक-आघात, नस्लभेद, अजनबीपन, अकेलापन, आर्थिक-समस्याओं का चित्रण बड़ी सार्थकता से किया गया है। हिंदी प्रवासी साहित्य एक नई दिशा, एक नया विचार, एक नई संवेदना, एक नई दृष्टि से लोगों को अवगत कराया और लोगों को वैश्विक चेतना के धरातल पर उतार दिया है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

संदर्भ-सूची

1. गवेषणा, केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा, अंक 103, पृष्ठ 13
2. लाल पसीना, अभिमन्यु 'अनत', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 79
3. पूछो इस माटी से, रामदेव धुरंधर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1986, पृष्ठ 178
4. लोकनाट्य परंपरा और आधुनिकता, सम्पादक प्रियंका मिश्र, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ 134
5. प्रवास की पीड़ा, कौशलेंद्र 'प्रसन्न', जनसत्ता, मई 2007

Research Paper

Philosophical Foundation of Buddhist Art

Prerna Bhardwaj

When we explore the visual scriptures (sculptures & paintings) enshrined on walls and rooms of the monasteries and nunneries, well arranged and decorated with beautiful paintings, murals and sculptures, then one can realize that how these visual representation transforms the complex philosophical ideas in to a simplified expression of buddhist thoughts and practices.

This artistic visual transformation paved way to develop well define subject of buddhist art. Now beginning with this hypothesis that the buddhist art and it's philosophical foundation will be further explained with a fairly sound understanding of the buddhist philosophical concepts alongwith the aesthetic elements of art.

Art; is a kind of language and means of communication. As it stated,

"expression or application of human creative skill and imagination, typically in a visual form such as painting or sculpture, producing works to be appreciated primarily for their beauty or emotional power."[1]

Therfore, art is the one of the tool which gives the visual impact to our thoughts and ideas. If we consider the art as a language then certainly it should have its own grammar. Thus, the size, shape and colour can be treated as the grammatical foundation of this language called art. Not only the sculpture and paintings; but also the dance, music and drama, is included as a form of art.

Same as the understanding of the philosophy goes with combination of two word ,

First is 'philo' which means 'love' and second is 'sophia' which means 'wisdom'. The love and wisdom both describe the fundamental thought of buddhism. Thus buddhism in it's teachings and practices put more emphasis on its fundamental philosophical thought and ethical application of love and compassion. So, its all about the passion for learning and acquiring knowledge.

As Robert E.Fisher mentioned,

" Buddhist art serves to remind, to support and to reinforce the eternal truths of the religion, and its development and style remain integral to the history of the religion, the two not being easily seprated.Since the ultimate gole of the buddhisim is the transcendence of the delusory world, nirvana or satori,it required an art of highly idealized images, infinitely finer than those apparent in one's mundane existence."[2]

Buddhist art is an essential part of the human culture and heritage. Lots of masterpieces of Buddhist art related with ancient period of Buddhism are available in personal collections of art lovers and the museum around the world. A being can approach Buddhist art in many ways and prospective. This work is a humble effort to understand the Buddhist art in terms of buddhism with relative studies of quantum and neuroscience itself. Research will try to

deal Buddhist art as visual scriptures or visual dhammâ. The focus will be stable on the philosophy or the hidden meaning of the iconography.

Buddhist art in principle is representations of Buddhist philosophical thoughts.such as the depictation of Buddhas, bodhisattvas and host of other divinities. It has also included relatively mundane life events of these divinities alongwith their historical and mythical importance. The religious and ritualistic purposes occupied most important place in Buddhist art.

All existing monuments in India and abroad tell a successive story of visualization and trends of buddhist art through the ages. all the important aspects of buddhism has been reflected through buddhist art. There are few example to understand the philosophical foundation of buddhist art as below:

Figure 1 curtsy google pic

One of the example is the carving of Mahakapi Jataka, which has carved on Railing of the Bharhut stupa. These early period traces, could be considered as the visual scriptures and its philosophy create an impact to follow bodhisattva's life manifested in Jataka stories. This rounded railing depicts the *Mahakapi Jataka* which is story of the Buddha when he was born as a virtuous monkey.

So, for this visual representation, philosophical foundation should considered as to follow the ideal life as depicted in *Mahakapi Jataka*.

Therefore, Buddhist art can be seen as the buddhistic representation of Buddhas and Bodhisattvas their life and teachings that largely have focused on the life of the shākyamuni Buddha and his journey towards the attainment of samyaksambōdhi, the perfect awakening.

So, we can assume that fundamental buddhist concept such as the realisation of compassion and loving kindness (Karunā and Mettā) in the light of the conceptual thought of Pudgalnairatamya and Dharamnairatamya is the philosophical foundation of Buddhist art.

As stated earlier that the Buddhist art is philosophical representation of the buddhist teachings therefore the loving kindness and Compassion is treated as the foundation of the Buddhist Art.

The vision of the life and the world-view is the significant feature of the ancient artistic works. The sense of mental tranquillity and inward vision is the significant feature of the evolution of the Buddhist art.

These art works are the clear manifestation of oneness exists in all of us as an entity and its identity. Thus, art in general, has been inspired by human life its concerns and aspirations and also celebrations and delightment in the mortal life of this world.

This article is a humble effort to explore and examine fundamental principles of Buddhist philosophy and it's application into the aesthetic exposition into the art forms.

Thus the physical posture and facial expressions of Buddhas, Bodhisattvas and other Buddhist divinities form a composite theme.

As Chitrasutra of the Vishnudharmottara, in it's chapter thirty five as Chitrasutra mentions,

"The glances, the moods, limbs and all their auxiliaries, the disposition of hands already defined by me (Markandey) in dance all these are to be known as esisting in art as well, as dance is art supreme."[3]

In Buddhist tradition, evolution of buddhist art and painting was present during the life time of the Buddha.

Slide; 35mm, Relief depicting Story of Rudrayana, from first gallery of Borobudur Stupa, Central Java, Indonesia, ca. 8th century A.D.

The 37th narrative account of the *Divyavadana* is known as Rudraavdanm, In which the king of Roruka named Rudrayana sent some precious gift to his friend Bimbisara, the king of Rajgrah.

In response Bimbisara also wanted to send something very special to the Rudrayana. King Bimbisara requested to the Buddha for his suggestion in this matter. The lord advised to gift a portrait of Tathâgatâ. The king summoned the royal painters but nobody could portray the Buddha figure because of his alluring appearance.

Divyavdana, west wall, panel 70 of 120, Rudrayana

On this, Buddha asked them to draw the outline of his shadow and fill it with colours. On completion the lord wrote down teaching on going to refuge together with twelve organs of interdependent origination in the forward and backward order.

The same reffrence we recived in courier such as,

"From India, Buddhism spread in the first century to almost every part of Asia. Wherever it took root, it brought artistic inspiration and stimulated much of the greatest art that Asia has known. One of the most noble monuments of Buddhist art is the gigantic sanctuary raised from 750 A.D. onwards at Borobudur on the

island of Java. Details, shown here, from one of Borobudur's hundreds of bas reliefs, relate one of the "avadanas" the Buddhist legends of saintly deeds.

Figure 3: curtasy google pic

According to this particular legend there existed in the time of Buddha a realm called Roruka ruled by a Buddhist king named Rudrayana. One day ' a tremendous sand storm buried the kingdom, but the king's minister, Hiru, managed to save its treasures and escaped by sea. After a long and perilous voyage, he finally reached a friendly land and founded agreat city."[4]

The cave paintings of the Ajanta caves shows, historical and philosophical presentation of the Buddha's life included in previous births as an idol of the bodhisattva. It is clearly seen that how chitya worship was important practice during early age.

Here, are the example of selected some paintings and going to discuss about the background off the Buddhist philosophical foundation. Before image construction symbolism was only way to represents the philosophy of Buddhism then we can define the symbolism as to representation of the ideas, emotions and state of mind.

The philosophy of life skills or the charecterstics of the bodhisattva ideal had been depicted in the cave paintings of Ajanta

All existing monuments in India and abroad tell a successive story of visualization and trends of Buddhist art through the ages. all the important aspects of Buddhism has been reflected through Buddhist art. There are few example to understand the philosophical foundation of buddhist art depends on the understanding of the

Figure 5: Depiction of Jataka stories and life of the Bodhisattva ideal

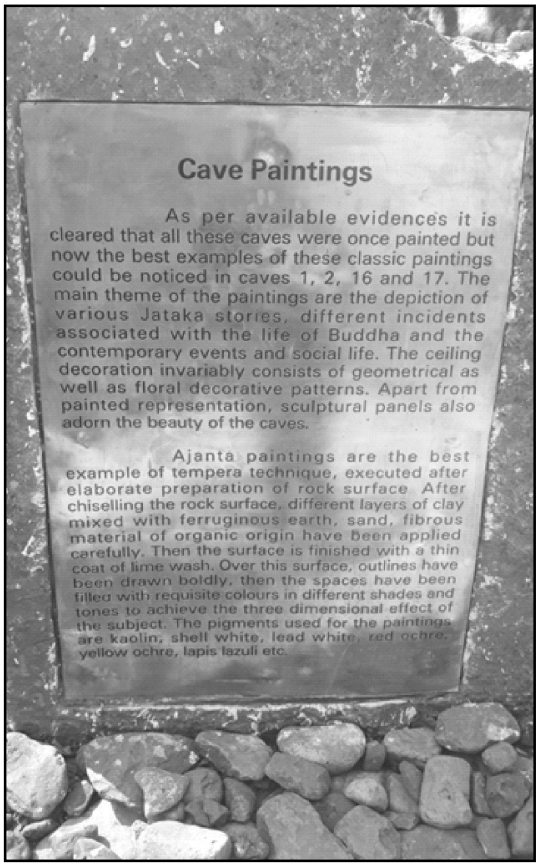

Theravada and Mahayana buddhism manifestation of the karuna, prgya upaya. The manifestation of all three is Avlokateshwara: Manifestation of compassion, Manjushri: Manifestation of wisdom and Vajrapani-: Manifestation of action.

First starts with the Avlokateshwara; embodying

compassion in buddhist art, many faces and many names.

As Lotus Sutra says,

"I will describe him in outline for you— Listen to his name, observe his body, Bear him in mind, not passing the time vainly, For he can wipe out the pains of existence."[5]

Figure 6: Padampâni at Ellora Caves

Bodhisattva Avalokiteshvara has embodied the quality of compassion as per the mahayana philosophy of Buddhism. Arising in tandem with Mahayana (Great Vehicle) precepts, bodhisattvas like Avalokiteshvara are great beings who continually manifest the aspiration to achieve enlightenment—or complete liberation from suffering—and constantly endeavor for the sake of all. Therefore, he (or for some followers, she) is a supremely important figure in the Buddhist pantheon. And yet until now, no American museum has staged a transcultural exhibition solely devoted to Avalokiteshvara. Embodying Compassion in Buddhist Art: Image, Pilgrimage, Practice begins to fill this gap by examining his many manifestations across Asia.

It appears that the Buddhist art fundamentally emerage as a medium of expression of Buddhist philosophical thoughts for the sake of a simple and comprehensive understanding. The images, sculptures, paintings, architectures, mandalas, mudras and other ritual and musical instruments in one way or other represents some of the important aspects of Buddhist ideas.

Such as to explain the non-substanciality of material object (pudgalnairatamya) the cosmic mundal of vajradhatu is formulated similarly to explain dharmanairatamya. The mandala of garbhadhatu is created.

These two mandalas are closely interrelated. Innitially mandalas are projected with coloured dust particles that denotes the impermanence and interdependent origination of the images or the palace created through this medium. In the same way we can understand and appreciate the entire buddhist artin it's philosophical prospective.

Research Scholar, Ph.D
University of Delhi

Bibliography:

- Shivaramamurti.C., *Chitrasutra of the Vishnudharmottara*, New delhi; Kanak puplications. 1978.
- Ashoke Chatterjee Sastri, *The Chitralakshana; an old text of an Indian art,* Calcutta; The Asiatic society. 1987.
- The Dalai Lama, *The Meaning of Life*, translated and edited by Jeffrey Hopkins, Boston: Wisdom, 1992.
- Sri kumara, *Chitralakshana*, chapter on painting in silparatna, ed. Trans. Asok Bhattacharya,Calcutta,1974.
- Ringu Tulku, *Daring Steps Toward Fearlessness: The Three Vehicles of Tibetan Buddhism*, Snow Lion, 2005.
- Sogyal Rinpoche, *The Tibetan Book of Living and Dying,* Harper San Francisco, 2002.

References

1. https://en.oxforddictionaries.com/definition/art
2. Fisher, Robert E., Buddhist Ar and Architecture, London: Thames and Hudson Ltd., 1993, p. 8.
3. Shivaramamurti.C., Chitrasutra of the Vishnudharmottara, New delhi; Kanak puplications. 1978, p.167.
4. The unesco, Courier: A window open on the World, " Borobudur-Exaltation of Buddhist Art" p.g. 43, 9th year,June 1956, The United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization.
5. Burton Watson, trans., The Lotus Sutra (New York: Columbia University Press, 1993), 303.

Research Paper

Jyoti Dwivedi

AN EXAMINATION OF JĀTAKA STORIES AT SĀNCHI

The Jātakas are extremely important for the history of Buddhism, as they give us within reach into popular Buddhism. The whole system of Jātakas is based on the most popular doctrine of Karma, and the ethical ideal of this religion is not the Arhat who has attained to Nirvāṇa, but the Bodhisattva who in all his earlier existence has shown one or more of the great virtues by which he prepared himself for becoming the future Buddha. In his numerous existences before he came to be born as Śakyamuni who was to be the Buddha, the Bodhisattva had been born according to his karma, sometimes as a god, sometimes as a king, or a merchant, or a nobleman, or an outcaste, or an elephant, or some other man or animal. It was thus only necessary to identify the hero or any other character of the story with the Bodhisattva in order to turn any tales, however secular or even playful, into a Jātaka. However, high or low he may have been born, in every Jātaka he is either helpful, kind, and self-sacrificing or brave, cleaver and even possessing supernatural wisdom. Jātakas like those of king Śivi (No. 499), who gave away his eyes as a gift, or the prince Vessantara (No. 547), who even gave away his children as a gift to a wicked brāhmaṇa, are standard texts for this ideal of ethics. The very fact that the Jātaka stories served as favourite topic for sculptures and paintings through all the centuries in all Buddhist countries goes to show the immense popularity of the Jātaka which are found in India in Bhārhut, Sānchi, and Bodh-Gaya in the third or second century B.C. Among the craving on the railings round these stūpas are a number of scenes, each bearing as a title in characters of the third century B.C. the name of Jātaka; and also other scenes without a title but similar in character.

Sānchi stūpas are significant for their gateways, as they contain ornamented depiction of incidents from the life the Buddha and his previous incarnations as Bodhisattvas described in Jātaka tales. Sculptors belonging to different time tried to depict the same story by repeating figures. The Buddha has been shown symbolicallyas one of the sects of the Buddhism opposed the depiction of the Buddha by a human figure. The entire surface of the gateways of the Great Stūpa of Sānchi is enclosed with bas-reliefs representing scenes and decorations. In spite of a inconsistency in the standard of workmanship and treatment due to varying ability of sculptors, the cravings developed and mature in conception, technique and composition. The subject matter of the craving on the gateways are the scenes from the Jātakas, scenes from the life of the Gautama Buddha, events in the subsequent history of Buddhism, scenes relating to the Mānushi-Buddhas, and miscellaneous scenes and decorations.The stories

of the Jātakas centre round the previous births of Gautama Buddha, who is believed to have passed, as Bodhisattva, through innumerable existence as bird, beast, and man, persistently qualifying himself for the attainment of Buddhahood by the greater acquisition (pāramitās) of virtue like dāna, silā, kshānti, virya, jñana, prajnā, bala, etc. The representation of the Jātaka at Sānchi are incredibly rare, the emphasis here being on the incidents of the Master's life itself. Five Jātakas have been acknowledged on the gateways of the stūpa and they are as follow: The Chhaddanta Jātaka (no. 514), The Mahākapi Jātaka (no. 407), The Vessantara Jātaka (no. 547), The Alambasā Jātaka (no. 523), and The Sāma Jātaka (no. 540).

The Chhaddanta Jātaka, in this story the Bodhisattva, born as a six-tusked elephant (Chhaddanta), lived in the Himālaya with his two wives- Mahāsubhaddā and Chullasubhaddā. The latter, imagining the former as her husband's greater favourite, prayed, out of jealous rage, to the Pratyeka-Buddha to be born as a beautiful maiden and to be married to the king of Vārāṇasi, and so that she might have the opportunity of taking revenge on Chhaddanta, and pined herself to death. In her next birth, she became the queen of Vārāṇasi and, under the pretext of illness, persuaded the king to engage a hunter, sonuttara by name, for bringing the tusks of Chhaddanta. Chhaddanta, though wounded by the shaft of the hunter, was all pity for him and helped him to saw off his own tusks. The queen however died out of remorse at the sight of the tusks.

The Mahākapi Jātaka, in this Jātaka the Bodhisattva was born as the chief of eighty thousand monkeys and lived with his retinue on the fruits of a mongo-tree on the bank of the Gangā in the Himālaya region. King Brahmadatta of Vārāṇasi, having come to know about the delicious fruits of the tree, surrounded it with his soldiers. Finding the monkeys in imminent danger of death at the hand of the king's retinue, Boddhisattva jumped to the other bank of the river and cut a bamboo-shoot, one end of which he fastened to a tree and the other of his own waist. As, however the shoot was too short to cover the distance, he stretched himself to catch hold of the branch of the mongo tree and allowed the monkeys to escape by using his body as a bridge. His rival Devadatta, also born as a monkey, finding it a good opportunity to kill him, sprang at his body with a violent jump which broke his heart. Brahmadatta, moved at the sight of this self sacrifice and compassion for fellow-creatures, gently brought him down. Before his death the Bodhisattva gave an instructive discourse to the king, after teaching the king the monkey died. The king gave orders that the monkey king should have a royal funeral. He ordered his wives to carry torches to the cemetery with their hair dishevelled. The ministers sent a hundred wagon loads of wood for the funeral pyre, afterwards honoured him with royal obsequies. The city was decorated and the skull was honoured for seven days. For the rest of his life the king revered the skull as a relic, offering incense and garlands.This story, illustrating the importance of attending at any cost, to the welfare of one's people.

The Vessantara Jātaka, here Bodhisattva, born as Prince Vessantara, was banished from the Sibi kingdom to Mount Vanak as a punishment for his having given away his elephant, endowed with the power of bringing rain, to the Brāhmaṇas of the drought strikes kingdom of Kalinga. Vessantara left his city with his wife Maddi, son and daughter in a beautiful chariot drawn by four horses. On the way he gave away first his horses and next his chariot to the begging Brāhmaṇas and arrived on foot at mount Vanka, where the family lived in a hermitage provided by the god Sakra. The prince next made a gift of his children to the Brāhmaṇa Jūjaka and even gave away his wife to Sakra disguised as a Brāhmaṇa. The latter gave her back, and thought his grace Vessantara was re-united with his father, who freed the children by paying ransom to Jājaka and then journey back

to the capital.This story illustrating the ultimate perfection of generosity.

The Alambasā Jātaka, here the Bodhisattva, was born as a Brahmin in Benares, but lived in a forest home in the Himalayas. A doe, living nearby gave birthto a mole child who had one horn and thus called Isisinga, who the Bodhisattva looked after. Isisinga also becomes an ascetic and became so earnest in his practice, the power of which threatened Sakka, who became jealous and sent a nymph, Alambasa, to tempt him. He lapses but eventually recovers his virtue. This story, testing the virtue and honestyof a group of renunciants.

The Sāma Jātaka, this Jātaka commemorates the story of the filial love evinced by Bodhisattva, born as Sāma (Suvaṇṇasāma). His anchorite parents became blind through snake-bite, and Sāma dedicated his life to their services. One day, when he went down to the river to fill his pitcher, he was shot accidently with a poisoned arrow by the king of Vārāṇasi, who had been out on hunting. Having come to know of the helpless condition of the blind parents, the king, full of remorse, offered his services to the hermit couple. The parents sorrow, however, moved a goddess, through whose grace the boy miraculously recovered his life and the parents their sight.

Episodes of the Buddha's life not only continued to fascinate artists but also retained their popularity with devotees as well as the masses. The episodes inspired some of the greatest relief compositions in Indian art and are to be counted among the world's outstanding narrative sculpture. These relief compositions constitute a veritable biography of the Buddha depicting his past life, spiritual journey from his sheltered life of worldly pleasures and temptations as a young prince to his attainment of the highest knowledge through meditation eventually to reach the state of final extinction (i.e. Parinibbāna).

The biography of the Buddha has to be taken for what it is, a mixture of history and legend, of truth and fiction. The first surprise and difficulty we face does not know where to begin tracing the Buddha's existence, for there is no beginning. The blessed one proclaimed himself, the transmigration of beings (Saṃsāra), O my disciples, has its origin in the remote past. It is impossible to discover a beginning for the beings caught in ignorance, enmeshed by the desire for life, wandering from rebirth to rebirth moaning and weeping and shedding more tears than there are drops of water in the great ocean.

From early on in the Buddhist tradition, the thought developed that Gautama's Buddhahood was not simply the result of a few years of meditation and striving but the product of hundreds of previous lives that are recounted in stories such as the Jātakas and elsewhere. During this time, as a Bodhisattva (Buddha-to- be), he was variously reborn as a human being, as an animal, and occasionally as a divinity, and he performed a variety of meritorious actions, gradually perfecting himself. The Jātakas served to amplify and popularize the life story of the Buddha, by associating him – in his previous lives – with many folk heroes and divinities in India and beyond. At the same time as Buddhism expanded, they provided opportunities for accommodating local cultural and religious beliefs. Jātakasprimarily add Karmic depth to the events of the Buddha's life. In doing so, they not only help clarify the structure of the Bodhisattva's path to Buddhahood but also serve to emphasize the Buddhaḷs perfections. Finally, they also allow the tradition to explain some of the Buddha's shortcomings or imperfections, i.e., to say certain "taboo" things about the Buddha-as- Bodhisattva that it might not want to say about him were it focusing only on his last existence as the Buddha.

In the Pali Jātaka commentary, no fewer than 70 tales feature past karmic relationships between the future Gautama and the future Devadatta. Even more feature his karmic connections to his wife, his mother, or his disciples. All of these stories add karmic depth and breadth to the life story of the

Buddha. They explain not only why certain events happened, but also why they happened to involve certain people. In other words, they show not only the karmic history of the future Gautama, but also its interaction with the karmic history of the others with whom he participates in a sort of collective karma.

At the same time, Jātakas serve to add psychological complexity to that Karmic history. In certain Pāli commentaries Mahāmāyā is presented as being in her mid-forties when she gives birth to the Buddha, a very advanced age especially in ancient India, for becoming a first time mother and one possibly indicative of difficulties in conceiving. These things untold in the life story of Gautama and in the Jātakas it serves no more than a narrative function but can sometimes act as a sort of reservoir for subconscious feelings about the Buddha, members of his family, or members of the Saṃgha.

The Jātakas allow the tradition to tell the same story several times exploring it from many angles. Clearly one life was not enough to say all that needed to be said about the Buddha. According to the 'Introduction' to the Jātaka commentary, eight necessary conditions must meet in Saṃgha for anyone to make a resolve for Buddhahood. Among these are the specifications that one must be a human being – a male human being and that one must make one's resolve in the actual presence of a living Buddha. Thus Buddha's past which was the beginning of his journey towards the light, was necessarily a series of marvellous exploits and sublime sacrifices.

Phd, Research Scholar
Department of Buddhist,
University of Delhi, Delhi

REFERENCES

- Foucher. A, "*The life of the Buddha According to the Ancient texts and monuments of India*" Munshiram Manoharlal, 2003.
- Cunningham Alexander, *The Bhilsa Topes; or Buddhist Monuments of Central India,* London: Smith, Elder and Co. 1854.
- Cunningham Alexander, *Archaeological Survey of India Annual Report*, volume I, Calcutta: Office of the Superintendent of Government Printing, 1871.
- Cunningham Alexander, *Archaeological Survey of India Report*, no. 3, Calcutta: Office of the Superintendent of Government Printing, 1873.
- Dwivedi. Jyoti. "*The Biography of the Buddha based on Sanchi Bas-reliefs*" (M.phil Dissertation) Department of Buddhist Studies, University of Delhi, 2017.
- Law.B.C, "*A History of Pāli Literature*" Indica, 2017.
- Marshall. John, *A Guide to Sānchi*, 3rd edition, Delhi, 1955.
- Mitra. Debala, *Archeological Survey of India: Sanchi*, Government of India, 2003.
- Mitra. Debala, *Buddhist Monuments*, Sahitya Samsad, India, 1971.
- Oldenberg. Hermann, *Buddha: His life, His doctrine, His Order,* (Translated from the German by William Hoey), William and Norgate London, 1882.
- Shastri. M. N, *Buddha: His Life, His Teachings, His Order (Together with the history of the Buddhism)*, Indological Book House Varanasi, India, 1987.
- Strong. J. S. *The Buddha: A Short Biography*, One world Oxford, 2001.
- Strong. John S. *The Legend of King Aśoka: A Study and Translation of the Aśokāvadāna*, Princeton, NJ: Princeton University Press, 1983.
- Thomas. J. Edward, *The Life of Buddha: As legend and History*, Motilal Banarsidass Publisher Limited, 1993.
- Thomas, E.J, *The Life of Buddha as Legend and History,* London, Routledge and Kegan Paul.
- Tiwari, Mahesh, *Nidanakatha (Jātakatthakatha),* Varanasi, Chowkhamba Sanskrit series office, 1970.
- Venerable Piyadassi Thera, *The Buddha, His life and Teachings*, Buddhist Publication Society, 1982.
- Winternitz, Maurice, *History of Indian Literature, Vol. 3,* Calcutta, University of Calcutta, 1933.

आधुनिक हिन्दी कविता की नई दृष्टि और कुँवर नारायण की काव्य-संवेदना

अभिनव प्रकाश

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नवयुग की चेतना का विकास भारतीय राष्ट्रीयता की एक प्राणवान कहानी है, जिसके निर्माण में युग की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था, धार्मिक परिस्थितियाँ और परिवर्तित साहित्यिक मूल्यों का योगदान रहा है।[1] वास्तव में साहित्यिक विकास की प्रक्रिया में कालपरक और परिस्थितिजन्य कारणों से जब कभी कोई परिवर्तन आलक्षित होता है तब उसे नवीन प्रवृत्ति या अभिनव-दृष्टि के रूप में स्वीकार किया जाता है। हिन्दी काव्य-धारा की आधुनिक पृष्ठभूमि भी परिस्थिति-जनीन मनोवृत्तियों का प्रतिफलन है।

भारतेन्दुयुगीन काव्यात्मक परिप्रेक्ष्य ने राजदरबारों की कुत्सित मनोवृत्तियों से निजात पाने की कामना लेकर सन् 1850 ई. के आसपास नवीनता का एक आग्रह बनाया। यह आग्रह सिर्फ कालसापेक्ष न होकर परिस्थिति-सापेक्ष भी था। अंग्रेजी शासन के दुष्चक्र से मुक्ति पाने के लिए राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का अभ्युदय स्वाभाविक था। नवजागरण और नवचेतना के संश्लेष में आधुनिक युगीन मान्यताओं के साथ राष्ट्रीय भावधारा का प्रकर्ष करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रूप में राष्ट्रीय साहित्यकार का अवतरण हुआ। राष्ट्रीयता, देशप्रेम, राष्ट्रोद्धार, स्वदेशी, आर्थिक-मुक्ति और समग्रतः स्वाधीनता की समन्वित धुन लेकर भारतेन्दु अपने विचार को जनता में लाए। उन्होंने एक ओर रीतियुगीन रूढ़िग्रस्त कविता से हिन्दी कविता का संस्कार किया तो दूसरी ओर युगानुकूल परिवर्तन की अलख जगाकर नवचेतना का उन्मेष करते हुए अभिनव काव्य-दृष्टि का शुभारंभ किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय काव्य-प्रवृत्ति की अखण्ड ज्योति द्विवेदी युग, छायावादी युग और प्रगतिवादी युग में भी प्रकाशित होती रही। क्योंकि राष्ट्रीय चेतना और उद्‌बोधन का भाव तीनों प्रवृत्तियों में दिखलाई पड़ता है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने चेतनागत नवीनता के आलोक से प्रयोगवादी और नयी-कविता के क्षेत्र को भी प्रकाशित किया।

हिन्दी कविता पर आधुनिकता का प्रभाव

आधुनिक कविता को नवीन दृष्टि प्रदान करने में तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिवेश का भी विशेष योगदान है। राजनीतिक दृष्टि से यहाँ पर अंग्रेजों का आधिपत्य था और सामाजिक दृष्टिकोण से रूढ़ियों और कुप्रथाओं का प्रचलन था। सन् 1857 ई. के सिपाही-विद्रोह के बाद न सिर्फ यहाँ की राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन हुए बल्कि साहित्य, कला, संस्कृति और तमाम स्थितिगत मान्यताओं में भी लोग परिवर्तन के आकांक्षी बन गये।

साहित्येतिहास का अवलोकन करते हुए आधुनिक चिन्तकों ने माना है कि सिपाही-विद्रोह के बाद हमारे अंदर विचार, राजनीति, भाषा और साहित्य के स्तरों का एकाएक परिवर्तन होने लगे। उनके जातीय संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव यहाँ के जनता पर पड़ने लगा। उनके भारत आगमन और सांस्कृतिक प्रभाव को स्वीकार करते हुए माना गया है कि-''भारतवर्ष में ही नहीं, वरन् एशिया के अन्य विभिन्न भागों में भी अंग्रेजी (तथा अन्य यूरोपीय शक्तियों के) राज्य की स्थापना अपने रूप और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से

संसार के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने प्रत्येक देश के साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में नवीन स्फूर्ति का संचार और जीवन का पुर्नसंस्कार किया।[2]

कहना होगा कि पश्चिमी शासन प्रणाली ने ही आधुनिक कविता को अभिनव-दृष्टि प्रदान करने में विशेष भूमिका निभायी। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति ने भारतीय परिवेश में हलचल पैदा की। यहाँ के चिन्तक, मनीषी और साहित्यकार जाग उठे। उन्होंने भारत के यथास्थितिवादी दृष्टिकोण को झकझोरने का बीड़ा उठाया। इस दिशा में नवोत्थानवादी दृष्टिकोण लेकर राजा राममोहन राय का आगमन होता है। सती-प्रथा, कन्या-वध जैसी सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध धार्मिक अन्धविश्वास के बढ़ते प्रभाव को लेकर उन्होंने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। पौराणिक देवी-देवता तथा अवतारवाद पर आधारित धर्म का खण्डन करते हुए स्वामी दयानंद सरस्वती ने 'आर्यसमाज' की स्थापना की।

इस तरह आगे चलकर 'थियोसोफिकल सोसायटी' का अभ्युदय हुआ। इस संस्था ने ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के चिन्तन से भिन्न भी दृष्टिकोण विकसित किया। पौराणिक धर्म और संस्कृति प्रदान करने वाली इस सोसायटी के रचनात्मक दृष्टिकोण के प्रति **रामधारी सिंह 'दिनकर'** ने लिखा है-

''उसने केवल वेद, उपनिषद और गीता का हवाला ही नहीं दिया, प्रत्युत स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, आदि जिससे जहाँ जो बात मिली सबके द्वारा हिन्दुत्व के प्रचलित समग्र रूप का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया था।''[3]

हम जानते हैं कि विवेकानंद का विचार-दर्शन वेदान्त पर आधारित था। परन्तु उन्होंने उसे युगानुरूप संवेदना के साथ प्रस्तुत किया। उनके द्वारा ईश-आराधना की जगह मानव-पूजा और लोक-सेवा पर अधिक बल दिया। धर्म को वे शक्ति के रूप में ग्रहण करते थे, न कि भीरूता के रूप में। उन्होंने कहा भी था परम्परा का अर्थ है- पर से अपर, अर्थात् पहले से बेहतर।

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रहे हैं। उनकी रचनाओं में प्राचीनता और नवीनता का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारतेन्दु के संबंध में लिखते हैं कि-''अपने सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्‌माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल तथा हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर वह राधा-कृष्ण की भक्ति में भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों तथा टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा एवं समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते हैं।''[4]

वास्तव में भारतेन्दु युग से नयी कविता तक हिन्दी का काव्य इतिहास पाश्चात्य चिन्तन और सृजन से प्रभावित रहा। आधुनिक कालीन हिन्दी का काव्य इतिहास पाश्चात्य चिन्तन के अनेक मानदण्ड लेकर नूतन भावभंगिमा में काव्यात्मक प्रस्तुति की है। प्लेटो के आदर्शवाद अरस्तु के अनुकृति और विरेचन-सिद्धान्त, लोंजाइनस के औदात्य-विवेचन तथा आई.ए. रिचर्डस के काव्य-सिद्धान्तों ने आधुनिक कविता के भावभूमि को नया दृष्टिकोण प्रदान किया। छायावाद की स्वच्छंदतावादी मनोभूमि और प्रयोगवादी की अभिनव प्रतीक-विधान को विकसित करने की पाश्चात्य चिन्तन का अधिक श्रेय है।

छायावाद, प्रयोगवाद, नई कविता में नवीनता

हिन्दी साहित्य में आत्मकथ्य की शुरुआत आदिकाल में ही हो चुकी थी। लोकजीवन और अनुभूति से सम्पृक्त अपभ्रंश साहित्य प्राचीन काव्य प्रतीकों से अलग हटकर जीवन काव्यदर्शों की स्थापना कर चुका था। भक्ति काव्य में हिन्दी की तद्‌भवता भाषा के स्तर पर जैसे विकसित दिखाई पड़ती है, वैसे ही कविता के अनुभूति पक्ष में भी जीवन के दैन्य, करुणा और पूजाभाव को कविता का विषय बनाकर एक आध्यात्मिकता का सृजन किया है।

आधुनिक काल में नवीन परिस्थितियों के कारण ही प्राचीन काव्य प्रतीकों का नया रूप सामने आया। छायावादी कवि 'निराला' राम-काव्य परम्परा में 'राम की शक्तिपूजा' की रचना करते हैं। निराला के 'राम' आज के मनुष्य है, जो दो मन और द्वंद्व (विचार) लेकर साथ-साथ चलता है। यथा-

वह एक और मन रहा राम को जो न थका;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय।[5]

राम की भक्तिपूजा परिस्थिति विशेष और युग-सापेक्षता (Demand of Time) की दृष्टि से लिखी गई है। इस

कविता में आधुनिक-कवि का आधुनिक-बोध स्पष्ट है। वह अपनी रक्षा खुद कर सकता है। प्रयोगवादी कविता के रचनाकार **'अज्ञेय'** लिखते हैं-

दुःख सबको माँजता है।
और
चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिन को माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।[6]

यहाँ कवि अपने निजी अनुभव से रचना के महत्त्व को प्रसंगानुकूल बनाकर वातावरण का निर्माण करता है। हम जानते हैं, 'दुःख' निजी अनुभव है। संकटकालीन परिस्थितियों में ही इसका अनुभव किया जा सकता है। इसलिए कवि कहता है दुबारा जीवन में दुःख न आये। सभी से मुक्त रहो।

यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी कविता की रचना-दृष्टि 'आँखिन देखी' अनुभव जनित और सामाजिक मूल्यों (Social values) पर आधारित है। पुरानी रूढ़िवादिता से यह बिल्कुल अलग है और इसके बिम्ब, प्रतीक, मानवीकरण कल्पना के पुट लिये यथार्थ के धरातल पर मौजूद है। इस धारा के सभी गणमान्य कवि चाहे, 'निराला', जयशंकर 'प्रसाद', मुक्तिबोध, 'अज्ञेय', रामधारी सिंह 'दिनकर' या कुँवर नारायण आदि सभी सामाजिक सरोकार से जुड़े काव्य का ही सृजन कर रहे थे। अब वह आलोच्य विषय के कवि कुँवर नारायण की काव्य-संवेदना पर विचार करेंगे।

कुँवर नारायण की काव्य-संवेदना

कुँवर नारायण 'तीसरा सप्तक' के वक्तव्य में लिखते हैं-''साहित्य जब सीधे जीवन से सम्पर्क छोड़कर बाढ़ग्रस्त होने लगता है, तभी उसमें वे तत्त्व उत्पन्न होते हैं जो उसके स्वाभाविक विकास में बाधक हों। जीवन से सम्पर्क का अर्थ केवल अनुभव मात्र नहीं, बल्कि वह अनुभूति और मनन-शक्ति भी है जो अनुभव के प्रति तीव्र और विचारपूर्ण प्रतिक्रिया कर सके। कोई अनुभव सार्थक तभी माना जायेगा तब वह किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम में प्रतिफलित हो; और यह बिना वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखकर चले संभव नहीं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेरा अभिप्राय उस सहिष्णु और उदार मनोवृत्ति से है जो जीवन को किसी पूर्वाग्रह से पंगु करके नहीं देखती बल्कि उसके प्रति एक बहुमुखी सतर्कता बरतती है।''[7]

आगे अपनी बात स्पष्ट करते हुए कुँवर जी लिखते हैं कि-''वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय उन सिद्धान्तों या मतों से नहीं जिन्हें मार्क्स, फ्रायड, न्यूटन तथा डार्विन स्थापित कर गये, बस उस बौद्धिक स्वतंत्रता से है जो सदा से जीवन के प्रति निडर और अन्वेषी प्रश्न उठाती रही है।'[8]

कहना न होगा कि उनकी काव्य-संवेदना में बौद्धिकता का समावेश है और यही उनकी कवि-दृष्टि को आगे बढ़ाती है। तीसरा सप्तक में उनकी पहली कविता है-**'ये पंक्तियाँ मेरे निकट'**-यथा

''कभी भी पास मेरे नहीं आये:
मैं गया उनके निकट उनको बुलाने,
गैर को अपना बनाने;
क्योंकि मुझमें पिण्डवासी
है कहीं कोई अकेली-सी उदासी
जो ऐहिक सिलसिले से दूर
कुछ सम्बन्ध रखती उन परायी पंक्तियों से!
और जिसकी गाँठ भर बाँधता हूँ
किसी विधि से
विविध छन्दों के कलावों से।[9]

''मैं गया उनके निकट उनको बुलाने। गैर को अपना बनाने।'' उन्हें जब महसूस होता है कि अमुख अनजान है फिर भी अपनेपन का भाव है तभी उसे अपना बनाते हैं। किसी के कहने पर वे नहीं जाते हैं। अपने अनुभव से परीक्षण करते हैं। शमशेरबहादुर सिंह भी लिखते हैं-

''ईश्वर, अगर मैंने अरबी में
प्रार्थना की तू मुझसे
नाराज हो जाएगा?
अल्लाह, याद मैंने संस्कृत में
सन्ध्या कर ली तो तू
मुझे दोजख में डालेगा?
लोग तो यही कहते घूम रहे हैं
तू बता, ईश्वर!
तू ही समझा मेरे अल्लाह!''[10]

यहाँ स्थिति-परिस्थिति की पेंचों-पेच से ईश्वर का काम ईश्वर पर ही छोड़ा जा रहा है। इसी के समानांतर कुँवर नारायण जी को हम पढ़ सकते हैं, जब वे लिखते हैं-

''एक अजीब सी मुश्किल में हूँ इन दिनों-
मेरी भरपूर नफरत कर सकने की ताकत
दिनों दिन क्षीण पड़ती जा रही
अंग्रेजों से नफरत करना चाहता
(जिन्होंने दो सदी हम पर राज किया)
तो शेक्सपियर आड़े आ जाते
जिनके मुझ पर न जाने कितने एहसान हैं-
मुसलमानों से नफरत करने चलता,
तो सामने गालिब आकर खड़े हो जाते-
अब आप ही बताइए
किसी की कुछ चलती है, उनके सामने?''[11]

हम जानते हैं कि प्रेम और करुणा और करुणा से संश्लिष्ट-बोध आरम्भ से ही कुँवर नारायण जी के कविताओं का स्थायी स्वर रहा है। वह कभी छोटी कविताओं द्वारा तो कभी बड़ी कविताओं के माध्यम से अपनी भावुकता को अभिव्यक्त करते रहे हैं। वे कभी भी कोरी भावुकता को प्रश्रय नहीं देते। उनके लेखन में गंभीर और अगंभीर तत्त्व एक-दूसरे के पूरक ही दिखायी देते हैं। इसी कारण उनकी काव्य संवेदना ने गहन अंधकार और गहरे संकट में भी धैर्य और विश्वास का स्वर मुखर किया। एक छोटी सी कविता की द्रष्टव्य है-

''कोई भी दु:ख
मनुष्य के साहस से बड़ा नहीं
वही हारा
जो लड़ा नहीं।''[12]

उनकी कविता की एक खासियत है कि वह वर्तमान को विस्तृत करने के लिए मिथक और ऐतिहासिक पात्रों का सहारा लेते हैं। **'इन दिनों'** कविता संग्रह में संग्रहित आचार्य अभिनव गुप्त पर कविता हो या अमीर खुसरो पर! सभी को कवि वर्तमान संदर्भ में हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यथा-

''भूल जाना मेरे बच्चों कि खुसरो दरबारी था
वह एक ख्वाब था
जो कभी संगीत,
कभी कविता
कभी भाषा
कभी दर्शन से बनता था।

वह एक नृशंस युग की सबसे जटिल पहेली था, जिसे सात बादशाहों ने बूझने की कोशिश की।''[13]

कवि अमीर खुसरो को ऐतिहासिक उपलब्धि मानते हुए पाठक से भूल जाने को कह रहा है। क्योंकि अब न खुसरो पैदा होंगे और न उनके जैसे संगीतकार! कवि कुँवर नारायण अपनी भाषा और दर्शन से ही भूल जाने को कह रहे हैं लेकिन उनकी संवेदना हमें अलग दृष्टि दे रही है। भाषा के माध्यम से तो वे भूल जाने को कह रहे हैं। लेकिन काव्य-तत्त्व में उन्हें पहेली मान रहे हैं।

वरिष्ठ आलोचक पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि ''वास्तविकता यह है कि कुँवर नारायण का काव्य-संसार अपनी विवेकसम्पन्नता का सर्वाधिक भास्वर प्रमाण भी नैतिक-राजनैतिक में अन्तर (बल्कि कई बार तो विरोध) को स्वीकार करने से इंकार करने में देता है। इस तरह से आरोपित द्वैधभाव और खंड दृष्टि को नकारने की प्रतिज्ञा कुँवर नारायण कविता में भी निभाते हैं, और वक्तव्य में भी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुँवर नारायण यह विवेचना संभव करते हैं; संवेदना और विचार के नाजुक सन्तुलन को अपनी काव्यभाषा में निरन्तर साधते हुए।''[14] उनकी संवेदना ही उनकी भाषा का आधार है। कबीर की तरह ही भाषा उनके सामने लाचार सी दिखती है। क्योंकि दर्शन और विचार की प्रधानता उन पर हावी है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल-abhisolanki88@gmail.com

संदर्भ सूची

1. हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा- एक समग्र अनुशीलन, डॉ. देवराज शर्मा 'पथिक', पृ. 66
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ. लक्ष्मी

सागर वार्ष्णेय, पृ. 3
3. सस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ. 446
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 451
5. राम की शक्ति-पूजा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ. 103
6. सर्जना के क्षण-'अज्ञेय' भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-3, पृ. 28
7. तीसरा सप्तक-सं. 'अज्ञेय' भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-3, पृ. 154
9. वही, पृ. 158
10. कुछ कविताएँ, शमशेरबहादुर सिंह, पृ. 108
11. कोई दूसरा नहीं, कुँवर नारायण, पृ. 31
12. प्रतिनिधि कविताएँ (कुँवर नारायण) सं.-पुरुषोत्तम अग्रवाल, पृ. 138

शोध-पत्र

स्वाधीनता संग्राम का आईना

अदिति झा

कल तक जिन मासूमों को हिन्दू-मुस्लिम का अंतर तक नहीं पता था, मिट्टी के घरौंदे बनाकर जो आपस में खेलते थे, कबड्डी के दावपेंच सीखते थे, आज वे अचानक बड़े हो गए। धर्म ने उनकी रगों में जगह बना ली थी। इन मासूमों ने कभी सोचा भी नहीं था कि मजहब उनके मध्य दीवार खड़ी करके, कभी न बुझने वाली रक्त की प्यास जगा देगी। अंतहीन सांप्रदायिक दंगे, नग्न क्रूरताएँ, मौत का भैरव राग, स्त्रियों की लुटती अस्मत, बच्चों की चीत्कारों के बीच भारत भले ही आजाद हो गया हो लेकिन सही मायनों में आज भी आजाद नहीं हुआ है। सांप्रदायिक ने आजाद भारत को कभी न भूलने वाले जख़्म दिए हैं, देश की साझी सांस्कृतिक विरासत को लहुलुहान किया है। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि जख़्म भरने के स्थान पर दिन-प्रतिदिन और गहरे होते जा रहे हैं। वरिष्ठ लेखक मनु शर्मा का बहुचर्चित उपन्यास 'घरौंदा' एक बार फिर से भारत की साझी संस्कृति व राष्ट्रीय चेतना को जगाने प्रयास करता है जो बदलते समय के साथ कहीं न कहीं हाशिए पर चली गई है। तीन उपन्यासों की शृंखला का पहला उपन्यास 'घरौंदा' मानवीय मूल्यों की इबारत लिखते हुए राष्ट्रीय चेतना के नये आयामों को उद्घाटित करता है। स्वाधीनता आंदोलन को केन्द्र में रखकर इस उपन्यास का तानाबाना बुना गया है। उपन्यास के प्रत्येक खंड में स्वतंत्रता आंदोलन की गुंज सुनाई देती है। 'फूट डालो शासन करो' की नीति के कारण हिन्दू-मुसलमान में बढ़ता विभेद, गांधीजी की अहिंसात्मक राजनीति और युवाओं के चहेते नेता सुभाश चंद्र बोस की उग्रता, अंग्रेजी शासन का दमन, फिरंगियों के प्रति गुस्सा व खीझ तथा स्त्री के प्रति सम्मान का प्रश्न इस उपन्यास का केन्द्रीय बिन्दु है। लेखन ने कुशल कारीगर की भाँति घटनाओं-प्रति घटनाओं को जोड़कर इतिहास के उस कालखंड को सजीव करने का प्रयास किया है जो न केवल भारतीय इतिहास बल्कि विश्व इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जग्गू के पिताजी की मृत्यु से शुरू हुई कथा आहिस्ता-आहिस्ता व्यापक कलेवर धारण करने लगती है, देश-दुनिया की घटनाएँ सहज रूप से कथा का अंग बनती चली जाती हैं। पाठक सहजता से उपन्यास के साथ तालमेल बैठा लेता है। पाँच-छह वर्ष का बालक जग्गू निश्चल दृष्टि से दुनिया को देखता है। उसे समूची दुनिया सरल-सहज लगती है। जग्गू सांसारिक प्रपंचों से मुक्त है। संभवतः लेखक का यह आग्रह हो कि हम भी जग्गू की नज़र से दुनिया को देखें और समझें।

उपन्यास की शुरुआत सांप्रदायिक दंगों से होती है। यद्यपि इसकी पृष्ठभूमि बहुत पहले बन चुकी थी। हिन्दू-मुसलमान एकता अंग्रेजी शासन के सामने बहुत बड़ी दीवार थी। होली-मुहर्रम एक साथ मनाने वालों ने कभी सोचा भी नहीं था कि उन्हें एक दिन कर्फ्यू के साये में जीना पड़ेगा। सन् 1857 के विद्रोह से अंग्रेज भारतीय मानसिकता को समझ गए थे, गंगा-जमुनी तहजीब यानि की दोनों धर्मों की एकता का लौहा मान लिया था। सांस्कृतिक जुगलबंदी अंग्रेजों के गले का फंदा बन गयी

थी। लम्बे समय तक गुलाम बनाये रखने के लिए विभेद जरूरी था। चूँकि सत्ता की बागडोर उनके हाथ में थी इसलिए उन्होंने छल-प्रपंच का सहारा लेते हुए। दोनों धर्मों को राजनीतिक के अखाड़े में ला पटका। 20 जुलाई सन् 1905 को लॉर्ड कर्जन ने एक आदेश के द्वारा बंगाल को धर्म के आधार पर दो भागों में विभाजित कर दिया। भारतीय राजनीति पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ा। भारतीय मानस दो स्थायी भागों में बंट गया। मनु शर्मा के अपन्यास में विभाजित मानस की पीड़ा को महसूस किया जा सकता है। सांप्रदायिकता ने लेखक को अंदर तक त्रस्त कर दिया है। दु:ख की बात तो यह है कि गली-कूचों में खेलने वाले बच्चे भी इससे नहीं बच पाए। ''हमीद सुलेमान का इकलौता बेटा था।... मुश्किल से तीन-चार वर्ष ही बड़ा था, पर संसार की जानकारी के क्षेत्र में...बहुत आगे निकल गया था।''[1] देश में घटने वाली घटनाओं ने उसे बहुत ही कम समय में परिपक्व बना दिया था। हिन्दू-मुस्लिम की घृणा से परिचित हो चुका था। मुस्लिम होने को कारण हिन्दू बच्चे उसके साथ खेलने से बचते थे, घृणा करते थे। बदलते सामाजिक व्यवहार ने उसे व्यवहार कुशल बना दिया है। समय को भांपने में वो जग्गू से ज्यादा कुशल है। दोनों अच्छे मित्र हैं लेकिन धर्म ने उनके बीच की दूरियां बढ़ा दी हैं। हमीद परिवार के साथ अपनी खाला के घर जा रहा है। जग्गू को यह सवाल परेशान करता है कि आखिर क्या बात है कि हमीद ऐसे अचानक क्यों जा रहा है! जग्गू पूछता है तो वो कहता है कि दंगा होने वाला है। अब जग्गू सोचता है-

''यह दंगा क्या होता है?''

''दंगा मतलब हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई।'' उसने (हमीद ने) कहा।

तो हिन्दू मुसलमान लड़ेंगे? क्या यह लड़ाई हनुमानजी के अखाड़े में होगी?

वह जोर से हँसा, जैसे मेरे अज्ञान का वह मजाक उड़ा रहा हो।''[2]

''हमीद ने मेरा और मेरी बुद्धि का परिहास करते हुए बताया कि दंगा क्या होता है? हिन्दू मुसलमान एक-दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन जाते हैं। एक-दूसरे की संपत्ति नष्ट करने का बीड़ा उठाते हैं। दुकानें लूटी जाती हैं, मकान जलाए जाते हैं। किंतु यह सब क्यों? मेरा अबोध मन समझ न पाया। मैंने हमीद से पूछा, 'आखिर हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के दुश्मन क्यों हो जाते हैं?'

उसने कुछ ठीक उत्तर नहीं दिया। केवल इतना ही बोला, 'दंगे में ऐसा ही होता है।'

'तो सब हिन्दू सब मुसलमान एक-दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं?' इस बार मेरे स्वर में आश्चर्य की मात्रा अधिक थी।

उसने सिर हिलाकर कहा, 'हाँ।'

मेरी आकृति पर भय और आशंका की रेखाएँ उभर आईं। मैं बड़े दयनीय स्वर में बोला, ''हमीद तब तो तू भी मेरी जान ले लेगा। तू मुसलमान जो ठहरा और मैं हिन्दू। देख, मैं तुमसे कितना कमजोर हूँ, हमीद।'' मेरी कातर दृष्टि उसकी आँखों की ओर गई। उनमें अगाध स्नेह था।

उसने बड़े प्रेम से मेरे कंधे पर बायाँ हाथ रखकर कहा 'ऐसा कैसे होगा? जग्गू, हम लोग तो दोस्त हैं।'

'क्या हिन्दू मुसलमान आपस में दोस्त नहीं होते।'

'होते हैं।'

'तब दंगा क्यों करते हैं।''[3]

जग्गू और हमीद की वार्तालाप को महज दो मित्रों का संवाद मानना भूल होगी। दरसअल, यह संवाद उन दो समुदायों के बीच का है जो वर्षों से भारत की जमीन पर प्रेम पूर्वक रहते आए हैं। जग्गू और हमीद धर्म के कथित ठेकेदारों के सामने सवाल रखते हैं, जिनकी दुकानदारी दंगों पर टिकी हुई है। दंगों ने बच्चों की मासूमियत को निगल लिया है। एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं। सभ्य समाज के लिए यह अत्यंत घातक है। बाल मन में पनप रही असुरक्षा का ऐसा सजीव चित्रण सुधी पाठकों को झकझोर देता है।

अंग्रेजों की नीति पूरी तरह कामयाब हो चुकी थी, समूचा बनारस भयभीत था। साझी सांस्कृतिक विरासत को लोग भूला चुके थे। अपने-अपने धर्म की रक्षा की खातिर दोनों समुदाय के लोग घरों में हथियार जमा कर रहे थे। धर्म-युद्ध के तथाकथित योद्धा अंग्रेजों से मुकाबला करने की जगह आपस में मुकाबला करके एक-दूसरे को मारने पर तुले थे। बनारस की गलियों में एक तरफ 'हर-हर महादेव' तो दूसरी ओर 'अल्ला-हो-अकबर' के नारे लगने

लगने लगे। हिन्दुओं के मुहल्ले में मुसलमान असुरक्षित हैं और मुसलमानों के मुहल्ले में हिन्दू। दंगाई धर्म की सेवा के नाम पर चंदा उगाहते हैं। जग्गू के चाचा की परचून की दूकान है। धर्म की सुरक्षा के नाम पर चन्दर आधी रात में उनसे मिट्टी के तेल का टिन ले आता है। दंगा भड़काने के लिए विश्वनाथजी के मंदिर में गाय की हड्डी फेंक दी जाती है और मस्जिद में सूअर की हड्डी। लेखक के शब्दों में ''आज होली का दिन था। यद्यपि नगर में खून की होली हो रही थी।''[4] पूरे शहर में कर्फ्यू लग गया था। सियासी खेल में सबसे ज्यादा नुकसान आम जनता का हो रहा था। खास बात तो यह है वे इस सियासी खेल को तो समझ रहे हैं लेकिन मजहब के नाम पर मरने वाले नहीं समझा पा रहे थे। मजदूरी करने वाला मँगरू, राम किशुन जानते हैं कि दंगे के पीछे अंग्रेजों का हाथ है। ''रामकिशुन कह रहा था कि यह सब अंग्रेजों की ही करामात है। उसने तो यहाँ तक कहा कि उन्हीं लोगों ने मंदिर और मस्जिद दोनों जगहों पर हड्डी फेंकवाई है और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को भड़काने के लिए प्रचार किया है।''[5] सुमेर चाचा कहते हैं ''उनकी इसमें एक बहुत बड़ी चाल है। हम लोग स्वराज्य जो माँग रहे हैं, वह हमें लड़ाकर यह साबित करना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान स्वराज्य के काबिल नहीं है। हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं। हिन्दू अपनी होली खराब करता है और मुसलमान मुहर्रम।''[6] जग्गू अपनी माँ से प्रश्न करके सबको चौंका देता है कि ''क्यों माँ, जानवरों में हिन्दू मुसलमान नहीं होते?''[7]

धर्म नामक संस्था को मनुष्य ने जन्म दिया है। कालान्तर में सत्ता से जुड़ने के बाद धर्म के ठेकेदारों द्वारा बुने गए मिथकों के इस जाल में जन-सामान्य इस कदर उलझा कि वह आजतक नहीं निकल पाया है। रामकिशुन धर्म व सत्ता के समीकरण को समझते हुए समस्या की जड़ तक जाता है। वह कहता है ''जन्म के पूर्व भी आदमी ईश्वर के निकट रहता है और मौत के बाद भी वह ईश्वर के पास चला जाता है। जिंदगी का जामा पहनकर ही वह ईश्वर से दूर होता है और तब बड़े से बड़ा खुराफात करता है। ईश्वर की कृतियों में भी सुधार आरंभ कर देता है। ईश्वर ने धरती बनाई, उसमें सुधार कर मंदिर और मस्जिद बना दिए। ईश्वर ने दिन बनाए और आदमी ने उसे सुधार कर होली और मुहर्रम बना दिए। ईश्वर ने आदमी को बनाया और आदमी स्वयं ईश्वर को बनाने लगा। मजहबी लिबास पहनाकर उसे भगवान और अल्लाह के रूप में अलग-अलग कर दिया।''[8]

लेखक के कथन में एक बात और जोड़ी जा सकती है कि आदमी ने सामाजिक विभेद करने के लिए जातियों का जाल बुना, कुछ को अछूत बनाया तो कुछ को छूत। दरअसल, यहाँ ईश्वर का संबंध किसी धर्म विशेष के ईश्वर से नहीं है, बल्कि सामान्य जनता की उस आस्था से है जिसे वो विपत्तिकाल में स्मरण करता है। ईश्वर द्वारा बनाई दुनिया में आदमी सुधार नहीं करता बल्कि उसे बिगाड़ देता है, विकृत कर देता है। स्वार्थवश ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि के मुँह पर कालिख पोत देता है। हिन्दू दंगाईयों द्वारा हबीब को चारपाई से बांधकर जिंदा जला देना इसी का परिणाम है। सांप्रदायिकता की आग में जलते हुए चंदर ने भूत-भविष्य की परवाह न करते हुए हबीब को जिंदा जला दिया। यह वही हबीब है जो रामायण के पाठ में अपनी ढोल मुफ्त में दे दिया करता था। दंगाईयों ने तो मासूम मजीद को भी नहीं बख्शा, कुएं में फेंक कर मार दिया। बनारस समरसता की भूमि है। हबीब अली 'रामायण' के पाठ में ढोल बजाता था, उसकी ढपली के बिना मैदागिन में किसी के यहाँ सोहर नहीं गाई जाती थी। हबीब दंगों में मारा जाता है लेकिन आज भी उसकी यादें बनारस की गलियों में जीवित हैं।

आलोच्य उपन्यास में सर्वत्र स्वतंत्रता संग्राम की गूँज सुनाई देती है। इसमें बनारस तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में होने वाली राजनीतिक हलचल को महसूस किया जा सकता है। गांधीजी के विराट व्यक्तित्व का प्रभाव देश-विदेश में पड़ रहा था, ऐसे में बनारस कैसे अछूता रहता। ''गांधीजी 46 वर्ष की आयु में सन् 1915 में भारत लौटे। पूरे एक वर्ष तक उन्होंने देश का भ्रमण किया और भारतीय जनता की दशा को समझा।''[9] गांधीजी के आने से स्वाधीनता संग्राम की दशा बदल गई। एक वर्ष तक देश का भ्रमण करके, जो दृश्य उन्होंने देखे उससे अधिकांश नेता अनजान थे। गांधीजी ने गाँव-देहात के गरीब मजदूरों तथा किसानों की समस्या को बहुत नजदीक से देखा तथा महसूस किया था। यह अकारण नहीं है कि उन्होंने पहला

आंदोलन किसानों की समस्या को लेकर किया। बिहार के चंपारण (1917) जिले से जिस क्रांतिकारी आंदोलन की शुरुआत हुई, वह क्रमशः वर्ष-दर-वर्ष बढ़ती गई, कुछ समय बाद ही गांधीजी ने अहमदाबाद में मजदूरों के हक में अंग्रजी प्रशासन को चुनौती दी। खेड़ा जिले में किसानों की फसल चौपट होने पर जब सरकार किसानों का लगान माफ नहीं कर रही थी तब गांधीजी किसानों के हित में खड़े हुए। साधारण जनता के पक्ष में खड़े होने से गांधीजी की लोकप्रियता बढ़ने लगी। विपिन्न चंद्र ने इस विषय में लिखा है ''इन अनुभवों ने गांधीजी को जनता के घनिष्ठ संपर्क में ला दिया, और वे जीवन भर उनके हितों की सक्रिय रूप से रक्षा करते रहे। वे वास्तव में भारत के ऐसे पहले राष्ट्रवादी नेता थे जिन्होंने अपने जीवन और जीवन-पद्धति को साधारण जनता के जीवन से एकाकार कर लिया था। जल्द ही वे गरीब भारत, राष्ट्रवादी भारत और विद्रोही जनता के प्रतीक बन गए।''[10] खिलाफत आंदोलन, असहयोग आंदोलन तथा नागरिक अवज्ञा आंदोलन ने स्वतंत्रता संग्राम की दिशा ही बदल दी। स्वतंत्रता संग्राम में गांधीजी के आने से स्त्रियों की भी परंपरागत छवि टूटी, अभी तक वे घर की चहारदीवारी में कैद थीं। घर की चौखट के बाहर की दुनिया से अनजान थीं। गांधीजी ने उन्हें आधी जनसंख्या का प्रतिनिधि मानकर, दहलीज लांघने के लिए प्रेरित किया। वे घर से बाहर आकर राजनीति में सक्रिय हुईं। इससे पहले ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती थी। गांधीजी यह समझते थे कि जब तक स्त्रियाँ इस लड़ाई में भागीदारी नहीं करेंगी तब तक यह लड़ाई अधूरी रहेगी। अंग्रेजी शासन के खिलाफ सबको एकजुट होकर लड़ना होगा। समाज के प्रत्येक वर्ग को अपनी हिस्सेदारी सुनिश्चित करनी होगी। सांप्रदायिकता के कारण हिन्दू-मुस्लिम भले ही बंट गये हों, वे अलग-थलग महसूस करते हों, लेकिन अब समय आ गया है कि वे मिलकर एकजुटता का परिचय दें। आलोच्य उपन्यास में इसे देखा जा सकता है। हिन्दू मुस्लिम दोनों समुदाय के लोग साझी संस्कृति के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए, गांधीजी के एक आह्वान पर शीश कटाने से भी नहीं हिचके। जगुआ मंदिर में हनुमान से आजाद होने की दुआ माँगता है और इधर दानिश मस्जिद में अल्लाह से आजादी की दुआ माँगता है। दानिश कहता है ''जब मंदिर और मस्जिद दोनों आजादी के लिए तड़प उठेंगे, तब कोई कारण नहीं कि अंग्रेज यहाँ रह जाएँ।''[11]

गांधीजी का विराट व्यक्तित्व भारतीय जनमानस को झकझोर रहा था, उनकी स्वीकार्यता देश-विदेशों में तेजी से बढ़ रही थी। जनता ने उन्हें और उनके विचारों को मुक्त हृदय से स्वीकार किया था। गांधीजी के विचारों ने राजनीति में मौलिक और दूरगामी बदलाव किए, उन्होंने राजनीतिक मुद्दों के साथ-साथ सामाजिक मुद्दों को भी उठाया था, पहले ऐसा नहीं था। सामाजिक और राजनीतिक मुद्दे अलग-अलग थे। दोनों के बीच गहरा विभाजन था। गांधीजी ने विभाजन को पाट दिया था। भारी संख्या में महिलाएँ घर से बाहर निकल कर राजनीति में सक्रिय भागीदारी करने लगी थीं। लाखों अनुयायी बिना किसी प्रलोभन के अनेक क्षेत्र में सक्रिय हो गए। धूम्रपान निषेध तथा मद्य-निषेध जैसे मुद्दे राजनीति में महत्त्वपूर्ण हो उठे। गांधीजी अंग्रेजों की 'फूट डालो शासन करो' की नीति अवगत थे। उन्हें ब्रिटिश शासन की मानसिकता को वैश्विक धरालत पर देखा व समझा था। कहने का तात्पर्य यह है कि वे अंग्रेजी सरकार की नब्ज़ पहचानते थे। बनारस जैसा शहर उनके विचारों से अछूता नहीं था। बनारस की गलियों में गांधीजी के विचारों की गूँज सुनाई दे रही थी। मनु शर्मा ने उन आवाजों को पहचानने की कोशिश की है। जग्गू के चाचा सुमेर और रामकिशुन के संवादों से यह जाहिर होता है। सांप्रदायिक दंगों के साथ-साथ जनता टैक्स की मार भी सह रही थी। नशे के कारण लाखों-करोड़ों घर तबाह हो रहे थे। महिलाओं पर अत्याचार बढ़ रहा था। रामकिशुन और सुमेर गांधीजी के विचारों को गहराई से आत्मसात करते हैं। रामकिशुन कहता है ''महात्माजी ने सभी देशवासियों को धूम्रपान न करने की सलाह दी है।''[12] रामकिशुन के माध्यम से तत्कालीन कांग्रेस की सामाजिक गतिविधियों का पता चलता है। गांधीवादियों ने शराब के खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया था। वे बनारस की गलियों व सड़कों पर नाटक का मंचन करके लोगों को जागरूक करते थे। रामकिशुन के शब्दों में ''कांग्रेस का कार्यक्रम आया है। हमें अगले सप्ताह शुक्रवार से शराब की दुकानों के सामने पिकेटिंग करनी है।''[13] महिला विंग की स्थापना हो चुकी है लेकिन

संकोच के कारण महिलाएँ घरों से नहीं निकल रही थीं। गांधीजी महिलाओं को मुख्यधारा से जोड़ना चाहते थे। रामकिशुन चाहता है कि महिला विंग का नेतृत्व जग्गू की माँ करे। पियारी भी चाहती है कि जग्गू की माँ झंडा उठाए। वह कहती है ''भउजी अब तोके झंडा उठावै के पड़ी।''[14] पियारी खुद कई बार जेल जा चुकी है। वह जग्गू की माँ को मानसिक रूप से मजबूत करती है। पियारी क्रांतिकारी महिलाओं का प्रतिनिधित्व करती है। वे गली-गली घूम कर लोगों को अंग्रेजी शासन के खिलाफ जगा रही थी। जलियांवाला बाग हत्याकांड से युवाओं में आक्रोश बढ़ रहा था। 'आजादी भीख में नहीं मिलेगी, छीननी पड़ेगी' युवा वर्ग इस तथ्य से अवगत हो चुके थे। अनुनय-विनय से कुछ नहीं होगा, सीधी कार्यवाही का पक्ष लेने वाले युवाओं की पूरी फौज तैयार हो चुकी थी। बनारस के टाउन हॉल में सुभाष चंद्र बोस के आने पर, बनारस की गलियाँ क्रांतिकारी नारों से गूँज उठती हैं। बच्चे-बूढ़े-नौजवान क्रांतिकारी नारों से उनका स्वागत करते हैं। लेखक के शब्दों में ''जुलूस में भारत माता की जय, महात्मा गांधी की जय, सुभाष बाबू की जय, इनकलाब जिंदाबाद आदि के नारे लग रहे थे। आगे-आगे महिलाएँ- 'नहीं रखनी जालिम सरकार, नहीं रखनी' गाती हुई चली आ रही थीं। महिलाओं के आगे थी पियारी।''[15] टाउन हॉल में सुभाष चंद्र बोस का भाषण लोगों में जोश भर रहा था। एक-एक शब्द अंग्रेजी शासन पर चोट कर रहे थे। ''स्वराज भीख माँगने की चीज नहीं है। उसे लड़कर हासिल करना पड़ेगा। इसके लिए हमें ताकत इकट्ठी करनी होगी।''[16] जैसे-जैसे आंदोलन बढ़ता जा रहा था, जनता की भागीदारी बढ़ती जा रही थी। उधर अंग्रेजी शासन का दमन तेज हो गया। पुलिस पियारी के साथ छेड़छाड़ करती है, ठीक वैसे ही जैसे प्रेमचंद के उपन्यास 'कर्मभूमि' में मुन्नी के साथ होता है। मुन्नी की तरह पियारी भी जबाव देती है। मनु शर्मा ने पियारी की घटना का वर्णन करते हुए लिखा है ''घटना कल शाम की है पर गलियाँ सवेरे से ही फुसफुसाने लगी हैं। सरकारी बंबे पर जमे लोगों की जबानों पर पियारी की ही चर्चा है- कमाल की औरत है। जरा भी पुलिस से नहीं डरी, बल्कि जमकर दो हाथ जड़ दिए।''[17] रामकिशुन पियारी की प्रशंसा करते हुए कहता है ''बनारस का नाम रख लिया उस औरत ने, वरना पिकेटिंग का कामयाब होना मुश्किल था। हम लोगों ने जितनी भी औरतों की व्यवस्था की थी उनमें से आधी भी नहीं आई। और जो आई थीं, वे भी किसी भी काम की नहीं। पुलिस की एक डपट में भाग खड़ी होतीं। पर वाह रे पियारी! क्या मुक्का चलाया कि पुलिस को लाठी चार्ज करना ही पड़ा। मजा आ गया।''[18]

सामान्य जनता सुभाष चंद्र बोस के प्रति आकर्षित हो रही थी। यद्यपि गांधीजी और सुभाष चंद्र बोस दोनों का लक्ष्य एक ही था लेकिन तरीके अलग-अलग थे। गांधीजी और सुभाष चंद्र बोस के मतभेद जगजाहिर है। मतभेद के चलते ही सुभाष चंद्र बोस ने 1938 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया था। ''भारतीय गांधीजी की इज्जत तो करते हैं पर उन्हें अपना नेता स्वीकार नहीं करते। उनका विचार था कि स्वराज्य भीख माँगने की चीज नहीं है और न वह माँगने से मिलेगा।''[19] सुभाष युवाओं की पहली पसंद बन चुके थे। उनके विचार युवाओं को आंदोलित करते थे, युवा वर्ग के अंदर अंग्रेजों को लेकर तीव्र आक्रोश था। लेखक ने जनता के मनोभावों को पहचाना है। मनु शर्मा यह देख रहे थे कि किस तरह गली-कूचों में सुभाष चंद्र बोस के क्रांतिकारी नारे गूँजा करते थे। अंतर्राष्ट्रीय फलक पर हो रहे परिवर्तनों का भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। 'माँगने से आजादी नहीं मिलेगी' जनता इस बात को समझ चुकी थी। उनकी इच्छा सीधी कार्यवाही करने की थी। सुभाष चंद्र बोस में जनता को आशा की नयी किरण दिखाई दे रही थी। ''तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा'' लोगों के लिए पवित्र वाक्य बन गया था। बोस भारत की आजादी के लिए दुनिया के शक्तिशाली देशों से सहायता ले रहे थे। वे इटली के नेता मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर से मिले। इतिहासकार विपिन चंद्र के अनुसार ''बोस मार्च 1941 में देश से बाहर निकल गए थे और सहायता के लिए सोवियत संघ जाना चाहते थे।... फरवरी 1943 में जापान के लिए चल पड़े ताकि जापान की सहायता से वे ब्रिटिश शासन के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष चला सकें। भारत की स्वाधीनता के लिए सैनिक अभियान चलाने के उद्देश्य से उन्होंने सिंगापुर में आजाद हिंद फौज की स्थापना की।''[20]

इन सभी घटनाओं ने जनमानस को अंदर तक आंदोलित किया। लोगों ने सुभाष चंद्र बोस की तुलना शिवाजी से की। उपन्यास का प्रमुख पात्र दानिस कहता है ''किसी प्रकार की शंका करने की गुंजाइश नहीं है। सुभाष बाबू इस युग के शिवाजी हैं शिवाजी। जैसे शिवाजी औरंगजेब के कड़े पहरे से निकल भागे थे। वैसे ही हमारे सुभाष भी। और जैसे शिवाजी ने औरंगजेब को मजा चखाया था देखना, वैसे ही सुभाष बाबू भी अंग्रेजों को जरूर मजा चखाएंगे।''[21]

आलोच्य उपन्यास में 'भारत माता मंदिर' की चर्चा मिलती है। लोगों में राष्ट्रीय चेतना जगाने में इस मंदिर की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। खास बात यह है कि 'भारत माता मंदिर' लेखक की मौलिक उद्‌भावना है। इस मंदिर के कारण जनता भावनात्मक रूप से एकजुट होती है। यह मंदिर पूरी तरह धर्म निरपेक्ष है और सांप्रदायिकता से कोसों दूर है। सुभान अली के मन में यह शंका होती है ''मंदिर है, तब तो इसमें केवल हिन्दू ही जाएँगे। वह भारत माता कैसी, जिसे हम मुसलमान न देख सके।''[22] सुभान अली उन लाखों-करोड़ों मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करता है, जो यह सोच कर संघर्ष कर रहे थे कि आजाद भारत में दोनों समुदाय आपसी मतभेदों को भुलाकर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे। सुभान अली को 'भारत माता मंदिर' हिन्दू धर्म का प्रतीक लगता है। रामकिशुन उसकी समस्या का समाधान करते हुए कहता है कि यह उस अर्थ में मंदिर नहीं है जो पहले से चला आ रहा है। वो कहता है ''यह इस देश का पहला मंदिर है जिसमें हिन्दू-मुसलमान, सिख, ईसाई, हरिजन सब जा सकते हैं।''[23] दरअसल, भारत माता मंदिर प्रतीकात्मक मंदिर है जो समूचे देशवासियों को एकजुट करके, साझा संघर्ष करने के लिए प्रेरित करता है। बनारस दौरे पर आए महात्मा गांधी अपने भाषण में इसका उल्लेख करते हैं। ''जिस माता ने हमें पैदा किया, वह तो थोड़े दिन ही नहीं जीवित रहेगी, किन्तु यह माता तो हमेशा रहेगी। वास्तव में भारत माता ही हमारी असली माता है। हम सब उसी की संतानें हैं।... हिन्दू-मुसलिम, सिख-ईसाई- सभी इसके बच्चे हैं। यह माता सबको समान रूप से प्यार करती है। फिर हम भाई-भाई होकर आपस में क्यों लड़ते हैं?... आज यह माता दुखी है। इसके हाथों और पैरों में गुलामी की जंजीरें हैं। वह जकड़ी हुई है। क्या हमारी माता बेड़ियों में जकड़ी रहे और हम उसे टुकुर-टुकुर देखते रहे? क्या यही हमारा कर्त्तव्य है?''[24] मनु शर्मा भारतीयता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रति उनकी आस्था व सम्मान है। वे भारतीय संस्कृति को जाति तथा समुदाय में विभाजित नहीं करना चाहते हैं। उदात्तता उनके लेखन का विशेष गुण है। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय संस्कृति और स्वतंत्रता संग्राम में भारतीयों के योगदान के साथ वही व्यक्ति न्याय कर सकता है जो संकुचित दृष्टि से मुक्त हो। मनु शर्मा का झुकाव किसी व्यक्ति विशेष अथवा मत-संप्रदाय के प्रति नहीं है। आजादी की लड़ाई में उन्होंने हिन्दू तथा मुस्लिम समुदाय को जिस रूप में देखा, उसी रूप में उसका चित्रण किया। गांधीजी के प्रति पूरी आस्था होने के बाद भी जनता सुभाष चंद्र बोस को पसंद कर रही थी। लेखक ने बिना किसी पूर्वाग्रह जनता के मनोभावों को व्यक्त किया है।

'घरौंदा' उपन्यास का कलेवर बहुत बड़ा है। लेखक ने स्वतंत्रता संघर्ष को बहुत नजदीक से देखा है। सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएँ भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रही हैं। निरक्षरता, स्त्री-शोषण, दलितों की दयनीय दशा, बाल-शोषण, पितृसत्तात्मक व्यवस्था की कुरूपताओं से समाज त्रस्त था। लेखक ने इन समस्याओं को यथारूप में चित्रित किया है। यह समस्याएँ पाठकों को सोचने के लिए विवश करती हैं और अनेक प्रश्न खड़े करती हैं। क्या आजाद भारत इन समस्याओं से मुक्त होगा? सामाजिक न्याय की अवधारणा जमीनी स्तर पर लागू होगी? सदियों से चली आ रही लिंग-विभेद की दीवारें ढह जाएँगी? आदि। उपन्यास को पढ़ते समय ऐसे अनेक प्रश्न सुधी पाठकों के सामने अनायास ही आ जाते हैं। 'घरौंदा' भारतीय स्वाधीनता संग्राम को सजीव रूप में व्यक्त करने वाले आईने की तरह है। बदलते समय के साथ समाज की संरचना जटिल से जटिलतर होती जा रही हैं, समस्याएँ सुलझने के स्थान पर तेजी से उलझती जा रही हैं। इन विकट परिस्थितियों में यह उपन्यास साधारण जनता की आकांक्षाओं व स्वप्नों का प्रतीक बनकर उपस्थित हुआ है।

ई-मेल : aditijha1993@gmail.com

संदर्भ सूची

1. मनु शर्मा, घरौंदा, प्रभात प्रकाशन, 2017 दिल्ली, पृ. 26
2. वही, पृ. 28
3. वही, पृ. 29
4. वही, पृ. 42
5. वही, पृ. 42
6. वही, पृ. 43
7. वही, पृ. 50
8. वही, पृ. 51-52
9. विपिन चंद्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2010, दिल्ली, पृ. 280
10. वही, पृ. 281
11. मनु शर्मा, घरौंदा, प्रभात प्रकाशन, 2017 दिल्ली, पृ. 114
12. वही, पृ. 60
13. वही, पृ. 72
14. वही, पृ. 74
15. वही, पृ. 83
16. वही, पृ. 86
17. वही, पृ. 90
18. वही, पृ. 91
19. वही, पृ. 211
20. विपिन चंद्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2010, दिल्ली, पृ. 323
21. मनु शर्मा, घरौंदा, प्रभात प्रकाशन, 2017 दिल्ली, पृ. 193
22. वही, पृ. 115
23. वही, पृ. 115
24. वही, पृ. 125

अरविन्द कुमार

प्रायश्चित्त की अवधारणा एवं प्रायश्चित्तेन्दुशेखर

प्रायश्चित्त शब्द में प्रायः शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अय गतौ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से पुल्लिंग में तथा 'असुन्' प्रत्यय के योग से नपुंसक लिंग में निष्पन्न होता है। इसके अर्थ हैं–प्रकृष्टमयनम्[1] तथा बाहुल्यम्[2]। 'चित' धातु में क्त प्रत्यय के योग से चित्त शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है–देखा हुआ, विचारित, इच्छित आदि।[3] तदनुसार प्रायश्चित्त का अर्थ होगा सुविचारित अथवा इच्छित प्रस्थान।

(1) अंगिरा ने प्रायश्चित्त की व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से हटकर कुछ भिन्न परिभाषा देते हुए कहा है-

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।[4]

अर्थात् प्रायः को 'तप' तथा चित्त को निश्चय कहा जाता है। तप और निश्चय का संयोग ही प्रायश्चित्त कहा गया है। इस श्लोक को उद्धृत करते हुए प्रायश्चित्तविवेककार शूलपाणि ने कहा है कि जो निश्चय से संयुक्त तप, पापक्षय के साधन के रूप में निश्चित होता है, वही प्रायश्चित्त है-

'निश्चय संयुक्तं पापक्षयसाधनत्वेन निश्चितमित्यर्थः।'[5]

शूलपाणि ने पुनः हारीत को उद्धृत किया है-

प्रयतत्वाद्वोपचितमशुभं नाशयतीति प्रायश्चित्तम्।[6]

अर्थात् ऐसे कार्य (यथा–तप, दान, यज्ञादि) जिनसे व्यक्ति पवित्र होकर अपने एकत्र हुए अशुभ कर्मों (पापों) का क्षय कर देता है, वह प्रायश्चित्त है। इस प्रकार पाप के क्षय मात्र का साधनकर्म प्रायश्चित्त है- 'एतेन पापक्षयमात्रसाधनं कर्म प्रायश्चित्तमिति प्रायश्चितलक्षणम्।'[7] (2) अंगिरा के उपर्युक्त प्रायश्चित्त-लक्षण के सन्दर्भ में चतुर्वर्गचिन्तामणिकार हेमाद्रि ने किसी अज्ञात भाष्यकार को उद्धृत किया है- भाष्यकारस्तु-प्रायोविनाशः चित्तं सन्धानं विनष्टस्य सन्धानम् इति विभाग योगेन प्रायश्चितशब्दः पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे वर्तते।[8]

इस प्रकार हेमाद्रि ने प्रायश्चित्त का अर्थ माना है- पापक्षय के लिए नैमित्तिक कर्मविशेष। (3) शूलपाणि द्वारा उद्धृत अंगिरा के प्रायश्चित लक्षण की व्याख्या में नीलकण्ठ ने अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष बताकर इसका खण्डन किया है। पुनः अंगिरा के द्वारा कहे गये उपर्युक्त लक्षण की व्याख्या के लिए पक्षधर मिश्र, भक्तूपाध्याय और टोडरानन्द को उद्धत किया है-यत्तु पक्षधरमिश्रभक्तूपाध्याय-टोडरानन्दकृतः- प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्।[9] इस प्रकार प्रायश्चित्त का अर्थ है- 'पाप का शुद्धिकरण'। नीलकण्ठ की इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि वे प्रायश्चित्त को नैमित्तिक के साथ-साथ काम्य कर्म भी मानते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार बालम्भट्टी भी नीलकण्ठ की इस व्याख्या के समर्थक है-'प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्।'[10] किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति की ही मिताक्षरा टीका में विज्ञानेश्वर ने प्रायश्चित्त को नैमित्तिक कर्म विशेष कहा है। प्रायश्चित्तशब्दाश्चायं पाप क्षयार्थे नैमित्तिके कार्य विशेषे रूढः।[11] इस प्रकार प्रायश्चित उस कर्म या कृत्य का द्योतक, जिसे नैमित्तिक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इसका उपयोग तभी होता है, जबकि उसके लिए कोई अवसर आता है और वह अवसर पापक्षय है।

(4) सामविधान ब्राह्मण की टीका में सायण ने एक अन्य व्युत्पत्ति दी है-'अयं अयः प्राप्तिः। प्रकर्षेणाय प्रायः। विहित धर्माकरणस्य प्राप्तिरित्यर्थ।' तत्प्रकार विषयं चित्तं चित्तिर्ज्ञानं। तत्पूर्वकानुष्ठानानि प्रायश्चित्तानि'।[12]

विशिष्ठ धर्म का पालन न किये जाने का ज्ञान हो जाने के उपरान्त धार्मिक कृत्यों का पालन प्रायश्चित्त है।

(5) पराशर माधवीय ने एक अन्य स्मृति को उद्धृत करते हुए प्रायश्चित्त की परिभाषा इस प्रकार दी है-

प्रायशश्च समं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते।
पर्षदा कार्यते यत्तु प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

पापिनोऽनुतापिनश्च चित्तं व्याकुलं सद्विषयं भवति तच्च पर्षदा येन व्रतानुष्ठानेन प्रायशोऽवश्यं समं कार्यते तद्व्रतं प्रायश्चित्तम्। व्रतं चारयित्वा चित्तवैषम्यनिमित्तं पापं प्रदीयते खण्ड्यते विनाश्यते इत्यर्थः।[13]

अतः प्रायश्चित्त वह है जिसके द्वारा अनुताप करने वाले पापी का चित्त प्रायशः पर्षद द्वारा विषम के स्थान पर सम कर दिया जाता है।

प्रायश्चित्त की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि प्रायश्चित्त की अवधारणा पूर्णतया पाप के सिद्धान्त से जुड़ी हुई है। किन्तु पाप क्या है? मनुष्य को प्रायश्चित्त क्यों करना चाहिए? मनु के अनुसार विहित कर्म न करने, निन्दित का आचरण करने और इन्द्रियों के निग्रह के फलस्वरूप मनुष्य प्रायश्चित के योग्य हो जाता है।

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितश्च समाचरन्।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥[14]

स्पष्ट रूप से शास्त्रविहित कर्म को न करना तथा शास्त्रविरु) कर्म का आचरण ही पाप है, इन्द्रियों के अनियन्त्रण से होने वाला दुष्कर्म पाप है और पाप कर लेने के उपरान्त जब व्यक्ति को अपने दुष्कृत्य का ज्ञान होने पर जब पश्चाताप होता है, तब वह प्रायश्चित्त के योग्य होता है उस समय उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए।

निष्कर्ष रूप से प्रायश्चित्त वह नैमित्तिक एवं काम्य कर्म है, जो पाप कर्म का ज्ञान होने पर, उसके क्षय हेतु किया जाता है और जो विद्वानों की परिषद् द्वारा अनुमत होता है और जिसे कर लेने के उपरान्त वह व्यक्ति समाज में व्यवहार के योग्य हो जाता है।

वेदान्तसार के अनुसार प्रायश्चित्त का स्वरूप

तत्रानुबन्धो नामाधिकारीविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।[15] अधिकारी का लक्षण निम्नलिखित है-

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगता-खिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।

अधिकारी होने हेतु प्रायश्चित की अनिवार्यता स्पष्ट है।

प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।[16]

विद्वन्मनोरंजिनीकार ने प्रायश्चित्त का लक्षण निम्नलिखित प्रकार से दिया है-

विहितकरणप्रतिषिद्ध सेवारुपनिमित्त विशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि।[17]

प्रायश्चित्तेन्दुशेखर लोकोत्तर प्रतिभाशाली नागेशभट्ट द्वारा विरचित एक अनुपम कृति है। नागेशभट्ट का समय 17वीं सदी का उत्तरार्ध तथा 18वीं सदी का पूर्वार्ध निर्धारित होता है। यद्यपि नागेशभट्ट ने व्याकरण, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विविध विषयों पर अनेक रचनाएँ की हैं उनमें धर्मशास्त्र विषयक प्रायश्चित्त विषयक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमे प्रायश्चित्त के अनेक अंग उपांगों का विधिवत वर्णन किया गया है।

प्रायश्चित्तेन्दुशेखर के अनुसार प्रायश्चित्त का स्वरुप

यद्यथाविध्यननुष्ठानानाद्युपत्तिप्ताशुमनाशकमेव तत्प्रायश्चित्तम्। तुलापुरुषादवतियाप्ति-वारणायेवेति। न तु फलान्तरजनकमित्यर्थः। पापनिवर्तनक्षमधर्मविशेषे योगरुढोऽयं शब्द इति तत्त्वम्। संकते विशेष सम्बन्धेन प्रायश्चित्तशब्दवत्तवमेव प्रायश्चित्त्वम्।[18]

प्रायश्चित्तेन्दुशेखर के अनुसार प्रायश्चित्त तीन प्रकार के होते हैं।

नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य तीन प्रकार के प्रायश्चित्त होते हैं। प्रायश्चित्तोपदेशे पापिन कर्तव्यं, पापिभः सभोस्थानं विना योजनादौ दोषः, कियत्कालपर्यन्तं प्रायश्चित्ताकरणे दोषकथनं, आर्तस्य प्रायश्चित्ताकथनेऽज्ञात्वाकथने च दोषकथनं, पापस्य गुरुत्वलघुत्वयोःकथनं, स्नेहातिनाऽयथोक्तप्रायश्चित्तोपदेशे दोषाभिधानं, दुर्बले प्रष्टरिबालबृद्धस्त्रीरोगिषु च प्रायश्चित्त योजनायांतारतम्यं, बालबद्धयोर्लक्षणं, ब्राह्मणादि क्रमेण प्रायश्चित्त तारतम्यकथनं, यस्य पापस्य यत्प्रायश्चित्तसमुक्तं तत्षोडर्षाधिक-ब्रह्मचारिणो द्विगुणं वानप्रस्थस्य त्रिगुणं यतेश्चतुर्गुणमितिकथनं जातिभ्रंशकर पातक का लक्षण-विप्रपीडाकरणमनाघ्रेयमद्य-लशुनादिघ्राणंमित्रकौटिल्य पुंसि मिथुनमेतानि जातिभ्रंशकराणि।

मनु के अनुसार जातिभ्रंशकर पातक इस प्रकार है-

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्यं घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः।
जैह्मयं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥[19]

ब्राह्मण को पीड़ा देना, सुंघने के अयोग्य वस्तु तथा मद्य का सूंघना, कुटिलता और पुरुष के संग मैथुन ये सब कर्म जाति से भ्रष्ट करने वाले हैं। याज्ञवल्क्य ने उस पाप से शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त की व्यवस्था इस प्रकार दी है-

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते॥[20]

विप्र पर दण्ड आदि उठाने पर कृच्छ्र, प्रहार करने पर अतिकृच्छ्र, प्रहार करने पर यदि रक्त बहे तो कृच्छ्रातिकृच्छ्र तथा प्रहार करने पर यदि चोट लगे परन्तु रक्त बहे नहीं, भीतर ही रह जाये तो प्रायश्चित्ती को कृच्छ्र व्रत करना चाहिए।

संकरीकरण पातकः- संकरीकरणानि तु-खराश्वोष्ट्रमृगहस्त्यजाविमिनमहिषाणामन्येषां ग्राम्यारण्यपशुनां वधः (इति) संकरीकरणानि।[21]

स्वयं के मनोरंजन तथा मांस भक्षण के लिए पशुहनन पाप का हेतु होता है। भारतीय धार्मिक मान्यता के अनुसार यज्ञार्थ पशुहनन किया जा सकता है परन्तु मात्र स्वयं के प्रयोजन हेतु पशुहनन करना उचित नहीं है, अतः ग्राम्य पशु हो अथवा वन्य, उसकी हिंसा पातक है। मनुविष्णु ने गोव्यतिरिक्त हिंसा को संकरीकरण पातकों की श्रेणी में रखा है। तदर्थ विष्णु का वचन है-

'ग्राम्यारण्यानां पशुनां हिंसा संकरीकरणम्।'[22]

तथा मनु ने कतिपय विशिष्ट पशुओं की गणना की है-

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च॥[23]

मनु के द्वारा कहे गये पशु उपलक्षण मात्र है। ये अपने सजातियों का भी बोध कराते हैं। संकरीकर पातक करने पर मनु ने चान्द्रायण .च्छ्र की व्यवस्था दी है-

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवः॥[24]

संकर और अपात्र करने वाले कर्मों में एक मास तक चान्द्रायण से और मलिन कर्म करने वाले कर्मों के करने से तीन दिन तक गरम लपसी खाने से शुद्धि होती है।

अपात्रीकरण-पातक- अपात्रीकरणानि तु- निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवा कुसीजीवनमसत्यभाषणमेतान्य-पात्रीकरणानि।[25]

इस प्रकार निन्दित व्यक्ति से धन लेना, वाणिज्य, शूद्र की सेवा तथा असत्यभाषण ये एक भी पातक ब्राह्मण को अपात्रीकर दोष से युक्त कर देते हैं। अपात्रीकर पातक से शुद्धि हेतु मनु ने प्रायश्चित्त रूप में चान्द्रायण की व्यवस्था दी है।

मनु के अनुसार-

कृमिकीटवयोहत्या मद्यसंस्पृष्ट भोजनं।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम्॥[26]

मनु ने प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है-

मलिनीयकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्यहम्।[27]

प्रायश्चित्तेन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने 47 उपपातकों की गणना की है- उनमें से कुछ उपपातक निम्नलिखित हैं-

उपपातकान्याह- गोवध, व्रात्यता, स्तेयं, ऋणानपक्रिया, अनाहिताग्निता, अपण्यविक्रयः, परिवेदनं, भृतकाध्ययनाध्ययन, पारदार्यं, परिवित्त्यम्, वार्धुष्यं, लवणक्रिया शूद्रविट्क्षप्रवधः, अशुष्कद्रुमछेदनम्, निन्दितार्थोपजीविनम्, नास्तिक्यं, व्रतलोपः, सुतविक्रयः, धान्यकुप्यपस्तेयं, अयाज्ययाजनं, पितृमातृत्यागः, तडागाराविक्रयः, कन्यादूषणं, परिवेदकयाजनं, तस्य कन्यादानं, गुरोरन्यत्र कौटिल्यं, आत्मार्थं पाकार्थ क्रिया, स्त्रीनिषेवणं, व्रतलोपः, स्वाध्यायाग्निसुतानां त्यागः, बान्धव त्यागः, स्त्रिया हिंसया चौषधेन च जीवनम्, हिंसक वर्तनम्, द्युतादिव्यसनम्, आत्मविक्रयः, शूद्रप्रेष्यता, अनसख्यं, हीनयोनिनिषेवणं अनाश्रवित्वं, परामृष्टता, असच्छात्राभिगमनम्, अकाराधिकारः, भार्याविक्रय, असत्प्रतिग्रह, निन्दितान्नदानं, नटादिकर्मकरणं, भार्यात्यागः एतान्युपपातकानि।[28]

महापातकानि तु ब्रह्महत्या सुरापानं विप्रस्वर्णस्तेयं गुरुतल्पगमनमब्दमेतच्चतुष्टयान्यतमसंसर्ग इति महापातकानि। शूद्रस्य मद्यपानस्थाने ब्राह्मणीगमनम्।[29] महापातकों की निश्चित संख्या और प्रकार का उल्लेख सर्वप्रथम छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है- तदेष श्लोकः स्तेनोहिरण्यस्य सुरां पिबश्च गुरोर्तल्पमावसन् ब्रह्महा। चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तः॥[30] यद्यपि कतिपय धर्मशास्त्रकारों ने पाँच से अधिक भी महापातक गिनाये हैं तथापि धर्मशास्त्रीय परम्परा में महापातक पाँच ही माने जाते हैं। मनुस्मृतिकार कहते हैं कि-

ब्रह्महत्यासुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
महान्तिपातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥[31]

भारतीय धर्मशास्त्रीय वाङ्मय में ब्रह्म हत्या को महापातकों

में भी प्रथम श्रेणी का महापातक माना गया है।

डॉ. पी.वी. काणे के अनुसार 'हत्या' अथवा वध शब्द का अर्थ वह कर्म जिसके करने से तुरन्त या कुछ समय उपरान्त बिना कोई अन्य कारण उपस्थित हुए, जीवन की हानि होती है।[32] ब्रह्महत्या के अति प्राचीन मत के अनुसार ब्रह्मघातकी को 12 वर्ष तक वन में कुटी बनाकर रहना चाहिए। उसे आत्मशुद्धि के लिए 'शव शिरोधजी' होकर भिक्षा से जीवन निर्वाह करना चाहिए-

ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटी कृत्वा वने वसेत्।
भैक्ष्याश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजं॥

मनु के इस मत 'ब्रह्मघातकी को बारह वर्ष तक वन में निवास करना चाहिए' के विषय में सभी धर्मशास्त्रकार एकमत है। महापातकसकृशान्यनुपातकानि तु- तत्र- यागस्थ नृपवैश्याधः, शरणागत वधः, अविज्ञातगर्भस्य सुहृदश्च, गुरुविषये मिथ्याभिशंसनं क्रोधोत्पादनमधिक्षेपोऽसकृन्मत्याऽलीकनिर्बन्धश्च राजगामिपैशून्यं, गुरौमहाद्वेषः, नास्तिक्या वेदनिन्दा, कुशास्त्राध्ययनेन वितण्डावादेन, चाधीतवेदानां नाशनम् एतानिब्रह्मवधसमानानि।[33]

सुरापान समानि तु- लशुनविडवराहच्छत्राकग्रामकुक्कुटप-लाण्डुगुंजनानां मत्यान्ताभ्यासेन भक्षणं, विप्र व्यतिरिक्तमित्रवधः गुरुविषये मिथ्याभिशंसनेनान्यथा- वादित्वमन्यथाकर्तृत्वं कौटिल्यं वाङ्मनः कर्मणमनार्जवरूपं कौटिल्यं च, आत्मोत्कर्षार्थे राजकुलादावनृतभाषणं, रजस्वलामुखचुम्बनं, कूटसाक्ष्यं वेदत्यागो वेदनिन्दा त्यर्त्रोरन्नभुक्तिरिति सुरापान स्मानानि।[34]

स्वर्णस्तेयसमानि तु- विप्रसंबन्ध्यश्वरत्नमनुष्यस्त्रीधेनुहरणं निक्षेपहरणं चार्चाकसुवर्णमानादिति स्वर्णस्तेयसमं।[35]

गुरुतल्पसमानि तु- दुहितृस्नुषाभगिनीषु भागिनेयीषु सगोत्रदुहितृभगिनीषु सकामास्वाचार्यपत्नीतत्तनयाशश्रूषु पितृव्यभातृमातुलमाता महश्रोत्रियत्विगुपाध्यायमित्र-शिष्यस्त्रियस्तत्कन्याश्चोदक्यां निक्षिप्तां प्रव्रजितां व्रतस्थाभुत्तं ब्राह्मणीं सगोत्रां शरणागतां राजसखीं राजपत्नीं साषत्नभगिनीं स्तनधात्रीं सखीं च गच्छन्पौत्रीं दौहित्रीं पतिव्रतां पितृसखीं भ्रातृभगिन्योः सखीं पितृमातृष्वसारं कुमारीमन्त्यजां म्लेच्छां पुल्कसीं च गच्छन्गुरूतल्पगसमः।[36]

शोध-सार

भारतीय धर्मशास्त्रीय परम्परा में शास्त्रानुसार विहित वह कृत्य है जिसके करने से मनुष्य के पाप छूट जाते हैं अर्थात् जिस अनुष्ठान के द्वारा किए हुए पाप का निश्चित रूप से शोधन हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान प्राप्त होता है।

शोधच्छात्र
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली -110067

संदर्भ सूची

1. शब्दकल्पद्रुम; राजा राधाकान्तदेव, खण्ड 3, पृ. 319, नागप्रकाष्ठान, दिल्ली-7, संवत् 1987
2. 'प्रायोभूम्नि', अमरकोष, 3/4/17 के अनुसार प्रायः का अर्थ है- भूम्नि अर्थात् बाहुल्य।
3. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोष, पृ. 381
4. उत्तरांगिरस स्मृति, 4/1
5. शूलपाणि, प्रायश्चित्तविवेक, पृ. 3
6. वही पर उद्धृत हारीत, पृ. 3
7. वही, पृ. 4
8. हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, प्रायश्चित्तचिन्तामणि, पृ. 189
9. नीलकण्ठ, भगवन्तभास्कर, प्रायश्चित्तमयूख, पृ. 2
10. बालमभट्टी, याज्ञवल्क्य, 3/206
11. विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य, पृ. 3/206
12. सायण, सामविधान, 1/5/1 पर टीका
13. पराशरमाधवीय, 2, भाग 1, पृ. 3
14. मनुस्मृति, 11/44
15. वेदान्तसार, पृ. 09
16. वेदान्तसार, पृ. 11
17. वेदान्तसार, पृ. 16
18. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, पृ. 1
19. मनुस्मृति, 11/68
20. याज्ञवल्क्य, 3/292
21. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, पृ. 3
22. विष्णुस्मृति, 39/1
23. मनुस्मृति, 11/71
24. मनुस्मृति, 11/126

25. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, पृ. 3
26. मनुस्मृति, 11/71
27. मनुस्मृति, 11/126
28. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, पृ. 04
29. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, पृ. 4
30. छान्दोग्योपनिषद् 5/10/9
31. मनुस्मृति, 11/55
32. डॉ. पी.वी. काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, खण्ड 4, पृ. 1023, हिन्दी संस्करण।
33. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, पृ. 4
34. वही, पृ. 4
35. वही, पृ. 4
36. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, पृ. 4

ग्रन्थ सूची

1. अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला, विद्यभवन वाराणासी, 1952.
2. धर्मशास्त्र वाङ्मय कोश (भाग 1-2), सं. श्री भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता 1988.
3. नारदस्मृति, डॉ. व्रजकिशोर स्वांई, चौखम्भा संस्कृत वाराणसी, प्रथम संस्करण, विक्रम संवत् 2053.
4. प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ, कृष्ण कुमार, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली.
5. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पुणे, महाराष्ट्र.
6. प्रारम्भिक भारत का आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास, रामशरण शर्मा, दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, द्वितीय संस्करण 1983.
7. भारतीय धर्मशाखाएँ एवं उनका इतिहास, वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 1988.
8. मनुस्मृति, कल्लुकभट्ट की टीका सहित (दो भाग में), हिन्दी अनुवाद डॉ. राकेश शास्त्री, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2005.
9. याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा टीका सहित, डॉ. गंगासागर राय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2007.
10. याज्ञवल्क्यस्मृति, (भाग 1-2) अपरार्क की टीका सहित, आनन्दाश्रम प्रेस पूना, 1904.
11. वेदान्तसार, सदानन्द योगीन्द्र, व्या. सन्त नारायण चिरंजीव विहार, गाजियाबाद, 2012.

डॉ. आशुतोषकुमारमिश्रः

पर्यावरणविज्ञानविषयक संस्कृतवाङ्मयम्

वर्तमानवैज्ञानिकयुगे सततं वैज्ञानिकैराविष्कारैः नूतनमाविष्कारं सञ्जायते। जनाः वैज्ञानिकयन्त्रेण स्वजीवने सौख्यं प्राप्नुवन्ति। सर्वत्र वैज्ञानिकयन्त्रस्य प्रयोगो दृश्यते। वैज्ञानिकं यन्त्रं विना जीवनयापनं न सम्भवति। प्रातःकालादारभ्य शयनपर्यन्तं वयं सर्वत्र यन्त्राधीना एव तिष्ठामः।

परञ्च अस्य वैज्ञानिकयन्त्रस्य प्रयोगेन न केवलं मानवजीवनस्य अपितु सम्पूर्णब्रह्माण्डस्य विनाशकारणमस्माकं समक्षं नित्यम्प्रति प्रतिभासते। अत्र कः उपायः वर्तते? येन न केवलं मानवजीवनस्य अपि च पशु-पक्षीणां जल-थल-नभ-वाय्वादीनां सुरक्षा सम्भविष्यति।

संस्कृतवाङ्मये प्रकतिसंरक्षणस्य पर्यावरणस्य च महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। प्राचीनपरम्परायां भारतीयजीवने नित्यम्प्रति पर्यावरणस्य प्रकृते आराधना दृश्यते।

संस्कृतभाषायाः वैदिकं लौकिकञ्च भागद्वयं वर्तते। तत्रोभयोर्मध्ये पर्यावरणस्य समानं महत्त्वमवलोक्यतेऽस्माभिः। प्रथमं वैदिकवाङ्मये पर्यावरणविषयकं पक्षं प्रस्तौमि। वैदिकसाहित्ये पर्यावरणसंरक्षणविषये पर्याप्तं प्रमाणं प्राप्यते। पृथ्वी-जल-वायु-आकाशस्य च शुद्धिः कथं भवेत्? एतद्विषयकं प्रदूषणस्यापवारणस्य च अनेके मन्त्राः सन्ति। पर्यावरणस्य संघटकं तत्त्वं किमस्ति? विश्वस्य रक्षकं किं तत्त्वमस्ति। तथा च पर्यावरणसंरक्षणस्य का विधिः अस्ति? एषु विषयेषु विचारं करणीयमत्र।

पर्यावरणस्य संघटकं तत्त्वमथर्ववेदे वर्णितमस्ति यत् पर्यावरणस्य त्रीणि तत्त्वानि वर्तन्ते - जल-वायु-ओषधयश्च। एतानि त्रीणि तत्त्वानि भूमेः आवरणं वर्तते। इदञ्चावरणं परितो विद्यमानमस्ति तस्मादिदं पर्यावरणमित्युच्यते। अस्य नाम स्वरूपं च अनेकानि वर्तन्ते। अतः अयं 'पुरुरूपम्' कथ्यते।

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे
पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयः
तान्येकस्मिन् भुवन अर्पितानि॥[1]

वयं सामान्यरूपेण जानीमो यत् जलं वायुश्च पर्यावरणस्य प्रमुखतत्त्वे स्तः, परञ्च मन्त्रेऽस्मिन् स्पष्टरूपेण ओषधयोऽपि पर्यावरणस्य प्रमुखतत्त्वं मन्यते। यथा जल-वायु विना जीवनमसम्भवं वर्तते, तथैव वृक्ष-वनस्पतिभ्यो विनाऽपि जीवनस्य अस्तित्वं न कदापि सम्भवति। सर्वप्रथमं वनस्पतेः महत्त्वं वेदेष्वेव प्राप्यते।

पर्यावरणस्य प्रदूषणम्

वेदेषु स्मृतिषु पर्यावरणप्रदूषणस्य कारणानि उल्लिखितानि सन्ति। (क) वायुप्रदूषणम् (ख) जलप्रदूषणम् (ग) भूमिप्रदूषणम् (घ) यान्त्रिकोपकरणादुत्पन्नं प्रदूषणम् एतेषां प्रदूषणानां निवारणाय निर्देशोऽपि प्रदत्तोऽस्ति।

वायुसंरक्षणम्

वायोः महत्त्वम् - वायुः मानवजीवनस्याधारोऽस्ति। अतो जीवनरक्षाहेतोः वायुप्रदूषणस्य सर्वाणि तत्त्वानि नियन्त्रितानि स्युः एतद् आवश्यकमस्ति। अथर्ववेदे 'आपो वाता ओषधयः' उक्त्वा इत्थं निर्दिष्टं वर्तते यत् पर्यावरणस्य रक्षार्थं वायोः शुद्धता आवश्यकी। अथर्ववेदे एव वायोः सूर्यस्य च महत्त्वस्य वर्णने उक्तं यत् एतौ संसारस्य रक्षकौ स्तः। तौ अन्तरिक्षव्याप्तौ स्तः। तावेव सर्वं रोगं नाशयतः।

'युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथः'[2]

वायोः महत्त्ववर्णनक्रमे उक्तमस्ति यत् वायोर्मध्ये गुणद्वयं वर्तते। प्रथमेन प्राण-वायुमाध्यमेन मनुष्यस्य जीवनशक्तेः सञ्चारो भवति अपरेण अपान-वायुमाध्यमेन सर्वे दोषाः शरीरात् निवारिताः भवन्ति। यतो हेतो वायुः विश्वभेषजं कथ्यते यतोहि अयं सर्वान् रोगान् दोषन् च अपवारयति।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषजं देवानां दूत ईयसे॥[3]

वायौ अमृतम् - वायोः महत्त्वविषये ऋग्वेदे कथितम् अस्ति यत् वायुमध्ये अमृतस्य भण्डारो वर्तते। तदेव जीवनशक्तेः आधारः तदेव लोकस्य पिता-भ्राता-मित्राणि च सन्ति। तदेव सर्वेषां रोगाणामोषधिरपि वर्तते।

यददो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः।
तेन नो देहि जीवसे॥[4]

ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे महत्त्वपूर्णो निर्देशो वर्तते वायुमध्ये अमृतम् अर्थात् ऑक्सीजन (वगलहमद) अस्ति। तन्न नष्टव्यम् अस्य अयमभिप्रायो वर्तते यत् किमपि तादृशकार्यं न कर्त्तव्यमस्माभिः येन अमृतस्य (ऑक्सीजनस्य) क्षयो भवेत्।

नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्।[5]

पर्यावरणशोधकतत्त्वानि - अथर्ववेदे कतिपयानि पर्यावरणशोधकतत्त्वानि उल्लिखितानि सन्ति यानि प्रदूषणानि नश्यन्ति।

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आपः।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्॥[6]

पर्यावरणस्य शोधकतत्त्वानि इमानि सन्ति - पर्वताः जल-वायु-वृष्टि-अग्निश्च। एतानि तत्त्वानि प्रदूषणविनाश्य पर्यावरणं शोधयन्ति।

केषुचित् मन्त्रेषु पर्यावरणस्य शोधकतत्त्वरूपेण एतानि तत्त्वानि उल्लिखितानि सन्ति - द्यावापृथिवी-जल-औषधि-वायु-नदी-वन-पर्वत-मेघ-सूर्य-उषा-अग्निश्च। एतेषु मन्त्रेषु उल्लिखितमस्ति। मानवरक्षार्थं वयमेतेषामाह्वानं कर्तुं शक्नुमः।

(क) दिवस्पृथिव्योरव या वृणीमहे, सिन्धून् पर्वतान्
सूर्यम् उषासम् ईमहे॥[7]

(ख) द्यावा ..... आप ओषधीर्वनिनानि।[8]

(ग) धर्तारो दिवः ..... वाताः पर्जन्या
आप ओषधीः प्र तिरन्तु॥[9]

(घ) त्रिः सप्त सस्ता नद्यो महीरपो
वनस्पतीन् पर्वतान् अग्निमूर्तये॥[10]

ऋग्वेदे एवोक्तं यत् ईश्वरः मानवेभ्यो बहूनि पारितोषिकानि प्रदत्तवान् तेषु पृथ्वी महत्त्वपूर्णं वर्तते। अस्मिन् अक्षयकोषो वर्तते। अस्य कोषस्य रक्षा द्यूलोकं, वृक्षाः, वनस्पतयः, जलं, नद्यः, वनं, जलस्य स्रोतांसि कुर्वन्ति। अस्य अयमभिप्रायो वर्तते यत् पृथ्वी मध्ये यानि रत्नानि खनिजपदार्थानि वर्तन्ते तस्य सुरक्षायाः कारणभूताः एते वृक्षाः वनस्पतयश्च सन्ति।

पूर्वीरस्य निष्विद्यो मर्त्येषु
पूर वसूनि पृथिवी बिभर्ति।
इन्द्राय द्याव ओषधी रूतापो
रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि॥[11]

पर्यावरणशुद्धेः महत्त्वम्

यत्र पर्यावरणस्य शुद्धता भवति तत्र मानवः पशवः सर्वे जीवनजन्तवः सुखपूर्वकं जीवन्ति। अत्र पर्यावरणस्य कृते परिधिरिति शब्दः तथा च पूर्णशुद्धेः कृते ब्रह्मेति शब्दः प्रयुक्तो वर्तते।

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिजीर्वनाय कम्॥[12]

द्यावापृथिव्योः संरक्षणम्

वेदानां मन्त्रेषु द्यौः पिता पृथिवी च माता मन्यते। यदि द्युलोकस्य अन्तरिक्षं प्रदूषितं भवति तर्हि उर्ज्जायाः स्रोतमपि नष्टं भविष्यति। अपि च भूमेः प्रदूषणेन मानवजीवनं सङ्कटापन्नं भवति। अत एव उभयोः संरक्षणमावश्यकम्। अथर्ववेदस्य कथनमस्ति -पृथ्वी अस्माकं माता अस्ति वयं च तस्य पुत्राः स्मः। यजुर्वेदे उक्तं वर्तते पृथिवी माता, द्योष्पिता। एवमेव अथर्ववेदे वर्णितमस्ति पृथ्वी माता, अन्तरिक्षं भ्राता द्यौः पिता अस्ति। यथा अस्माभिः मातापित्रोः संरक्षणं सेवादिकं च क्रियते। तथैव प्रकृतेरपि कर्तव्यम्।

(क) माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।[13]

(ख) भूमिर्माता, भ्रातान्तरिक्षम्, द्यौर्नः पिता।[14]

(ग) पृथिवी माता, द्यौष्पिता।[15]

(घ) द्यावा पृथिवि ..... पिता माता।[16]

अथर्ववेदे द्यु-भूः इत्येतस्य उपयोगितायाः वर्णनक्रमे उक्तमस्ति - भूमिः अस्मान् हरितिमां सस्यसम्पदां च प्रददाति। अग्निश्च लौहतत्त्वं ददाति। वृक्षाः वनस्पतयश्च सूर्यकिरणस्य साहाय्येन कल्याणकारिणीं शक्तिं प्रददाति। इयं शक्तिः प्राणवायु (ऑक्सीजन) रूपेण प्राप्यते।

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृद्
अग्निः पिपर्तु अयसा सजोषाः।
वीरुदशिष्टे अर्जुनं संविदानं

दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्।।[17]

यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे वर्णितमस्ति यत् द्युलोकः पृथिवीं च ऊर्जा प्रददाति, वनस्पतयः शक्तिं प्रददाति, जल-ओज-बल-वीर्यञ्च प्रददाति। अनेन द्यु-भू-वनस्पतयः जलञ्च ऊर्जायाः स्रोतांसि सन्ति।

दिवः पृथिव्याः पर्योज उद्मृतम्,
वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः
अपाम् ओज्मानम्।[18]

एवमेव यजुर्वेदे उक्तं द्युलोकमन्तरिक्ष-पृथिवी-ओषधयः च रसस्य शक्तयश्च स्रोतमस्ति।

पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु
पयो दिवि अन्तरिक्षे पयो धाः।।[19]

ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे कथितमस्ति पृथिवी माता अस्मान् मधुरं दुग्ध-अन्न-जलञ्च ददाति। द्युलोकममृतं ददाति। इदममृतं द्विप्रकारकं भवति - सूर्येण ऊर्जा, प्रकाशौ तथा मेघात् पवित्रं जलम्। अथर्ववेदे उक्तमस्ति द्युलोकमन्तरिक्षमोषध यः जलञ्च सर्वमेतद् अस्मान् मधुरतां प्रददाति।

(क) येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते स्वः।
पीषूषं द्यौः।।[20]

(ख) मधुमतीरोषधीर्द्यावा आपो
मधुमान्नो भवतु अन्तरिक्षम्।।[21]

द्यु-भू इति एतौ प्रदूषणमुक्तौ कर्तव्यौ - वेदेषु अनेकेषु स्थानेषु अस्मान् आदिशति यत् तादृशं किमपि कर्म न कर्तव्यं येन तत्र प्रदूषणं भवेत्। ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे निर्दिष्टं वर्तते यत् द्यु-भू इत्येतौ अस्माकं रक्षकौ सतः।

(क) द्यौश्च नः पृथिवी च प्रचेतसः ..... रक्षताम्।
मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत।।[22]

(ख) द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः।
आपः शान्तिः ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः।।[23]

मन्त्रेऽस्मिन् द्यु-भू-अन्तरिक्ष-जल-ओषधयः वनिस्पतिभ्यः प्रार्थ्यते ते अस्मभ्यं सुखं शान्तिञ्च प्रयच्छन्त्विति।

अपि च अन्यस्मिन् मन्त्रे कथयति यत् द्यावापृथिवीभ्यां सह अस्माकं परस्परं सम्बन्धो वर्तते। यदि वयं द्यावापृथिव्योः रक्षां कुर्मः, तदा तेऽपि अस्माकं रक्षां करिष्यतः। यदि तान् कष्टं दद्मः चेत् तेऽपि अस्मान् कष्टं विपत्तिञ्च दास्यन्ति। अत एव यजुर्वेदे उक्तम् -

(क) अवतां त्वा द्यावापृथिवी
अव त्वं द्यावापृथिवी।।[24]

(ख) मा द्यावापृथिवी अभि शो चीः
मा अन्तरिक्षं मा वनस्पतीन्।।[25]

अथर्ववेदस्य एकस्मिन् महत्त्वपूर्णे मन्त्रे उल्लिखितमस्ति पृथिव्याः यस्मिन् भागे वयं गर्तं खनामः तत् पुनः पूर्णं करणीयम्। कस्यापि अवस्थायां पृथ्व्याः हृदयस्थले क्षतिः न करणीयम्। अन्यथा पर्यावरणस्य संतुलनं नश्यति। अस्य मन्त्रस्योल्लेखं पूर्वप्रधानमन्त्रिणः श्रीमती इन्दिरागाँधीमहोदयया विश्वप्रदूषणनिवारणसम्मेलने कृता अस्ति।

यत्ते भूमे वित्वनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।[26]

जलसंरक्षणम्

जलस्योपयोगिता - वेदेषु जलस्य उपयोगिता महत्त्वञ्च इत्यस्मिन् विषये बहुवर्णनं वर्तते। जलमेव जीवनम्, अमृतम्, भेषजम्, रोगनाशकञ्चास्ति। यः जलं दूषयति सः पापं करोति। इदं मानवजीवनशक्तिः प्रददाति रोगं च नाशयति। जले सोमरसं मेलयित्वा सेवनेन मनुष्यः दीर्घायुः प्राप्नोति।

(क) अप्सु ..... अन्तर्विश्वानि भेषजा।
आपश्च विश्वभेषजी।।[27]

(ख) अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्।[28]

(ग) आपः पृणीत भेषजम्।[29]

(घ) आपो ..... रसेन समगस्माहे।[30]

जलस्य विषये इत्थमपि भणितं वर्तते यत् जलेन सर्वं रोगं नश्यति। अनेन आनुवंशिकं रोगमपि नश्यति। जलं सर्वोत्तमं वैद्यमपि कथ्यते। अक्षि-पाद-सर्वान् पीडान् अपवारयति। हृदयरोगस्य निवारणमपि जलेन सम्भवति।

(क) आपो विश्वस्य भेषजीः तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्।

(ख) आपः भिषजां सुभिषक्तमाः।[31]

(ग) आपो ..... हृद्द्योतभेषजम्।[32]

एकस्मिन् मन्त्रे हिमालयात् निःसृतानां नदीनां जलं विशेषरूपेण औषधयुक्तं भवति इति कथितमस्ति। वर्षायाः जलं सर्वोत्कृष्टं जलं भवति। अनेन जलेनापि दीर्घायुः प्राप्नुवनित जनाः। ऋग्वेदस्य कथनमस्ति यत् जलं वनस्पतयश्च मानवजीवने महत्त्वपूर्णं स्थानं बिभर्ति। जलस्य वायोश्च सम्बन्धः परस्परं भवति। वायुः गन्धर्वः अस्ति चेत् जलमप्सरा कथ्यते। जलमूर्जायाः मूलाधारो वर्तते। जलं वनस्पतयश्च अस्माकं मित्रे स्तः।

(क) निष्षिध्वर्यः ओषधीरापः।[33]

(ख) आपश्च मे वीरुधश्च मे।[34]

(ग) वातो गन्धर्वः तस्यापो
अप्सरस ऊर्जो नाम।।[35]

(घ) सं मा सृजामि अद्भिरोषधीभिः।[36]

(ङ) सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु।[37]

समुद्राः नद्यश्च –वेदेषु नदीं समुद्रञ्च मानवस्य सौख्यं साधकं कथितमस्ति। तत्रोक्तं नद्यः मानवाय सौख्यं ददति। नद्यः घृततुल्यं पुष्टिकारकं मधुरञ्च जलं ददाति। सरस्वती–सिन्ध्वादयाः नद्यः अस्मान् तथैव सुखी कुर्वन्तु यथा वृष्टिः ओषधिं करोति। नद्यः जलेन पूर्णा भवतु तथा च अस्मान् केनापि प्रकारेण मा कष्टयतु, मधुरं जलं च ददातु।

समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः।[38]

जलप्रदूषणस्य निवारणम्

यजुर्वेदे निर्दिशति जलं मा दूषितव्यम्, वृक्षान् वनस्पतींश्च न नष्टव्यम्। इत्थमेव अन्यस्मिन् मन्त्रे उक्तं यत् पौष्टिकगुणयुक्तेन जलेन ओषधीनां सेचनं कृत्वा सुरक्षितं कर्तव्यम्।

माऽपो हिंसीः, मा ओषधीर्हिंसीः।[39]
अपः पिन्व, ओषधीर्जिन्व।[40]

लौकिकसाहित्ये पर्यावरणस्य महत्त्वम्

तत्र प्रथमं **वाल्मीकीयरामायणे पर्यावरणस्य निरूपणम्**

प्रकृतिप्रेमं सर्वविधकल्याणसाधकं भवति। अस्माकं कविः मानवहृदयभावव्यापारपरिज्ञाने तद् विश्लेषणे च यथा समर्थोऽस्ति तथैव बाह्यप्रकृतेः रहस्यानामवधारणे तत्प्रकाशने च परमप्रवीणः। मानवसमाजः प्रकृतिरक्षणे पटुः प्रकृतिश्च मानवानन्दप्रदाने समुद्यता दरीदृश्यते। 'परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इत्यवधारणा द्वयोर्मध्ये सुदृढा। तमसानद्यः प्रशंसां कुर्वन् कविः कथयति–

अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामया।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सन्मनुष्यमनो यथा।।[41]

राजादशरथः सरयूनद्याः तटे एव अयोध्यानगरीं संस्थापितवान् पुत्रप्राप्त्यर्थं तत्तीर एव अश्वमेधयज्ञभूमिं विरचितवान्। पर्यावरणस्य शोभावृध्यर्थं तत्र नगर्यां नानोद्यानानि, पुष्पवाटिकाः गृहारामाः यत्र–तत्र क्रीडोपवनानि, आम्रादिस्वादिष्टफलवाटिकाः, क्रीडाशैलाः, स्निग्धच्छायातरवः अन्यान्यमनोहरजलाशयाश्चासन्।

राज्ञा वसुना शोणभद्रतटे गिरिव्रजाख्यस्य नगरस्य स्थापना कृता। तत्र सुमागधीनदी (शोणभद्रनदी) पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मणिमालेव शोभते–

सुमागधी नदी रम्या मागधान् विश्रुताऽऽययौ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते।।[42]

चित्रकूटपर्वतस्य रमणीयता पर्यावरणस्य आह्लादकता च

रामायणे चित्रकूटपर्वतस्य महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति। तत्र ऋषिणाम् आश्रमाः आसन्। पर्वतोऽयमतीव नयनाभिरामः पवित्रश्चासीत्। तत्रत्यस्य पर्यावरणस्य शोभा अतीवाह्लादकारिणी आसीत् अस्ति च। तस्मिन् तपोवने हिंसकजन्तवः स्वसहजवैरं विहाय सुहृद्वद् विहरन्ति स्म। तदुपरि क्वचित् जलप्रपाता दृष्टिमाकर्षयन्ति। कुत्रचित् वसुधातलात् निःसृत्य प्रवहन्तः स्रोताः मनोहरन्ति। विभिन्नप्रफुल्लितपुष्पसुगन्धान् नीत्वा वायवः जनानां क्लेशं हरन्ति। एतादृशो गन्धवः वायवः कं नरं न प्रहर्षयेत्। पर्वतेऽस्मिन् श्रीरामचन्द्रो भृशं प्रसीदति। वनवासस्य सर्वान् दुःखान् विस्मर्य मोदते च। तत्र न कश्चित शोकः क्लेशः वा सम्भवति। स सीतां प्रति कथयति–

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम्।।
यदीह शरदोऽनेकास्त्वेया सार्धमनिन्दिते।
लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मा शोकः प्रधर्षयति।।
बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानास्मि भामिनी।।
वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह।
पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्काय सम्मतान्।।[43]

अस्य पर्वतस्य उपरि समुत्पन्नाः सहस्रशः ओषधयः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः रजन्यां चन्द्रप्रभा इव विभाति। क्वचित् वृक्षाणां सघनस्निग्धच्छायाच्छादितानि स्थानानि सुरम्यभवनानीव प्रतिभान्ति। अनेकानि विलासस्थानान्यपि तत्र सन्ति यत्र कामिनः। विलासिन्यश्च स्ववैरं विहरन्ति। विलक्षणोऽयं चित्रकूटः –

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः।
चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः।।
वस्वौकसारा नलिनीमतीत्यैवोत्तरान् कुरुन्।
पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूल फलोदकः।।[44]

एतादृशमेव पर्यावरणमादर्शपर्यावरणमस्ति। एतादृशे पर्यावरणे सर्वे निरामयाः सुखिनश्च भवन्ति। आदिकवेरनन्तरं संस्कृतसाहित्ये कविकुलचूडामणिः कालिदासोऽपि स्वकीयकाव्ये नाटके च प्रकृतेः पर्यावरणस्य च रमणीयं लोकोत्तराह्लादकत्वं वर्णनं कृतवान् अस्ति।

'ऋतुसंहार'नामके खण्डकाव्ये तु सर्वत्र प्रकृतेः निरूपणमेव प्राप्यते। षड्सु सर्गेषु विभक्तोऽयं काव्यः ग्रीष्मादारभ्य वसन्तर्तु पर्यन्तं षण्णाम् ऋतुनामत्यन्तं स्वाभाविकं, अकृत्रिमं तथा च सरलं वर्णनं कृतं कालिदासेन। तत्र वसन्तर्तुः कीदृशं मनोहारि वर्णनं वर्ततेऽत्र-

द्रुमाः स पुष्पाः सलिलं च पद्मम्।
स्त्रियः सकामा पवनः सुगन्धिम्॥
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः।
सर्वं प्रियं चारुतरं वसन्तेः॥[45]

महाकवेः प्रकृतिवर्णनं वैज्ञानिकमलङ्कृतञ्चास्ति। अस्य रमणीयता सर्वत्र दृश्यते। पर्वतात् पतितान् निर्झरिणीमुपरि यदा सूर्यस्य किरणः गच्छति तदा तेषामुपरि इन्द्रधनुषमिव सौन्दर्यं दृश्यते। परञ्च सन्ध्यायां यदा सूर्यः पश्चिमदिशा गच्छति तदा तत्र इन्द्रधनुषस्य लोपः भवति। अस्य वैज्ञानिकतथ्यस्य प्रत्यक्षं वर्णनं कालिदासेन पद्येऽस्मिन् कृतमस्ति-

सीकर-व्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेष शून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥[46]

परञ्च निर्झरेषु इन्द्रधनुषस्याभावेऽपि तडागस्य जले सूर्यस्य छायाकान्ति एतादृशी प्रतिभाति मन्ये स्वर्णसेतुबन्धनम् अस्त्यत्र।

पश्य पश्चिम-दिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम्॥[47]

संस्कृतमहाकाव्ये यदा प्रकृतिनिरूपणं प्राप्यते तथैव संस्कृतनाटकेष्वपि प्रकृतेः सम्यक् निरूपणं वर्तते। कालिदासस्य शकुन्तला वृक्षेषु जलचेनपूर्वं कदापि स्वयं जलं न पिबति। सा कदापि नवकिसलयेन आभूषणं न रचयति।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥[48]

अत्र प्रकृतेः मानवस्य परस्परं प्रेमसम्बन्धेन आबद्धः वर्तते।

उद्गलितदर्भ कवला मृगी परित्यक्त नर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥[49]

एवमेव वयं सम्पूर्णं संस्कृतवाङ्मये प्रकृतेः वर्णनं पर्यावरणस्य आराधना च अवलोकयामः। वर्तमानयुगेऽपि पर्यावरणसंरक्षण-विषये संस्कृतसाहित्यस्य उपयोगो भवितुं शक्यते।

सहायकशिक्षकः
दरभङ्गा, बिहारः

संदर्भ सूची

[1] अथर्ववेद 18/1/17
[2] अथर्ववेदः 4/25/3
[3] अथर्ववेदः 4/13/3
[4] ऋग्वेदः 10/186/3
[5] ऋग्वेदः 6/37/3
[6] अथर्ववेदः 3/21/10
[7] ऋग्वेदः 10/35/2
[8] ऋग्वेदः 10/66/9
[9] ऋग्वेदः 10/66/10
[10] ऋग्वेदः 10/64/8
[11] ऋग्वेदः 3/51/5
[12] अथर्ववेदः 8/2/25
[13] अथर्ववेदः 12/1/12
[14] अथर्ववेदः 6/120/2
[15] यजुर्वेदः 2/10-11
[16] ऋग्वेदः 5/43/2
[17] अथर्ववेदः 5/28/5
[18] यजुर्वेदः 29/53
[19] यजुर्वेदः 18/36
[20] ऋग्वेदः 10/63/3
[21] अथर्ववेदः 20/143/8
[22] ऋग्वेदः 10/63/2
[23] यजुर्वेदः 36/17
[24] यजुर्वेदः 2/9
[25] यजुर्वेदः 11/45
[26] अथर्ववेदः 12/1/35
[27] ऋग्वेदः 1/23/20
[28] ऋग्वेदः 1/23/19
[29] ऋग्वेदः 1/23/21
[30] ऋग्वेदः 1/23/23
[31] अथर्ववेदः 6/24/2
[32] अथर्ववेदः 6/24/1
[33] ऋग्वेदः 8/59/2
[34] यजुर्वेदः 18/14
[35] यजुर्वेदः 18/41

[36] यजुर्वेदः 18/35
[37] यजुर्वेदः 36/23
[38] अथर्ववेदः 1/13/3
[39] यजुर्वेदः 6/23
[40] यजुर्वेदः 14/8
[41] वा. रा. 1/1/5
[42] वा. रा. 1/32/9
[43] वा. रा. 2/94/3
[44] वा. रा. 2/94/23
[45] ऋतुसंहारः
[46] कुमारसंभवम् 8/31
[47] कुमारसंभवम् 8/34
[48] अभिज्ञानष्ठााकुन्तलम् 4/8
[49] अभिज्ञानष्ठााकुन्तलम् 4/11

शोध-पत्र

कृष्णा सोबती का कथा साहित्य : विविध आयाम

अभिनव प्रकाश

नई कहानी के महत्वपूर्ण कथाकारों में कृष्णा सोबती का नाम हमेशा आदर के साथ लिया जाता रहा है।

कृष्णा सोबती का जन्म सन 1925 में विभाजन पूर्व पंजाब में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा लाहौर शिमला और दिल्ली में हुई।

कृष्णा सोबती ने भारत और पाकिस्तान विभाजन को करीब से देखा था इस वजह से उनकी रचनाओं में देश विभाजन से जुड़ी अनेकों त्रासद कथाएं और पात्र हमेशा केंद्र में रहे हैं और साथ ही मूलत: पंजाब की भूमि पर जन्म लेने के कारण इनकी रचनाओं में अनेकों बार पंजाबी संस्कृति के रहन-सहन की झलकियां स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

आज कृष्णा सोबती को हम उनके कथा साहित्य की उपलब्धियों से ही जानते हैं जबकि इन्होंने अपनी साहित्यिक यात्रा काव्य लेखन से आरंभ की थी। गौर करने वाली बात ये है कृष्णा सोबती जिस देशकाल और वातावरण में जन्म लेकर पली बढ़ी वो सभी सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक परिस्थितियां स्वत: ही उनके लेखन कर्म में मुखरित हुई है।

जटिल से जटिल भावों को अपने लेखन में स्थान देने वाली कृष्णा सोबती अपने असल जीवन में बेहद सादगी भरा जीवन जीती थी, पंजाब का सादा खानपान, मक्खन रोटी दाल का उन्हें हमेशा से चाव रहा, भले ही कृष्णा सोबती ने साहित्यिक उपलब्धियां प्राप्त की हो पर असल जीवन में वह सरल स्वभाव की थी और साथ ही नए युवा रचनाकारों को प्रोत्साहित करते रहने में भी विश्वास करती थी। कृष्णा सोबती का समग्र जीवन किन्हीं विशेष घटनाक्रमों का साक्षी नहीं भी रहा और साथ ही उन्होंने कम लिखने लेकिन अच्छे लिखने की आदत पर भी बराबर जोर दिया।

नई कहानी की मुख्य कहानीकार, महिला साहित्यकारों में परम स्थान रखने वाली कृष्णा सोबती का सन् 2018 मे दुनिया को अलविदा कहना संपूर्ण साहित्य जगत को किसी दुख या सदमे में डूबाने के बजाय एक ऐसी प्रेरणा से भर जाता है जिस प्रेरणा का मूल स्वर कृष्णा सोबती के साहित्य सृजन से लगातार नई संभावनाओं और स्वरों को तलाशना है, क्योंकि उनका समग्र साहित्य कर्म बहुआयामी है जिसमें स्त्रीवादी स्वर या देश विभाजन त्रासदी से इतर भी और कई-कई स्वर आज भी बिखरे पड़े हैं।

कृष्णा सोबती का कथा साहित्य

हिंदी साहित्य जगत में कृष्णा सोबती को स्त्री चेतना और देश विभाजन त्रासदी से संबंधित रचनाओं की परिधियों में ही बाँटकर देखा जाता है। उनके साहित्य का समग्र रूप से विवेचन किया जाए तो कृष्णा सोबती अपने समकालीन समाज से जुड़ी हर छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी समस्या को लेकर अपना साहित्य सृजन करने में विश्वास रखती हैं। कृष्णा सोबती लगभग सन 1950 तक साहित्य सृजन करना आरंभ करती है और देखते ही देखते नयी कहानी से उन्हें सीधे तौर पर जोर दिया जाता है। दरहसल कृष्णा सोबती इतनी समर्थ लेखिका रही है कि उन्होंने अपनी लंबी साहित्यिक यात्रा में अपनी हर नई कृति के साथ अपनी क्षमताओं का अतिक्रमण किया है

उनकी रचनाओं में एक प्रकार की बौद्धिकता,

आलोचनात्मक विमर्श, नैतिक और अनैतिक के बीच का संघर्ष पैदा होता दिखाई पड़ता है जो बराबर से हर पीढ़ी के पाठक को भीतर तक झकझोर देने में सक्षम है। कृष्णा सोबती जोकि हिंदी साहित्य की बोल्ड लेखिकाओं के रूप में गिनी जाती है उन्होंने खुद को सिर्फ महिला केंद्रित तथ्यों के साथ ही जोड़े नहीं रखा बल्कि समय और समाज के हर हिस्से से उठने वाले प्रश्नों के संग जोड़कर इन्होंने अपनी रचनाधर्मिता को एक नया आयाम दिया। बतौर लेखिका के रूप में कृष्णा सोबती की ईमानदारी का अंदाजा उनके इस कथन से मालूम पड़ता है,

''मैंने अपने लेखन में कोशिश की है कि जिस वर्ग विशेष को मैं नहीं जानती उसे मैं अपने लेखन के लिए नहीं चुनती।''

(यानी सीधे तौर पर कृष्णा सोबती के साहित्य में प्रमाणिकता और बौद्धिक तत्व प्रमुख रहे हैं।)

कृष्णा सोबती ने जिस तरह से अपने साहित्य में देश विभाजन, वेश्यावृत्ति, नारी यौन अतृप्ति, पारंपरिक भारतीय संस्कार और संस्कृतियों समेत जितने भी स्वर अपने साहित्य में जोड़े हैं वह सभी कहीं ना कहीं कृष्णा सोबती के अत्यंत ही सरल हृदय और उनके संवेदनात्मक व्यक्तित्व की पहचान है, वहीं घटनाओं और पात्रो का बारीकी से सूक्ष्म निरीक्षण उनकी कलात्मक प्रवृत्ति को दर्शाता है।

अक्सर अपनी कथाओं में पंजाब की मिट्टी की खुशबू देना, चलती भाषा का प्रयोग उनके अंदर छिपे प्रखर लेखक का परिचय देता है।

कृष्णा सोबती के व्यक्तित्व और उनकी साहित्य की यात्रा को लेकर आलोचकों और पाठकों का एक खासा नजरिया रहा है, जैसे कृष्णा सोबती, इनका....

''आधुनिक भारतीय समाज में स्त्री चेतना की प्रखरतम प्रवक्ता का संघर्ष निसंदेह दोहरा रहा है, उन्होंने जहां एक कलाकार का अनिवार्य अकेलापन झेला है वहीं पुरुष प्रधान समाज में स्त्री होने के सत्य को भी वह झेलती है और इस दोहरे संघर्ष में एक रचनाकार का व्यक्तित्व ही उनकी असली पहचान है।''

वहीं कृष्णा सोबती के साहित्य में नएपन और विभिन्न प्रश्नों पर विचार विमर्श को लेकर अशोक वाजपेयी उनके संपूर्ण साहित्य को ऊर्जा से भरपूर मानते हुए लिखते हैं कि,

''यह कह पाना कठिन है कि कृष्णा सोबती को अदम्य ऊर्जा कहां से आती है पर यह देखना सुखद है कि वह मुख्यत: उनकी रचना में जाती है। उनकी रचना जिनकी कहानी है उनकी कहानी तो है ही, वह उनकी ऊर्जा का भी दमकता और मर्मस्पर्शी दस्तावेज है।''

कृष्णा सोबती कम लिखने लेकिन अच्छा लिखने पर ज्यादा बल देती हैं इस विषय में मधुरेश का यह कथन भी महत्वपूर्ण है,

''नयी कहानी आंदोलन में कृष्णा सोबती अकेली कहानीकार है जिन्होंने इतनी कम कहानियां लिखकर अपनी विशेष पहचान बनाई है।''

वहीं उनके कम लिखने के विषय में मधुरेश ने आगे और जोड़ते हुए यह बताने का भी प्रयास किया है कि कृष्णा सोबती मूल्त: अपने को दोहराने से बचती हैं, साथ ही नयी कहानी के घोर आत्मपरकता वाले दौर में भी उसकी सीमाओं को समझकर जो कुछ लेखक उससे मुक्ति हेतु संघर्ष कर रहे थे उन संघर्षी लेखकों में वह अपना एक अग्रणी स्थान रखती हैं।''

कृष्णा सोबती के कथा साहित्य की चर्चा में उनके नई कहानी से जुड़ने की घटना पर विशेष बल देना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि यही वह काल रहा है जब कृष्णा सोबती हिंदी साहित्य में स्त्रीवादी चेतना की प्रमुख महिला साहित्यकारों के साथ साहित्य सृजन करती हैं। नई कहानी से ही कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा जैसी लेखिकाओं का साथ पाती है और आगे चलकर इन तीनों लेखिकाओं में से खुद कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी उस दौर के आत्मपरक लेखन का सफल अतिक्रमण कर 'जिंदगीनामा' और 'महाभोज' जैसी कृतियों द्वारा अनेकों नए संदर्भो की गहरी पड़ताल में प्रवृत्त होती है। कृष्णा सोबती ने जहां अपने लेखन कर्म से हिंदी भाषा के कथा साहित्य के भाव पक्ष को एक अलग ताजगी प्रदान की तो वही अपने रचना कौशल से वह हिंदी कथा भाषा का स्वरूप ही बदलती दिखाई पड़ती है। कृष्णा सोबती के इसी सफल लेखन कर्म पर यह मत सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि,

''उन्होंने हिंदी कथा भाषा को एक विलक्षण ताजगी देकर अपने भाषा संस्कारों से अनेकों जटिल भावबोधों से पाठकों का परिचय कराया है।''

वास्तव में हम यह समझ सकते हैं कि कृष्णा सोबती

जिस कालखंड में साहित्य सृजन से जुड़ती हैं वह समय हिंदी साहित्य में नयी कविता के बाद नयी कहानी को जन्म दे रहा था और उस नयी कहानी का स्वरूप नामवर सिंह के शब्दों में समझना एक पाठक के लिए ज्यादा आसान पड़ता है वह लिखते हैं कि,

''जो छोटी सी बात पुराने कहानीकारों के लिए अपर्याप्त थी उसी को नई कहानीकारों ने कहानी के लिए पर्याप्त मान लिया है और फिर उसके भीतर से इन्होंने कहानी के कथानक की विभिन्न सिम्तो का विकास किया है।''

कथा साहित्य के विविध आयाम

कृष्णा सोबती के कथा साहित्य की चर्चा करते हुए अक्सर उन पर कम लिखने का आरोप लगाया जाता रहा है जिसके जवाब में एक साक्षात्कार में वह बोली थी कि,

''मुझमें एक गहरा ठंडापन है, कभी-कभार लिखने बैठ जाती हूं तो वह मेरे निकट समूची प्रक्रिया का एक अंग बन जाता है। कुछ भी लिखना मेरे निकट एक गंभीर और जोखिमभरी स्थिति बन जाती है इसलिए मैं अपने लेखक को कभी पटाती नहीं, दांव पर नहीं लगाती, अपने से हटकर मैं उसे दूसरा व्यक्ति समझती हूं और उसकी इज्जत करती हूं।''

कुछ इस तरह से कृष्णा सोबती के कम लिखने पर विचार करते हुए हम यह पाएंगे कि उन्होंने समान रूप से जितनी भी कहानियां और उपन्यास लिखे हैं वह किसी खास ट्रेंड के चलते नहीं लिखे हैं और ना ही वह सन् 1970 के उन उपन्यासकारों की श्रेणी में आती है जोकि मात्र लिखने भर के लिए लिखते रहे या जिनके उपन्यास गुणवत्ता की दृष्टि से नीचे गिरते गए। कृष्णा सोबती की हर रचना अपने आपमें बेजोड़ है, वह कई पीढ़ियों से एक साथ संवाद करने में सक्षम है वही कृष्णा सोबती की कहानियों को लेकर कमलेश्वर का यह मत महत्व रखता है, ''आपकी कहानियों में सदियों को आवाज देती एक सांस्कृतिक गूंज है जो अतीत के मोह से ग्रस्त नहीं है वरन् आधुनिक समय के सीमांतों पर सक्रिय है। वे सीमांत जो हिंदू कुश पहाड़, पामीर के पठार और यूनान की बंजर धरती से भी जुड़े हैं और आज के लहूलुहान मनुष्य की आंतरिक और खंडित सच्चाई की सभ्यता के सीमांत भी हैं।''

वहीं कृष्णा सोबती क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की हिंदी साहित्य की प्रमुख स्त्री साहित्यकार के रूप में उभरकर सामने आती हैं

इस कारण से यह जरूरी हो जाता है कि हम स्वतंत्र भारत के कथाकारों की रचनाधर्मिता में स्वतंत्रता बोध से उपजे अनेकों बौद्धिक एवं मानवीय पक्षों का विवेचन करें, इसी संदर्भ में नयी कहानी की भूमिका से कमलेश्वर भारतीय समाज और उसमे व्याप्त उस जड़ता का जिक्र करते हैं जो समाज स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तन से परंपराबद्ध और मन से परंपरा विरुद्ध और इसी अंतर्विरोध से समाज के भीतर एक बड़े शून्य का जन्म होता है जिसका व्याख्यान करने से कटीपय साहित्यकार उस समय कतरा रहे होंगे। इस तरह से अगर सन् साठ तक आते-आते साहित्य में नयी कविता या नयी कहानी जैसे नामचलन में आने लगे हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि समय और समाज की मांग और जरूरत को देखते हुए ही आहिस्ता-आहिस्ता जीवन को झेलने वाले केंद्रीय पात्र साहित्य में उभरकर आने लगे होगे, यथार्थ का रूप प्रेमचंद की परंपरा से अलग होने लगा होगा, एक आदर्शवादी और प्रगाढ़ भारतीय संस्कार लिए पात्र साहित्य से ओझल होने लगे होंगे, और यह सभी स्थितियां बदलते भारतीय समाज की ही देन थी, जिसे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के साहित्यकारों ने अपने लेखन कर्म में जगह देना ज्यादा उचित समझा था। अत: जिस अजनबीपन, अलगाव की समस्या, सामाजिक व पारिवारिक विघटन की समस्या का सामना भारतीय समाज का हर व्यक्ति कर रहा था उसी की अभिव्यक्ति स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के से लगभग 10 से 20 सालों के भीतर हर लेखक की रचनाओं में दिखाई देने लगी। कृष्णा सोबती भी इसी भावबोध से अपना साहित्य सृजन करती दिखाई पड़ती है लेकिन फिर भी नैराश्य का प्रभाव उनके साहित्य कर्म को नीरस या निराशावादी घोषित नहीं करता है, उनका साहित्य कर्म बदलते हुए समाज के हर वर्ग तक पहुंच बनाकर एक बदलाव की उम्मीद जगाकर पाठक वर्ग को बेहतर समाज और जीवन के लिए प्रेरित करता है। जैसा कि उनकी 'सिक्का बदल गया' कहानी में भी शाहनी कहानी के पात्र से या फिर कथा की संवदेना से किसी तरह की कोई निराशा, घृणा या खींझ उत्पन्न नहीं होती बल्कि पाठक के भीतर देश विभाजन को लेकर एक अलग दृष्टिकोण पैदा होता है जोकि अपनी

वास्तविक भूमि से बिछड़ने के दुख और तकलीफ से अवगत कराता है, इसी तरह उनकी कहानी 'मेरी मां कहा' यूनुस खान के पात्र के सहारे जिस तरह से परिस्थितियों के आधीन व्यक्ति की मानसिक दशा का बारीकी से चित्रण करती है वह एकाएक युद्ध संस्कृति से जर्जर मानव में सोई हुई विश्व मानवतावाद और संवेदनात्मक हृदय को उजागर करता है। इसी क्रम में उनकी 'दादी अम्मा' कहानी ऊपरी तौर पर भारतीय समाज में रह रहे संयुक्त परिवारों की बदलती हुई तस्वीरों को पाठकों के सामने उतारती हुई प्रतीत होती है, इस कहानी में बजाए घरेलू खींचतान या आपसी मनमुटाव से कहीं आगे बढ़कर हमारे समाज और परिवारों में रह रहे उन बुजुर्ग संबंधियों की ओर ध्यान दिलाया गया है जोकि अपने जीवन भर की कमाई कर अपने बच्चों के उज्ज्वल भविष्य की कामना तो करते हैं पर अंदर ही अंदर वह भीतरी मन से बेहद रुष्ट है, अपने सामने जवान हुई पीढ़ी से नाखुश है, उनका अकेलापन उन्हें एक उदास मौत की तरफ घसीट रहा है। इसी तरह उनके उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' साफ तौर पर नारी हृदय की मन:स्थितियों का कुछ हद तक एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अंकन कर प्रतीत होता है पर उसके मुख्य पात्र में पसो के माध्यम से ऐसी नियति को उभार गया है जो मनुष्य का जीवन के प्रति किसी भी आशा के खत्म होने पर उभरकर आती है, जीवन में सदैव संघर्ष और दुखों से जूझकर मनुष्य ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहां ना हंसना होता है ना रोना और ना ही जीवन की क्रूर परिस्थितियों से उसे कोई शिकायत बाकी रह जाती है।

मित्रों मरजानी, यारों के यार, सूरजमुखी अंधेरे के वस्तुत: स्त्री अस्मिता के प्रश्न उठाते उपन्यास हैं। इन उपन्यासों के मुख्य स्त्री पात्र मित्रों, जया, इन सबके माध्यम से स्त्री की दैहिक आवश्यकताओं के साथ-साथ यौन उत्पीड़न मानसिक या शारीरिक हिंसा के साथ और भी कई समस्याओं को बेबाकी से उठाया गया है।

'ए लड़की' इनकी लंबी कहानी है जिसे अक्सर उपन्यास की श्रेणी में भी गिना जाता है इसमें स्पष्ट रूप में भारतीय परंपरा, संस्कृति में स्त्री का आदर्शवादी रूप, समाज के विकास के लिए स्त्री और पुरुष की बराबर भागीदारी पर जोर दिया गया है : 'दिलो दानिश' दिल्ली शहर के माहौल को बयान करता उपन्यास दिखाई पड़ता है।

आजादी मिलने तक ही सन 1940 के आसपास की हिंदी साहित्य के साहित्यकार मनोविज्ञान सिद्धांत और आधुनिकताबोध आधारित उपन्यास लिखना आरंभ करते हैं, अज्ञेय, जैनेंद्र द्वारा पारिवारिक संबंधों की परिभाषाएं भी उलटती पड़ती नजर आती है, पर सन् साठ तक आते-आते मानोहर पात्र घर की पुरानी अवधारणाओं और आस्थाओं को ठुकराता हुआ किसी और ही दिशा की ओर दिग्भ्रमित चलता दिखाई पड़ता है।

राजेंद्र यादव ऐसे पात्र निर्मित करने वाले रचनाकारों की वास्तविक दशा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''स्वतंत्रता के बाद के कथाकार का एक संसार वह है जो उसके चारों ओर है और जिससे उसे आंतरिक घृणा है, बेहद नफरत है लेकिन जिसमें रहने टूटने और समझौता करने को वह बाध्य है, दूसरा संसार वह है जिसे अपने भीतर से निकालकर उसने बाहर फैला दिया है, जिसका निर्माण उसने खुद किया है और जो उसके टूटने और घिसटने की और भी घिनौनी तस्वीर को सामने रखता है उसकी असामर्थ्य हैं, पराजय और हताशा का लेखा है उसकी नियति है।''

इसी कड़ी में अगर हम नयी कहानी के ज्यादातर कहानीकारों को देखें, जिसमें कृष्णा सोबती खुद भी आती है तो सभी की कथाओं के केंद्र में अपने घर से दूर होने या घर में ही रहते हुए टूटन का एहसास किसी ना किसी पात्र में अवश्य ही मुखरित होता दिखाई पड़ता है। निर्मल वर्मा और मोहन राकेश तो मानो बार-बार 'घर' के संदर्भ से ही अपनी वास्तविक भूमि से उखड़ जाने की बात को किसी ना किसी पात्र के जरिए जरूर उठाते हैं, निर्मल वर्मा की 'सूखा तथा अन्य कहानियां' संग्रह से 'खाली जगह से' और 'जाले' यह दो कहानियां साफ-साफ घर के परंपरागत ढांचे के बदलते हुए स्वरूप पर लिखी हुई कहानियां प्रतीत होती है। मानो भारतीय समाज के घरों में कोई अजीबोगरीब सन्नाटा फैला हुआ है पर जिसे तोड़ना किसी भी तरह मुमकिन ना हो, पात्र अपने बचपन के घर को तलाशते हैं पर अंत में उन्हें हताशा ही प्राप्त होती है। निर्मल वर्मा की ही 'परिंदे' कहानी जिससे नयी कहानी की शुरुआत मानी गई है इसमें लतिका समेत डॉक्टर मुखर्जी, ह्यूबर्ट यह तीनों ही पात्र घर से दूर हैं, होमसिकनेस बीमारी को भी इस

कहानी में जोड़ा गया है। मोहन राकेश की 'मिस पाल' कहानी भी एक अविवाहित स्त्री की कहानी है जो अपना घर नहीं बसा पाती है साथ ही घर से दूर अपने ही माता-पिता भाई बहनों से अलगाव की कथा भी बयान करती है। इसी प्रकार उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' भी बदलते आधुनिक भारतीय समाज में घर के बदलते हुए स्वरूप और परिवार में रहकर भी आपसी रिश्तों में अलगाव की समस्या को बड़े ही मार्मिक ढंग से दिखाती है, गजाधर बाबू जिस घर की परिकल्पना लेकर घर वापस लौटते हैं उनके वह सभी अरमान और आकांक्षाएं समय के साथ चकनाचूर होती जाती हैं। मन्नू भंडारी की कहानी 'एक खांने आकाशनाई' में लेखा छुट्टियां बिताने अपने जिस परिवार को घर सोचकर लौटती है उस घर में उसे कहीं भी संतोष या आत्मशांति नहीं मिलती बल्कि वह जल्दी से जल्दी अपने शहर और अपने काम पर वापस आने में ही अपनी खैर मांगती है। इस तरह से नयी कहानी के पुरोधा कहानीकार किसी ना किसी पात्र या संदर्भ से अपनी कथाओं में घर को केंद्र में रखते रहे और घर में व्याप्त इसी टूटन और अजनबीपन को कृष्णा सोबती ने भी अपनी कथाओं में जहां-तहां जगह दी है। दरअसल नई कहानी दौर से जिन आपसी संबंधों की टूटन और घर से बदलते संदर्भों को साहित्य में जगह मिलने लगी वह सभी आधुनिक समय की ही देन थे, आजादी के बाद स्वतंत्रताबोध तो आया पर साथ ही वैज्ञानिक प्रगति भी हुई, सरकारें बदलीं, आजीविका के साधन बदले, लोगों में व्यस्तता बढ़ी, महिलाएं शिक्षा ले आजीविका हेतु घर से बाहर निकलने लगी, इन सभी विमर्शों के केंद्र में स्त्री-पुरुष संबंधों का एक अलग दृष्टिकोण पैदा हुआ जोकि नैतिक-अनैतिक, मानवीय-अमानवीय के बजाय इंसान के मानसिक और शारीरिक पक्ष को उससे जुड़े चिंतन को उस पर ज्यादा से ज्यादा बल दे रहा था।

सन् 1960 तक आते-आते डॉक्टर नीलम गोयल के शब्दों में, ''आधुनिकीकरण से तकनीकी प्रगति इससे समाज में निराशा और अलगाव है।''

और यही आपसी संबंधों की टूटन, अलगाव, पारिवारिक विघटन नयी कहानी के दौर में और भी ज्यादा प्रबल बनकर बार-बार पाठकों की भीतरी मन की उठापटक को बयान करता सा प्रतीत होता है। इसी अजीबोगरीब स्थिति, मानसिक अशांति और अपने घर में रहकर भी निराशा या अजनबी महसूस करने पर डॉ. नीलम गोयल ने अपनी किताब 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी लेखिकाओं के उपन्यासों में अलगाव (एलियनेशन)' पर लिखते हुए दर्शाया है कि,

'धनसंचयन की कभी ना खत्म होने वाले अंधी दौड़ में व्यस्त तथा व्यक्तिव सुख को अधिमान देने वाले व्यक्ति को अन्य सभी संबंध और रिश्ते आत्मसुख में अवरोधक लगने लगते हैं और इसीलिए आत्मनिष्ठ व्यक्ति सभी रिश्तेदारों, आदमियों और परिचितों से यंत्रीकृत होता जा रहा है फलतः बंधुत्व एवं मातृत्व की भावनाएं विलुप्त होती जा रही हैं रिश्तों में आक्रोश व्यस्तता और बेगानापन हैं।''

यानी घर के अंदर अजनबीपन और अलगाव का कारण धनसंचय की कभी ना खत्म होने वाली अंधी दौड़ भी है, इसी प्रकार से जब एक पात्र अपने ही घर के भीतर अकेला महसूस करने लगे तो जरूरी है कि उन स्थितियों का भी समझा जाए जिससे कोई पात्र विशेष अपने ही घर में रहकर भी नितांत टूटा और अकेला महसूस करता है इसी कड़ी में नीलम गोयल विस्तार से लिखती है कि,

''जब कोई व्यक्ति किसी परिवेश किसी माहौल किसी संगति में संतुष्ट नहीं होता, उसे वहां ऊब और बोरियत महसूस होती है ऐसे नीरस उमंगहीन परिवेश से वह कतराता है वहां रहने या वहां जाने से भी वह जी चुराता है। ऐसा अवांछित परिवेश किसी व्यक्ति को अपने घर की चारदीवारी में भी मिल सकता है, किसी स्कूल या कॉलेज के प्रांगण में भी या देश विदेश में भी।''

इस नजरिए से देखा जाए तो कृष्णा सोबती की कथाओं में कितने ही ऐसे पात्र बिखरे पड़े हैं जोकि अपने आसपास के माहौल से संतुष्ट नहीं है। घर से अभिप्राय परिवार भी है लेकिन जब उसी घर के भीतर वह पात्र अन्य सदस्यों के रहते हुए भी एक असुरक्षा महसूस करने लगते हैं तो फलतः उनमें घर के भीतर रहते हुए ही उदासी अकेलापन नीरसता या जीवन से मोह खत्म होने का भाव घर करने लगता है, ऐसी स्थिति से संवादहीनता, अजनबीपन जन्म लेता है और फिर पात्र की एक अलग ही मानसिक दशा मुखरित होती है जैसा कि अमृतराय ने संकेत करते हुए लिखा है कि, ''अजनबीपन और संवादहीनता दोनों मूलतः एक ही चीज हैं जिनके यह दो नाम या दो कोण हैं आदमी और आदमी के बीच संवाद नहीं है और ना होने

की संभावना है इसी से सब एक दूसरे के लिए अनजान है।''

कृष्णा सोबती की 'दादी अम्मा' कहानी में दादी को घर की पुरानी कोठरी रहने को दे दी जाती है जिस घर में वह कभी गृहस्वामिनी बन राज करती रही, जीवन के अंतिम क्षणों में वह उसी घर के एक छोटी सी कोठरी में अपना समय काटने को मजबूर हैं, वह घर के भीतर अकेली है पति से कोई भी संवाद की गुंजाइश नहीं है। इसी कहानी में कृष्णा सोबती ने दादी के बाद की पीढ़ी की तरफ इशारा करते हुए फिर उसी अकेलेपन और संवादहीनता पर कहानी के अंत में दादा के पात्र से कहलवाया है कि, ''वह तो अपनी देह भरके कपड़े बदल गई है अब वह बहू में जीएगी फिर बहू की बहू में।''

'डार से बिछुड़ी' उपन्यास में पाशो को नानी के घर प्रताड़ना उलाहना ही मिलती है लेकिन मां के यहां शेखजी उसकी शादी दीवानजी के बेटे से करवा देते हैं और फिर पाशो के लिए अपने पति का घर ही असली घर बनता है, उसे वहां पति के साथ-साथ मौसी का स्नेह आशीर्वाद भी खूब मिलता है।

'मित्रो मरजानी' में मित्रों के जीवन में घर का सुख तो है लेकिन उसमें पति का प्यार शामिल नहीं है, मित्रों का कथन ''महाराजजी ना ठाली बांटते हो ना नींद बांटते हो, दिल के दुखड़े ही बांट लो''

अंत में वह दैहिक सुख की तलाश में मां के पास पहुंचती है पर जीवन के कटु सत्य से अवगत होने के पश्चात वह पुनः ससुराल और अपने पति के प्रति ही खुद को समर्पित करती है। इस उपन्यास में मित्रो के लिए घर मां का भी है और घर ससुराल भी है पर पति के प्रति समर्पण और नंगी सच्चाईयों का भान उसे ससुराल को ही घर मान कर वापस लौटाने को तत्पर है।

'दिलो दानिश' में बयान किया गया घर दो हिस्सों में बंटाहै, और उस दो हिस्सों में बंटे हुए घर को आपस में जोड़े रखने का एकमात्र जरिया सिर्फ बच्चे ही हैं।

जहां एक तरफ घर के भीतर का अजनबीपन और ऊब कृष्णा सोबती की कथाओं में व्याप्त है, वहीं घर को लेकर असमंजस, चिंता और तकलीफ भी इनकी कथा के पात्रों में बखूबी नजर आती है। कृष्णा सोबती का 'समय सरगम' उपन्यास इसमें कामिनी पात्र जिसका अपना मकान है और वही मकान उसकी असुरक्षा का कारण भी है, उसे डर है कि उसके भैया भाभी उसकी हत्या करवाकर उसके मकान को दलाल को दिखाकर सौदा करवाकर उसकी हत्या का षड्यंत्र रचेगे, इसी उपन्यास की दमयंती पात्र घरकी मालकिन होने पर भी अपने मेहमानों को ड्राइंगरूम में नहीं बिठा सकती है वह भी सिर्फ अपने बेटे के गुस्से के कारण।

कृष्णा सोबती की सर्वचर्चित कहानी 'सिक्का बदल गया' में देश विभाजन की त्रासदी को शाहनी के पात्र द्वारा ही उकेरा गया है वही शाहनी के लिए केवल उसका एक मकान ही नहीं बल्कि पूरा गांव ही उसको अपने घर सा प्रतीत होता है।

अंततः इस तरह कृष्णा सोबती की कथाओं के केंद्र में घर को लेकर कई कई पक्षों पर विचार किया गया है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के चलते घर का बदलता हुआ स्वरुप उनकी कथाओं में बार-बार दिखाई पड़ता है।

कृष्णा सोबती हिंदी साहित्य की बोल्ड लेखिका के रूप में जानी जाती रही हैं, उनके संपूर्ण साहित्य को या तो स्त्री विमर्श की परिधि में बांटकर देखा जाता है या फिर देश विभाजन की त्रासदी को लेकर। हालांकि उनका साहित्य इन दो आलोचनात्मक विमर्श से कहीं आगे का साहित्य प्रतीत होता है। उनके साहित्य को कम आंकने का सवाल ही नहीं पैदा होता, इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि उनका जो कुछ लिखा आज पाठकों के बीच मौजूद है वह आनेवाले कई वर्षों तक भी पाठकों के बीच अपना नयापन नहीं खोएगा। वही कृष्णा सोबती तो अपनी कृतियों से जितनी बोल्ड जान पड़ती हैं उतनी ही उनका सरल हृदय भी हैं, एक साक्षात्कार में उनका कहना था कि, ''खूबी और खामियों का लेखा-जोखा मैं अपने पाठकों पर छोड़ती हूं।''

इस नजरिए से आलोचक और पाठक वर्ग उनके लेखन कर्म को लेकर अपना नजरिया सकारात्मक या नकारात्मक जैसा भी रखे वह पूर्णतः कृष्णा सोबती के साहित्य को स्वेच्छा से नकार भी सकते हैं और उसकी प्रशंसा भी कर सकते हैं। वहीं पाठक या आलोचक वर्ग को एक निष्पक्ष प्रतिक्रिया स्वरूप उनके साहित्य को उन्हीं के मतानुसार उसका विवेचन करना चाहिए जिसमें वह

कहती है कि ''किसी भी कृति के मूल संवेदना के पाठ के शोर और पंक्ति की खामोशियों तक पहुंचने के लिए एक सुधि पाठक के पास मनन और धीरज दोनों होने चाहिए।''

अत: कृष्णा सोबती के साहित्य के मर्म को समझने के लिए वह एक जिम्मेदार और बौद्धिक पाठक वर्ग की अपेक्षा रखती हैं।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल-abhisolanki88@gmail.com

संदर्भ सूची

- महिला लेखन की सक्रियता (मधुरेश)
- समय सरगम-देशकाल का अतिक्रमण करता यथार्थ (मधुरेश)
- हिंदी कहानी का विकास (मधुरेश)
- हिंदी साहित्य का इतिहास (डॉ. नगेंद्र)
- हिंदी साहित्य का तथ्यात्मक इतिहास (डॉ.बालमुकुंद सुखलाल, डॉ. प्रभुलाल वर्मा)
- साक्षात्कार आजकल (हिंदी की बड़ी दुनिया को संकुचित ना करें; कृष्णा सोबती से सुनील जोगी की बातचीत)
- नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास (डॉ. गीता सोलंकी)
- स्वातंत्र्योत्तर हिंदी लेखिकाओं के उपन्यासों में अलगाव (एलियनेशन) (डॉ. नीलम गोयल)
- नई कहानी की भूमिका (कमलेश्वर)
- आज की हिंदी कहानी (नामवर सिंह)
- एक दुनिया समानांतर (राजेंद्र यादव)

Research Paper

Dr. Surbhi Sehgal

Uses of History in Contemporary Dalit Political Movement

Abstract: In this article I attempt to critically chart the historical trajectory of the contemporary Dalit political landscape by tracing the early beginnings of a Dalit consciousness to its present moment as a global political force. In doing so, this article critically engages with the factors that have contributed to extending the frontier of Dalit political landscape from the provincial to the national and finally to the global. The presence of Dalit discourse in international forums such as the legendary Durban conference is also engaged with. The varied uses of history for consolidation of a Dalit political consciousness and the challenging of hegemonic Brahmanical categories of Nation, Labor and Gender are also explored in the article.

Keywords: Dalit, Caste, Brahmanical hegemony, Human Rights, Bahujan Samaj Party, Dalit violence.

This article shall seek to unfold the ways through which the contemporary Dalit intellectuals and politicians of North India use history to support their political agenda. In the subsequent sections attempt will be made to analyze as to how Dalit writers have attempted to explode the myths of Brahmanical and elitist histories and how have they rearticulated categories like imperialism, nation, gender, labor and democracy radically differently. The growing number of Dalit icons and myths besides spread of literary syntax, and politicization of sociology of violence will also be analytically probed.

Ambedkarites and The Dalit Political Agenda After Ambedkar

Until the formation of the BSP, the only post colonial example of a party centered on untouchables was the Republican Party of India (RPI). The RPI was a transformation of the Scheduled Castes Federation (SCF), electorally not so successful. Almost from the beginning the RPI ran into ideological, organizational and factional problems. The first major division was between an old guard more deeply rooted in the village world of the majority of Mahars, and a younger and highly educated leadership that interestingly focused on the opportunities inherent in urban life and the scheme of compensatory discrimination.

While Ambedkar himself had been less concerned with the agrarian problems than with the broader questions of political and constitutional principle, his stature has been such as to engender loyalty right across Mahar Society. After Ambedkar there was none who could command that level of loyalty. By 1959 division in the RPI was so deep that the two major factions held separate conventions.[1] The RPI carried its divisions in to the election of 1962, and failed to win a single Lok Sabha Seat from Maharastra.[2] Notably, the spread of the RPI was far

more appreciable in states where Ambedkdar's influence had been strong-particularly Western UP (viz., the Cities of Agra and Aligarh) and Punjab and Haryana. Extraordinarily, the RPI was electorally more successful in UP than is Maharashtra. Its success in UP was centered around a substantial Buddhist Politician of Chamar origin, B.P. Maurya, who drew votes away from Congress by engineering a local coalition of untouchable and Muslims in the Aligarh District. However, the lack of Coherent interest marred the alliance, and after the split of Congress is 1969 the electoral equation of the RPI was altered in terms of electoral prospect. Emergence of Indira Gandhi as the leader of the Congress and her populist stance on *Garibi-Hatao* was specially perceived as a left-oriented Congress politics which was successful in persuading Cheddi Lal Sathi, B. P. Maurya and Ramji Ram and many others to join Congress. The process of cooption which began since 1970 was near complete before the declaration of the National Emergency in 1975. This was the effective end of the RPI as a political force for the Dalits in UP.[3]

Significantly, in the early 1970s Maharashtra witnessed emergence of the Dalit Panthers movement. The name with emergence of the of the Dalit Pantherss movement. The name with its insurrectionist symbolism was borrowed from the Black Panthers of the US. Ideologically, the Dalit Panthers emphasized on class-based Dalit Political activism. Rise of the Dalit Panthers movement coincided with widespread famine, pervasive student activism and a non-party oppositional politics in India. But the Dalit Panthers proved unable to build coalition with broader leftist politics. The movement was more riven by ideological and personality differences. The core ideological split was publicly evident by 1974, and was personified in is two pre-eminent leaders of the movement, Namdeo Dhasal and Raja Dhale. For Dhale's faction, the agenda of the movement were to deepen and wider Budhist consciousness as the defining moment in Dalit History was the mass conversion to Budhism under the leadership of Ambedkar. Dalit fraction decried any engagement with secular politics. Namdeo Dhasal, on the other hand, represented a more orthodox leftist position and reduced caste to class. This faction accorded both Ambedkar and conversion movement less of defining role. Later in Indira Gandhi was successful is extracting support of the Dhasal faction on the plank of poverty amelioration programs. On balance, the Dalit Panther had failed to organize propely, both ideologically and as a political party. Lack of strategy and factionalism doomed this radical movement to insignificance.[4] The decade of 1970 was not important only because of demise of two major organized dalit Political attempts through the RPI and the Dalit Panthers, but also because of emergence of an extraordinary literary Dalit Movement. The void left by the demise of the RPI and the Dalit Panthers has been filled by two complementary development: (a) literary Dalit Movement, and (B) emergence of Kanshi Ram and Ms. Mayawati as new Dalit Icons.

Dalit Literature: Articulation of Dalit Selfhood And Sociology of Violence

There have been creative contributions of the Dalit literature to the Dalit discourse since the 1970s. Broadly speaking, two streams of Dalit literature. Marathi and Hindi, have been successful in articulating nuances of Dalit identity and its day to day ordeal in the Hindu caste society. In the process the Dalit literature have been quite effective in unfolding the sub text of the Dalit social situation through lived experience. Autobiographical accounts of Dalit self hood are articulated on the basis of the lived experience of Dalit writers around the social practices of discrimination, hatred, humiliation, torture, and violence. These literature are passionate, provocative and revolutionary in that they represent that literary syntax which include both rural and urban structures of exclusion and violence to Dalits.

It in pertinent here to cite two notable literary works of the Marathi Dalit writers: (a) Golpitha (1972) by Namdeo Dhasal, and (b) Baluta (1978) by Daya Pawar. Namdeo Dhasal's famous collection of poetry, Golpitha, represents the working class ethos of Bombay slums. The Golpitha focuses on the red-light neighbourhood in which Dhasal Grew up. According to Vijay Tendulkar, Golpitha was an object lesson in

the desperate material circumstances and the easy exchange of violence and intimacy that characterizes Dalit life. Dhasal's Golpitha where leprous women are paid the price and fucked on the road, where children cry nearby, where prostitutes waiting for business sing full throated love songs.Daya Pawar's autobiographical novel Baluta (Share) on the other hand, draws our attention to Dalit's humiliation in a rural social situation. Baluta is that left over food for which a Dalit begs as remuneration for performing stigmatized labour. Articulated more broadly as the Dalit's share or lot in life, Baluta historicizes the figure of the stigmatized Dalit by locating him within the political economy of suffering.

Kanshi Ram as Architect of Dalit Interest

Kashi Ram was born in Khwarpur village of rural Punjab in a Dalit family in 1932. Much like Ambedkar and Jagjivam Ram, Kanshi Ram also belonged to a family which had benefited from the British policy of reservation in Army. That is why Kanshi Ram used to assert that he was born among these people who gave their life to the mother land. Kanshi Ram got his B.Sc. at Roper College, and left his native province to work as Chemist at Kirkee (near Pune). He worked as Chemist since 1958 until he resigned in the mid 1960s to work for the cause of the Dalits. Kanshi Ram privileged with the reading of the seminal works of Ambedkar and Phule. Ambedkar's Annihilation of Caste and What Gandhi and the Congress have done to the Untouchables left indelible mark on Kashi Ram's understanding of Socio-cultural and political stake of Dalits in the political economy of India.

Soon after resigning from his job Kanshi Ram had joined the RPI. However, much to his dissatisfaction the RPI was narrow in its conviction as the party focused only on the interest of the Mahar Budhist Dalits. Kanshi Ram was poised to offer an alternative ideological formulation. He transposed the motif of the Aryan invader (modeled on Phula) versus the oppressed bahujan Samaj in the democratic political centext of India:

The bahujan samaj accounts for 85% of the votes […] when our ancestors from the bahujan samaj were ruling over this country, India was known world wide for its prosperity. The bahujan samaj can rule this country even today.

From the out set Kanshi Ram included the religious minorities, and lower castes in his articulation of bahujan samaj. His ideological conviction of the bahujan samaj found its first expression when Kanshi Ram setup union like organizations in the 1970s.

The first organizational effort that Kanshi Ram made acquired a formal shape in the form of the other Backward Classes and Minority Communities Employees Association in October 1971. The Association became a Federation in 1973. In 1978 he formed the all India Backward [SC, ST, OBC] and Minority Communities Employees Federation [BAMCEF].

BAMCEF's motto 'Educate, Organize, and Agitate', was adopted from Ambedkar. Here in, Kanshi Ram's objective was 'Jat todo, samaj jodo' [break castes, unite the [bahujan samaj]. In his own description, 'BAMCEF is considered a brain bank, a talent bank and a financial bank of the oppressed and exploited society to move its mission ahead.The basic objective of this organization is to pay back to the oppressed and exploited society to which they belong. But gradually Kanshi Ram's agitational activities were leading him into politics. By the late 1970s he was no longer content with being the leader of the reserved office holders, and their welfare. Kanshi ram's first attempt to create a radical political organization capable of mobilizing the larger segment of Dalits was the Dalit Soshit Samaj Sangarsh Samitti [DS-4] formed on 6 December 1981.

BSP: From A Dalit to A National Party

The BSP has made rapid progress on the electoral front since its formation in 1984. During the 1984 general elections, it received more them one million votes, a number that was multiplied six fold in 1989 when it won 2.07% of the recorded votes and obtained three seats at the Lok Sabha. In 1991 it only won two seats and 1.61% of the votes but five years later it gained eleven seats with 3.64% of the votes. The rapid growth of the party obtained from

the Election Commission the status of a National Party after 1996 election.

Uttar Pradesh offers a significant case study to a meaningful understanding with respect to the phenomena of electoral achievement by the BSP. Consider the BSP's rise in the state from 1991 to now: in the Lok Sabha, from 1 to 19 seats [vote share 24.67%] and in the assembly from 12 to 206 seats [vote share: 30.43%]. Over the past two decades power has shifted radially is UP from the Congress, to the BJP to the SP to the BSP. The Congress, which won a landslide 83 of the 85 Lok Sabha in 1984, and BJP which peaked with 57 to 85 seats in 1998, have been eclipsed. Now the battle is largely between the BSP and the SP since the 2007 assembly election.

In Madhya Pradesh Mayawati's Bahujan Samaj Party is consistently emerging as a political force. The BSP increased its tally of assembly seat from 2 in 2003 assembly election to 7 in 2008 and its vote share increased from 7.3% to 9%. The BSP is successful in expanding its electoral base in Rajasthan to a formidable level. As against its performance is the assembly actions 2003, the BSP increased its tally from 2 to 6 in 2008. BSP also expanded its vote share 9 up to 3.16% in the 2004 Lok Sabha elections.

In the process, it is notable that the dynamic of electoral success of the BSP lies in the rock solid dalit votes in U.P. Unflinching is their support to the BSP led by Ms. Mayawati, her dalit voters are today in thrall over the possibility of serving her as the leader of the Union executive. A Detailed analysis of factors prompting the radical programs of the BSP on the electoral front brings to light that : the way hegemony of the upper castes has been challenged, effective pro-dalit policies of Mayawati government, role of dalit literature in interrogating caste structures unleashing atrocity on dalits, and above all use of Dalit symbols and icons to invoke dalit Political culture have been some of the vital reasons behind the impressive electoral strides of the BSP in the last 2 decades.

Mayawati in Power

Kanshi Ram entered into electoral alliance with Mulayam Singh (SP) before the UP assembly election of 1993. The primary vote banks of the two parties (BSP and SP) were complementary-the Yadavas and the Chamars. The alliance produced dramatic result for the B.S.P. The Samajwadi Party won 109 seats out of 425 and the BSP 67. With the support of the Congress both the parties formed a coalition government. Mulayam Singh became the Chief Minister and the BSP obtained 11 ministerial portfolio in a government of 27. However, relations between the two parties (BSP and SP) soon deteriorated. Soon after the formation of government in 1993 the dalits and the OBC's became more assertive. As agrarian interest of the dalits and OBCs were antagonistic in some regions of UP where scheduled caste are often landless labours or cultivators with very small land holding, they came in direct conflict with the OBC farmers. Moreover, the OBCs and especially the Yadavas who had become more self confident after Mulayam Singh's Chief Ministership, were also quick to unleashe atrocity on dalits. Another important reason was the unimaginable success of the SP in the 1995 Panchayat elections in which of the 50 district panchayat elections held, the SP captured 30 (30% of the seats) and the BSP got only one! Besides, Mulauyam Singh was found to be hatching split in the BSP. As a result, on Jun 2, 1995, the BSP withdrew its support for the Mulayam Singh Government. The very rext day Raj Bahadur and 12 other BSP MLAs joined the SP.

For most dalits Mayawati became a source of pride and a new dalit icon ever since. Mayawati's accession to power played a major role in the consolidation of the BSPs vote banks.During her first brush with power, Mayawati initiated radical and concrete measures for dalits and minorities. In order to challenge the iconographic Brahmanical hegemony she used name politics and started changing names of Universities, Stadiums, Parks, etc, . after the names of dalit icons.

In her bid towards consolidation of the dalit vote banks she took the advantages of the Ambedkar village scheme for the benefits of the dalits in villages since all the roads, hand pumps, houses etc, . were largely built in their bastes. Grants were allocated for

dalit children to attend classes between 1 to 8; those for Bhangi Children were doubled.Muslim Children were to receive same scholarship as provided for the SCs. She also setup the Minority Welfare Department for the Welfare of the Muslim Community. Mayawati also started administrative reforms in order to invoke a sense of pride among dalit officials and a sense of security among dalit masses. For example, the high caste incumbents in the Chief Secretary and CM's Principal Private Secretary positions were both replaced by SC officers. Even more radically, a number of SC officers were given fast promotions. This process allowed her to post a SC District Magistrate at the helm of almost half of the Districts. Thus the BSP government appointed its supporters inkey administrative jobs; more than 1,500 transfers took place in UP during the 136 days of Mayawati government.

The first regime of Mayawati in 1995 is marked by Policy attempts towards consolidating dalit and minority (Muslim) votes, tightening her grip on administration and the core dalit agenda being seizing power. By forging alliance with the BJP, Mayawati was also keeping her political card open for any alliance with the upper caste, as the vision would unfold in her transformation of thrust from Bahujan to Sarvajan during the 2004 Lok Sabha Elections and assembly elections ever since.

By the end of her first regime Mayawati was able to bring a charisma and liveliness to the hustling that Kanshi Ram himself lacked. She has represented a novelty-a direct and forth right dalit woman with courage sufficient to run hard against the institutions oppressive to the dalits. Now, Mayawati reached to the iconic popularity and also a political leader to reckon with

Mayawati has become Chief Minister of UP in 2007 for the fourth time After 1995, she reigned the government in UP in 1997, 2002, and 2007. In the 1996 UP assembly elections no party won majority and therefore President Rule was imposed. The BSP obtained the same number of 67 MLAs as in 1993. The BSP announced that they would form coalition with any party willing to give Chief Ministership to Mayawati. The BJP agreed for their proposal soon after 6 months President Rule. Accordion to the agreement, Mayawati would be CM for six months, followed by a BJP leader.

The two parties would function in rotation with 50% ministers from each party. Mayawati became the CM for the 2nd time in 1997. She continued with her earler policy measures viz, administrativereforms, name politics, working for Mushlim Minorities, and extending maximum benefits from the Ambedkar Village Scheme to dalits. After six months in office, Mayawati relinquished the office for Kalyan Singh but soon after she withdrew support against Kalyan Singh Government order of not misusing the SC/ST (Prevention of Atrocity) Act. However, contrary to Mayawati's expectation Kalyan Singh was able to survive by rewarding defectors from the BSP (12 MLAs) and Congress with Ministerial berths.

Between 1997 and 2002 the BSP leadership worked hard on expanding its electoral base. The new dalit bahujan strategy was politically committed to seize power and optimize the resources of government for maximizing the gains of its electorates. Strategically, the BSP under Mayawati started working on mechanisms, for extending maximum benefits of government policies to the dalit Bahujan. Tactically, she opposed all these policies of the union government which smacked against the interest of the SC/ST and Muslim Minority.

Dalit Agenda at the National and International Forum

Coming to the contemporary Dalit discourse we saw that dalit politics has carved out its own political space and is extending to consolidate its assertion in different pars of the country. The dalit is also making efforts to highlight caste-based discrimination at different international fora like the UNO conference against Racism, Racial Discrimination.Another Significant event that happened in the Dalit discourse is the Bhopal Conference, Charting a new course for Dalits for the 21st Century held at Bhopal on 12-13 January 2002.

Setting the Stage for Durban

It would take a much longer work to fully trace and thread together the mechanisms by which caste communities have variously deployed notions of "backwardness," and to understand the implications of their redefinitions or present-day caste configurations.

No doubt caste is till the peculiarly Indian social institution it was for British scholars of past centuries, the very soul of Hinduism While such essentialisms are no doubt derived from British colonial discourse, they are also redeployments of them in modern, post-colonial, global/international contexts.35 The remainder of this section, then, is focused on caste at a contemporary moment at which it claims – and is unevenly granted- the international spotlight, both by highlighting its peculiarity to India and by underscoring its alignment which other social groupings, most notably race. The context is the Third UN World conference Against Racism, Racial Discrimination, Xenophobia and Related intolerance (henceforth WCAR) held in Durban in 2001. This is only one site of the global reconfiguration of caste, but an especially important one both in terms of its impact on caste mobilization in India, and in its mobilization of support for the issue of cast outside India. What became of "caste" in the context of what is now dubbed "Durban discourse" is the subject to which I now turn.The discussions and debates that preceded the WCAR were precipitated less by the excitement of planning for the Conference than by the Indian Government's position that caste was not a matterto be taken up at the Conference. Since the UN conference was centered on racism, the argument went, as part of the third U.N.- designated Decade to Combat Racism and Racial Discrimination, caste had no logical place on the country's agenda. At the Regional Preparatory Meeting held in Tehran earlier that year, Attorney General Soil Sorabjee emphasized the distinction between race and caste, thereby rejecting NGO efforts to connect the two forms of social stratification as "misconceived." The Government of India argued further that since caste is crimination was constitutionally recognized and prohibited, and that since both state and central governments had taken steps towards its elimination, discussion of the issue was best left out of inter governmental forums. This position set the tone and determined much of the direction of the debate that ensued. Was caste indeed comparable to race? The Indian Government had an ally in Andre Beteille, a veteran Indian social anthropologist, who pondered the wisdom of expanding "racism" to other forms of social exclusion. In so doing, he wrote in The Hindu, the U. N. "is bound to give anew lease of life to the old and discredited idea of race current a hundred years age"[e] very social group cannot be regarded as a race simply because we want to protect it form discrimination" For Beteille, then, equating caste with race was both "scientifically non-sensical" and "politically mischievous, " for such movement away from specificity would surely upon the door to other discriminated linguistic or ethnic groups from all parts of the world to claim themselves victims of racism.

Beteille's article was met with a range of responses, some calling is social scientific approach pedantic, even bordering on the offensive, but most clarifying that indeed, castes are not races (biologically defined), but that casteism is surely still comparable to racism. In other words, assuming that "race" does continue to exist as asocial reality, the experiences associated with it are virtuallyindistinguishable from those produced by caste. Both race and caste are forms of discrimination linked to descent, to anticipate the terminology that allows the concepts to be articulated for/by the U. N. Indeed, this is the point that Beteille misses when he insists that "[w]e cannot throw out the concept of race by the front door when it is misused for asserting social superiority and brint it in again through the back door to misuse it in the cause of the oppressed." Even the U.N.'s stringing together of such terms as "racism, racial discrimination, xenophobia, and related intolerance" as "Issues at the root of so many conflicts within and between societies" suggests that "race" is far less a biological category than one which extends into the realms of the ethnic and the cultural. The issue for dalit activists and intellectuals, is one of prejudice:

caste discrimination, they argue, is by now systemic and institutionalized rests on ethnocentric theories of cultural superiority, results in social segregation, causes sometimes horrific violence and untold forms of social suffering, has specific material consequences, comes attached to notions of purity and pollution – and so far all these reasons, is not only comparable but in fact tantamount to racial discrimination. They argue further that caste, like race, is inherently an economically exploitative system, in which upper caste wealth is amassed by exploiting Dalit labour much as the wealth of the industrialized world was (and still is) produced by exploiting slave, third world and immigrant labor. Vijay Prashad writes that the commonality lies "in the way in which these forces of social oppression are related to the economic domain; both [race and caste] are about the denial of the means of production to certain peoples "Kancha Illaiah makes an even tighter connection: since "[t]he colonial world benefited form the labor of the divas is, Dalits, and OBCs, "the capitalist west owes a moral responsibility to uplift [the lower castes] as much as theupper castes of India do." The issue of whether in theory "caste" is "race" is therefore moot, since it is the experience of caste, the shared structural positioning and the resultant "moral agony", that articulates the two categories. Both are reduced to their oppressions, and located within an economic and social 'system' that perpetuates such subjugation.

That Dalit activism should coalesce in this fashion around the WCAR was in some senses not a coincidence. By the time of the Conference, the Dalit movement (loosely termed) is just over a decade old, but it is perhaps there is cover, through that decade, of the limitations of articulating Dalit concerns through the established agendas of women's rights and development, that spurs Dalit intellectuals to search out independent modes of articulation. The controversy stirred by the Mandal Commission report provided one such opportunity, to be sure, but even there the framework for that debate was defined almost exclusively by the Government, existing laws and constitutional guidelines, and the discourse of affirmative action. Indeed, as the Working Paper on work and descent-based discrimination presented to the U.N. sub Commission on the promotion and protection of Human rights would later note, "that improvements have taken place cannot be doubted" and the list of actions taken by the Government of India to address caste-based discriminations either abolishing discriminatory practices or offering protections to disadvantage communities, but also recognizing the significant lag in attitudinal change and the attendant problems with law enforcement, the focus of the paper and also of Dalit discourse in the post-mandal era shifts to the hidden or invisible discrimination that a Dalit would encounter. The dramatic protests by upper caste youth against the implementation of the Mandal recommendations then alsoserved to demonstrate the potential boundaries of caste reform in India, and as such impelled Dalit activists to go a step beyond national consolidation, and look to more international forums and networks for new platforms and sources of support. "Cast", as Shiv Visvanathan has noted, has long suffered from particularism, or its association in academic and popular discourses as a phenomenon peculiar to the subcontinent.Within that context too, it was heavily fragmented by the movements and ideologies that had come before: those of poverty/development, gender, and so on. For there to emerge a unified "Dalit discourse" that truly challenged existing epistemological frameworks, there needed to be a conceptual vocabulary that addressed these various other ramifications of caste- realities within India, and that was easily translatable into discourses that enabled a transcendence of the local, even the national.

Challenging Hegemonic Hindu Categories

The dalit perspective has radically problematized the categories like nation, imperialism, gender, labour and democracy in order to demystify the epistemological hegemony of the Brahminism.

Nation

The first is about what constitutes a nation. The Dalit movement dismissed the premise of the mainstream nationalist movement that India was a

nation. Ambedkar, for instance, repudiated the notion of a nation in a caste society and challenged it saying that each caste was a nation. Phule, who was Ambedkar's preceptor, had said that "unless all the people in the Balisthan (his term for India), including the Shudras, Ati-Shudras, Bhill, Koli etc., become educated and are able to think over and unite, they cannot constitute a nation. "At some other place, Ambedkar observed, "I am of the opinion that in believing that we are a nation, we are cherishing a great delusion". He questioned, "How can people divided into several thousands of castes be a nation?" and said that "these castes were anti-national." At another occasion he had said that, "unless you change your social order you can achieve little by way of progress. You cannot mobilize the community either for defense or for offence. You cannot build up a nation you cannot build up a morality. Anything that you will build on the foundations of caste will crack and will never ba a whole."

Ambedkar practically hanker after a nation that he could identify with, without having to insult his own, and his community's humanity: a nation in which political revolution is preceded by a social revolution, a nation, in other words, whose social philosophy and traditions have been leavened by reason. Witness how in Annihilation of Caste, he bemoans the fact that Hindus do not constitute a nation. Unlike the nationalist, including secularists like Nehru, he was not satisfied with pan-Indian Hindu heritage and a basic similarity of traditions. Disparate communities become a nation, Ambedkar insisted, not when they possess similar things, but because they possess things in common. It is not enough for different castes to observe similar customs side by-side, but separately. What Ambedkar was after was "associated life", a community bound by shared activity so that 'the same emotions are aroused in [one] that animate the others." Ambedkar treated this kind of 'associated living' as the essence of democracy.

Gender: A Dalit Feminist Stand Point

There are as of today, at least three major contesting and overlapping positions that have emerged from the struggles and politics of dalit women. One of the earliest and well defined position is the Marxistt/Phule-Ambedkarite position of the Satyashodhak Mahila Sabha. A position emerging out of the dalit bahujan alliance is that of the Bahujan Mahila Mahasangh (BMM) which critiques the vedic, Brahmanical tradition and seeks to revive the Bahunaj tradition of the 'Adimaya'. The secular position is critiqued as brahmanical and individualistic and the Ambedkarite conceptualization of Dhamma in community life is underlined. The Common civil codes is opposed and customary law and community based justice is upheld. Significantly the BMM seeks to combine both the struggles for political power and a cultural revolution in order to revive and extend the culture of Bahujans. Such a position is crucial in order to problematic the dominant brahmanical culture and thereby underline the materiality of culture.

The Dalit Mahila Sanghatana has critiqued the persistence of the 'Manuvadi Sanskriti' among the dalit male who otherwise traces his lineage to a Phule Ambedkarite ideology. The Sanghatana proposes to put forth its manifesto at the centre of which would be the most dalit of dalit women. The Christian Mahila SangharshSanghatana (CMSS) is a dalit Christian women's organization working for the cause of dalit Christian women. The CMSS problematises the Hindu majority construct as also the patriarchal Christianity. These three positions have contributed to the articulation of a dalit feminist stand point which goes for beyond and deeper than the mainstream feminist discourse in India.

A dalit feminist standpoint is seen as emancipators since the subject of its knowledge is embodied and visible (i.e. the though begains from the lives of dalit women and these lives are present and visible in the results of the though) This position argues that it is more emancipator than other existing positions and counters pluralism and relativism by which all knowledge based and political claims are though to be valid in their own way. It places emphasis on individual experiences within socially constructed groups and forces on the hierachical, multiple, changing structural power relations of caste, class,

ethnic, that construct such a group.

Dalit Discourse on Labour

The Hindu caste society is characterized by its inbuilt system of graded in equality. It is hierarchy in which the divisions of labourers are graded one above the other. Therefore, Ambedkar argues that the caste System is not only division of labour, but it is also a division of labourers. This division of labourers do not allow individual occupations and works based on their original capacities and skills rather their caste heredity. Thus, the division of labour brought about by the caste system is not a division based on choice. In effect, it involves the subordination of man's natural powers and inclinations to the exigencies of social structures. Here in we see that Ambedkar raised two major issues : labour choice, and caste subordination of labour, in the Hindu caste society in India, which to him, was unnatural and non productive.

Another line of argument is built by Kancha Ilaiah where in he argues that for dalits labour is life. "For a Dalit bahujan body, labour is as habitual as eating is to the stomach. In fact, every Dalit bahujan body produces more than it consumes. As a result, Dalit bahujan body produces more than it consumes. As a result, Dalit bahujan life recreates itself in labour more than it recreates itself through eating and drinking[…] In the process of labour Dalit bahujans engage in a constant intercourse with the land. Through understanding of land and its productivity, its colour and combination, they are solely responsible for increase in productivity[…] They try to understand the relationship between the soil, the seed, the climate and human body […] They maintain huge stores of plant genes […] They out whole system of hybridization[…] All this knowledge is product of labour and its creative inter course with land and nature. […] The 'upper' caste political structure is basically authoritarian. Authoritarianism begins within a brahminical home and extends to the rest of civil society. Given the socio-political hegemony of he 'upper' castes, the structures that the brahminical family have evolved are projected to be the structures of Indian society as a whole. Its opposite, that is, Dalit bahujan structures, through they encompass a far larger number of people, indeed the whole working mass of India is treated by a brahminical literary, political and legal texts as nonexistent. As a result, even historians and social scientists from other parts of the world constructed Indian culture and history either in conformity with brahminical theocracy or critiqued in in its own terms without comparing it with the secular and democratic social systems of the Dalit bahujans. […] Brahminism therefore has constructed is own account of Dalit bahujan knowledge system. The brahminical economy has devalued production for the market and privileged its. Spiritual mental labour over all other labour processes While the Dalit bahujans live labour as life; the Hindus inverted tis principle and privileged leisure over labour..

Conclusion

This chapter sought to unravel the imbrications of the dalit bahujan political landscape, and the variety of factors which contributed in extending its frontier from the provincial to the national to the global. Hindi literary dalit revolution in the Western U.P.; post bahujan ideological plank of Mayawati; dalit interests articulated in Durban and Bhopal conference; use of history for consolidation of dalit consciousness are some of those factors which have been instrumental in the rise of BSP as a national political force and Mayawati as a new Dalit Icon.

Ideological openness of the BSP under Kanshi Ram and Mayawati has also played an important role in extending the electoral latitude of the party. It is contrary to the articulation thatthe BSP increased its share of seats by giving tickets to carefully selected candidates belonging to the Muslim community, upper and backward castes, as argued by Sudha Pai.

In fact, the ideological position of the BSP under Kanshi Ram and Mayawati has to be seen historically from a vantage point of a dalit perspective. In order to counter the hegemonic Hindu Power structure the BSP made compromises (within certain limits) with a variety of allies who were unified in a social block of forces which Gramsci calls the historical block. This block represent a basis of consent for a certain social

order (here, hegemonic Hindu Social order), in which the hegemony of the dominant power structure is created and recreated in a web of institutions, social relations and ideas.

In Gramscian Sense the excluded and oppressed must create a continuous expansion of consent in which, the interest of various groups come together to from a new historical block. In developing a strategy towards this end, a new hegemony must harness and systematize elements of popular ideas and practice.

It is therefore essential to analyze all policy measures, electoral alliances, political symbolism of the Mayawati led BSP in this Gramscian Sense. Each political, social, cultural and literary dalit initiatives therefore have to be historicized in the Dalit selfhood and the sociology of violence and exclusion.The last two decades in Indian politics have been intensely contested by the rise of a dalit political culture which has to a great extent democratized the hegemonic power structure of the upper caste Hindus.

Assistant Professor (Ad Hoc)
Department of Political Science
Shyam Lal College, University of Delhi
surbhisehgalrules@gmail.com

REFERENCES

1. Gokhale, Jayshree, From Concessions to Confrontation: The Politics of an Indian Untouchable Community, Popular Prakashan, Bombay, 1993.
2. Jaffrelot, Christophe, India's Silent Revolution.
3. Omvedt, Gail, Kanshi Ram and Bahujan Samaj Party, in K. L. Sharma (ed.), Cast and Class in India, Rawat Publication, Delhi 2005.
4. S. P. Punalekar, 'Dalit Literature and Dalit Identity in Ghanshyam Shah (ed.), Dalit Identity and Politics, Sage, Delhi 2001.

Research Paper

Narendra Kumar Singh

Ground Realities of Singhvahini & Katharai Gram Panchayat in Access of Safe Drinking Water & Sanitation

Introduction

Fresh water is one of the crucial resources for living being especially human beings. As we know, our body consists of 75 percent of water. India is suffering from the worst water crisis in its history and millions of lives are under threat. Currently, 600 million Indian face high to extreme water stress and about two lakh people die every year due to inadequate access to safe water[1]. By 2030, the country's water demand is projected to be twice the available supply, implying severe water scarcity for hundreds of millions of people and an eventual ~ 6% loss in the country's GDP[2].

The total availability of water (at present 695 BCM) possible in country is still lower than this projected demand at 1137 BCM. Thus, there is an imminent need to deepen our understanding to water resources and usage and put in place interventions that make our water use efficient and sustainable.

Sanitation is a virtue which comes from within- be it an individual, society and nation. It is vitally linked to human dignity. The first major initiative towards sanitation was the Swachh Bharat Mission (SBM) with an aim to accelerate sanitation coverage to achieve an Open Defecation Free (ODF) and Clean India by 2 October, 2019. Interestingly, only 38.7 percent of rural households had toilets. Since the launch of the SBM, government has built 1007.98 lakh toilets in the rural areas, thereby enhancing percentage of Individual Households with Latrine (IHHL) coverage to 100%- a whooping jump of 61.3% between 2014 and 2019.

The United Nations Global Sustainable Development Goals (SDG 3 & 6) provide a broad framework to achieve universal and equitable access to safe and affordable drinking water for all, access to adequate and equitable sanitation and hygiene for all, end open defecation and access of good quality of health.

Initiatives of Central Government

The Centre and State Government together have taken several pragmatic steps to provide every person with adequate safe water for drinking, cooking and other domestic use and to achieve universal sanitation coverage. The central govt. has introduced National Rural Drinking Water Supply Programme (NRDWP) in 2009 to address water supply problems in rural areas. The Hon'ble Prime Minister announced during the Independence Day (15 August 2019) speech that the Government will launch "Jal Jeevan Mission (JJM)"to bring piped-water supply to all households (Har Ghar Jal by 2024).

The first pragmatic steps taken towards sanitation was the Swachh Bharat Mission in 2014 with aim to accelerate sanitation coverage to achieve an Open Defecation Free (ODF) and Clean India by 2 October, 2019 and finally we achieved the target. Alongwith this other programmes like, 10-years Rural sanitation strategy (2019-2029), Swachh Survekshan

2020 League etc. also launched.

Pragmatic steps taken by Bihar Government

As per census 2011, only 4.4 percent of households in the state have access to tap water connection, of which only 3.1 percent households use tap water from treated sources. Regarding sanitation coverage, 76.9 percent of the households do not have a latrine within their own premises. In Urban areas, this figure is 31.1 percent and in rural areas, it is 82.4 percent.

In order to provide clean drinking water to every citizen of Bihar, Har Ghar Nal Ka Jal (every households should have running tap water) is the key resolves made by the state govt. under its ambitious programme of Saat Nishchay. In rural areas, Mukhyamantri Gramin Peyjal Nishchay Yojana (Quality Affected Areas) and Mukhyamantri Gramin Peyjal Nishchay Yojana (Non-quality Affected Areas) are being implemented, the first one cover those areas where the quality of water is infected by arsenic, fluoride or iron and other covering non-quality affected areas.

In order to provide proper sanitation facility, Sauchalaya Nirman Ghar Ka Sammaan (Construction of toilets enhance the prestige of the homes) is another resolve made by state govt. under its ambitious programme of Saat Nishchay. Under Sauchalaya Nirman Ghar Ka Sammaan, Lohiya Swachh Bihar Abhiyan and Sauchalaya Nirman (Shahri Kshetra) Yojana started and '12,000 incentives provided for rural areas family and urban areas family.

Assessment of Ground Realities of Village Panchayat- Singhvahini and Katharai in Access of Safe Drinking Water & Sanitation

Both Village Panchayat (VP) are located in Bihar. Singhvahini VP comes under Sitamarhi district and Katharai VP is located in Rohtas district.

	Singhvahini	**Katharai**
State	Bihar	Bihar
District	Sitamarhi	Rohtas
Block	Sonbarsha	Kochas

Census-2011

	Sitamarhi	**Rohtas**
Population growth Rate	27.62%	20.78%
Population Density	1492	763
Sex Ratio	899	918
Literacy	60.64	73.37

In every development aspect, either socio-economic, political, Literacy, number of people below poverty line, Sitamarhi district is far behind from Rohtas district. However, the effort taken and ground work done by Singhvahini Panchayat in providing clean and safe water and in sanitation is marvellous and outstanding with respect to Katharai Panchayat.

Glimpse of Singhvahini Panchayat

Under provision of Har Ghar Nal Ka Jal of Bihar Government in every ward of VP at least one piped-supply water tank should be there for providing water. This infrastructure is built by Gram Panchayat. When I surveyed this panchayat physically, I found more than 50 such water tank is established and every household get water from piped-water. These water-tank is built by not only fund of state govt. but also fund provided by some NGOs and voluntary organisations. Remarkably, every water-tank is filled up by solar based power supply and almost water is taken from 30 feet below of ground level. Quality wise water, i.e., TDS of water is as per standard of World Health Organisation. It is completely safe and pure.

All water tank is constructed minimum 10 feet above from ground level. It is safe even during flood time because, this area periodically suffer from flood. Additionally, because of solar based power supply, there is no fear of power shortage or cut even during flood or calamity. It is also become environment friendly. But, such type of infrastructure is not found in Katharai Panchayat. If in some ward whenever water-tank is built then there is a case like- either no water supply on regular basis or water quality is bad etc.

Situation of ODF is also outstanding in Singhvahini

Panchayat in compare to Katharai. Although, both panchayat had been declared ODF we can say that ODF is success on both, either government paper or ground in Singhvahini. But in Katharai Panchayat, there is something missing where some people still defecate in open areas.

Story Behind Success of Singhvahini VP

- ❖ Political will power of elected representative of VP especially Mukhiya.
- ❖ Role of voluntary organisation in tireless campaign towards sanitation.
- ❖ Role of young volunteer in making behavioural change of rural people towards sanitation.
- ❖ Socially byecott of those people who used to defecate in open areas.

In nutshell, we can say that the very political representative of VP and people could be a agent of change whenever they make self promise and be enthusiastic about sanitation and hygenic. Because we have seen that, iin both VP either Singhvahini or Katharai, same programme or policy is run by state government and prgramme implemented is also same. But result is different. One of the reason behind is political will power of local elected bodies. Even behavioural aspect of people is also significant factor.

Ph.D. Research Scholar
(Public Administration)
V.K.S. University, Ara
Email: 84pnks@gmail.com

Prof. (Dr.) Umesh Kumar
(Supervisor)
H.O.D. of Public Administration
(V.K.S. University, Ara)

References:

- WRI Aqueduct, WHO Global Health Observatory.
- Mckinsey & WRG, 'Charting our water future', 2009, World Bank, Times of India.
- Niti Aayog Report.
- Bihar Economic Survey 2018-19, Finance Department, Govt. of Bihar.
- Yojana, November, 2019.
- Yojana, November, 2018.
- https://sbm.gov.in
- http://www.centreforpublicimpact.org.
- http://www.census2011.co.in
- http://swachhbharatmission.gov.in
- www.pmindia.gov.in

रामचरितमानस में विभिन्न भाव दशाएँ

डा. शत्रुघ्न शरण सिंह

कवि शिरोमणि तुलसीदास की अन्य दृष्टियों की चर्चा तो होती ही रही है, परन्तु उनके भाव-दशाओं के चित्रण में उनकी कैसी दृष्टि रही है, इस पर चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसे मानस में कई रमणीय स्थल हैं, परन्तु यह भी माने रखता है। 'भाव' शब्द मूल धातु 'मानस' से बना है जिसका अर्थ है चित-विकार या मनोविकार। काशी नगरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शब्द-सागर में भाव शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—मन में उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति, मन का विकार चेष्टा, विचार इत्यादि। तात्पर्य 'नदिया एक घाट बहुतेरे'। करीब-करीब सबका अर्थ एक ही है। अंग्रेजी में भाव को feeling, emotion इत्यादि अर्थ बताये गये हैं। 'रस सिद्धान्त' के अन्तर्गत 'भाव' मूल वस्तु हैं, इसी आधार पर विभाव, अनुभाव, संचारी भाव इत्यादि की कल्पना की गयी है। 'अमरकोषकार' अमर सिंह मन के विकार को ही भाव कहा है—'विकारो मानसो भाव:'। भानुदत्त ने 'रस-तरंगिणी' में लिखा है—चितवृत्ति का रसानुकूल होना भाव है—'रसाकुलो भावो विचार:।'

तुलसीदास का कौशल उपर्युक्त भावों के क्षेत्र में बड़ा सराहनीय रहा है। पैनी दृष्टि से देखने पर ये भाव 'मानस' में पर्याप्त मिलते हैं। वे एक कुशल कवि हैं। बड़ी चतुराई से भाव दशाओं का चित्रण किया है। एक भाव चलते रहता है, तब तक जब तक वह चरम सीमा पर नहीं पहुँच जाता। नवीन प्रसंग आने पर वह दूसरे रूपों में परिणत हो जाता है। पहले स्वामी भावों को देखें—

रतिभाव—'मानस' में वीर रस और शांत रस की प्रधानता है। ऐसी बात नहीं की श्रृंगार-रस का वर्णन ही नहीं किया गया है, तुलसीदास ने अश्लील श्रृंगार से ग्रंथ को बचा लिया है। श्रृंगार वर्णन है परन्तु शुद्ध श्रृंगार का वर्णन है, बिहारी लाल जैसा नहीं। उनका श्रृंगार वर्णन मर्यादित है।

गोसाई जी प्रेमाख्यान ग्रंथों जैसा सौन्दर्य के विषय में पशु-पक्षियों से नहीं कहलवाया है, जो भी कहा है स्वयं कहा है और विशुद्ध रूप में। 'मर्यादावाद' की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाती और न 'मानस' जन-जन के बीच ग्राह्य बन पाता।

'रति' श्रृंगार-रस का स्थायी भाव है। 'श्रृंगार' दो शब्दों के योग से बना है—श्रृंग+आर। श्रृंग का अर्थ है—कामोद्रेक अथवा काम की वृद्धि। 'आर' गन्धर्थक ऋ' धातु से बना है जिसका अर्थ है—प्राप्ति। अर्थात् श्रृंगार का अर्थ हुआ—काम वृद्धि की प्राप्ति। श्रृंगार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। 'मानस' में तुलसी ने दोनों का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया है। स्पष्टीकरण के लिए जनकपुर की झाँकी का अवलोकन किया जा सकता है जहाँ सीता और राम की प्रथम भेंट में प्रेम का स्फुरण किया है। वृक्षों की महत्ता भी इस मायने में समझा जाना चाहिए। पूर्ववर्ती ग्रंथों में नायक-नायिकाओं का मिलन देवमंदिर, उद्यान तथा महलों में अट्टालिकाओं में कराया जाता रहा है। तुलसीदास के पास पर्याप्त समय था, जनकपुर में यह स्थिति बड़े शौक से करा सकते थे, परन्तु यह रीति मर्यादा के अनुकूल न हो पाती। हमारी भारतीय संस्कृति कुछ और तरीके की है। आज तो रूप ही इसका बदला हुआ है। सीता राम का

मिलन स्थल देखिए–

भूप बागु वर देखेउ जाई।
जहं वसंत रितु रही लुआई।
व्यातो विश्प मनोहर नाना।
वरन-वरन वर बोनि बिताना
नव-पल्लव फल सुमन सुहाए।
निज संपति सुर रुख लजाल।

* * *

बागु वडागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत।
परम रम्य आरामु यहु जो रामहि सुखदेत।।

यहाँ प्रकृति को कैसी रम्य स्थली है, जहाँ सीता और राम का मिलन होता है। निश्चित रूप से प्रकृति यहाँ अपने गुण, रूप, गंध, स्पर्श से परोक्ष रूप से प्रभावित किये बिना नहीं रहेगी। सीता राम को देखती है और राम सीता को–

दैखन मिस मृग विहंग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि-निररिव रघुवीर छवि, बाढ़ि प्रीति न थोरी।

'रतिभाव' का चित्रण इस प्रसंग में चरम-सीमा पर पहुँच गया है।

उत्साह भाव–यह भाव वीर-रस का स्थायी भाव हैं उत्साह का सम्बन्ध उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों से है। यह धैर्य, दानशीलता, त्याग इत्यादि विभावों से उत्पन्न होता है। कार्य करने में स्थिरता तथा उत्कट आवेश को उत्साह कहा गया है। 'मानस' का अंगीरस वीर रस है। कुछेक विद्वत जनों का कहना है कि 'मानस' का अंगीरस **शांत** है तो किसी ने **भक्ति रस** को माना है। खैर, यह पचड़ा में हमें नहीं पड़ना है और विस्तार का भय है। परन्तु 'मानस' का मूल उद्देश्य रावण का वध करना है। इस प्रकार यहाँ अंगीरस **वीर रस** को ही माना जाना चाहिए। वीर तो कई होते हैं–दयावीर, दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। यहाँ हमें युद्धवीर से ही विशेष मतलब है। राम वर्षा-ऋतु के बीत जाने पर स्वभाव से उत्साही जान पड़ते हैं। उसमें उनका पुरुषार्थ अललोकनीय है–

एक बार कैसेहुं सुधि जानीं।
काल गीति निमिष महुं आनीं।
कतहु रहउ जौं जीवति होई।
तात जतन करि आनउं सोई।।

एक बार 'कैसेहु सुधि जानी' अर्थात् किसी प्रकार स्वबर तो अवश्य लूँगा 'किसी प्रकार' में कई भाव निहित हैं। यह उक्ति पुरुषार्थ का ही सूचक है। **'तात जतन करि आनउ सोई'** में भी वही बल पराक्रम का भान हो रहा है। रावण-अंगद की भी वार्त्ता हुई है उसमें भी उत्साह भाव मिलता है। भरत को अयोध्या वासी सहित राम से मिलने चित्रकूट में आते देख लक्ष्मण का त्योटी चढ़ना एवं युद्ध के लिए तैयार होने में 'उत्साह भाव' है–

'साजि सरासन साचक हाथा।'

भरत का सैन्यबल आते देखकर निषादराज का तरकस बांधना उत्साह भाव का उदाहरण प्रस्तुत करता है–

'फरसा बांस सेल सम करदीं।'

लंका कांड के युद्ध प्रसंग में तो उत्साह चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

हास भाव–हास हास्य रस का स्थायी भाव है। तुलसी के सम्पूर्ण काव्य में इस भाव का चित्रण देखने को मिलता है। विशेषत: नारद मोह और शिव-पार्वती विवाह प्रसंग में। हास के कई प्रकार हैं–स्मित हास्य, शिष्ट हास्य, मुक्त हास्य, अट्ठहास, व्यंग्य हास। शिव का पहनावा देखकर देवताओं की स्त्रियाँ हास करने लगीं–

देखि शिवहिं सुरतिम मुसुकाही।

'नारद मोह प्रसंग' में भी 'हास' का भाव दिखलाई पड़ता है–

करति कूट नारदहि सुनाई।
नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई।
रीझति राजकुंअरि छवि देखी।
इनहि बरहि हरि जानि विसेष।।

गण तो हंस ही रहे थे, नारद को क्या पता था, कि मेरा मुख बंदर जैसा है। **'राम केवट प्रसंग'** में भी हास देखने को मिलता है, जब केवट नाव चढ़ाने से असमर्थता व्यक्त करता है। यदि मेरी नाव अगर नारी के रूप में परिणत हो जायेगी तो घरवाली से झगड़ा मोल लेना पड़ेगा। नाव ही जीने का आधार है। राम केवट की चतुराई पर हंसने लगते हैं–

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुना ऐन चितर जानकी लबन तन।
कृपा सिंधु बोले मुसुकाई।
सोइ करू जेहि तब नाव न जो।।

'लक्ष्मण परशुराम संवाद' में 'हास' भाव आते हैं। सूर्पनखा अपने को विश्व सुंदरी कहती है। हनुमान की पूंछ

में जब वस्त्र लपेटा जा रहा था, तब लंका वासी हंस रहे थे–

कैतुक कहं आये पुरवासी,
मारहि चरण करहिं बहु हांसी॥

रावण-अंगद संवाद में हास का भाव दिखलाई पड़ता है।

शोक भाव–शोक करुण रस का स्थायी भाव है। इष्टजन का वियोग, वैभव का नाश, किसी प्रिय व्यक्ति का वध अथवा कराना, जन्म दु:ख इत्यादि कारणों से शोक उत्पन्न होता है। 'मानस' में ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें शोक भाव के अन्तर्गत रखा जाता है–**रामवन गमन, दशरथ मरण, लक्ष्मण शक्ति, सीता वनवास** में शोक भाव हैं। राम के वन गमन में अयोध्या नगरी शोकाकुल रही थी। माता कौशल्या भूषण बसन त्याग करती है–

भूषन वसन निछावर कीन्हे।

राम के वन जाने से हित मित सब दु:खी हैं–

घर मसान परिजन जनु भूता।
सुत हित मित मनहुं जमदूता।

लक्ष्मण शक्ति प्रसंग में राम रोते हुए दिखलायी पड़ रहे हैं। उन्हें असह्य पीड़ा होती है–

मम हित लागि तजेउ पितु माता।
सहेउ विपिन हिम आतप बाता॥

लक्ष्मण की शक्ति बाण लगने पर राम इतना तक कह डालते हैं–

जो जनतेऊ वन बंधु बिछोहु,
पिता वचन मनतेउ नहि ओहु॥

शोकातुर राम सारी घटना को अपने ऊपर लेते हैं–पिता मरण, गीध की मृत्यु और लक्ष्मण शक्ति सब मेरे कारण हुआ है।

इस प्रकार शोक की अंतिम परिणति हुई है 'मानस' में।

क्रोध भाव–मानवीय मन कोश में रति, उत्साह इत्यादि मनोभावों की तरह क्रोध की भी उपस्थिति रहती है। यह भाव दुराचारी व्यक्ति की दुष्चेष्टा से उत्पन्न होता है। यह भाव वीर रस का सहायक भाव है। प्रारंभ में क्रोध भाव की उत्पत्ति तब वीर की निष्पति होती है। यह रौद्र रस का स्थायी भाव है। भरत आगमन पर लक्ष्मण का क्रोध, धनुष भंग होने पर परशुराम का क्रोध 'मानस' इस तरह व्यक्त हुआ है–

भृकुटी कुटिल नयन रिस दाते।
सहजहुं चितवन मनहुं रिसाते॥

क्रोध में व्यक्ति जरूरत से ज्यादा बोलता है। अत्यन्त क्रोध के मारे लक्ष्मण को कुपित जान और शपथ सुन करके सभी लोग भयभीत होकर उनकी ओर देखने लगे और कहीं भागने का विचार करने लगे–

अति सरोष भारवे लखन, लखि सुनि शपथ परमान।

कैकेयी का कोप भाजन होना, सूर्पनखा के नासिका छेदन, शत्रुघ्न कुबटी प्रसंग, राम-सुग्रीव प्रसंग, रावण का क्रोध इत्यादि प्रसंगों में इस भाव की व्यंजना हुई है।

भय स्थायी भाव–भय भयानक रस का स्थायी भाव है। भय का सम्बन्ध स्त्रियों एवं नीच जनों से है। राजा के प्रति किये गये अपराध, वन में भम्रण, हाथी या सर्प देख लेना, शून्य गृह में ठहरना, गुरुजनों की भर्त्सना, बरसात की अंधेरी रात, जानवरों की आवाज सुनकर भयभीत होना इत्यादि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। मानस में अन्य भावों की तरह तुलसीदास इस भाव की संस्थिति दिखलायी है। 'मानस' में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो इसका आभास कराते हैं–'शिव पार्वती विवाह' प्रसंग में शिव की वेषभूषा को देखकर बालक भयभीत हो भागने लगे–

अनगित रवि ससि शिव चतुरजन।
बनु गिरि सरित बिन्धु महि कानन॥

सूर्पनखा के प्रसंग में भी भय-भाव प्रकट हुआ है। बादलों की गर्जना सुनकर राम डर जाते हैं–

धन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

राम-रावण युद्ध में भी यह भाव प्रकट हुआ है।

जुगुप्सा भाव–जुगुप्सा वीभत्स रस का स्थायी भाव है। इस भाव का सम्बन्ध घृण्य वस्तुओं के देखने के पश्चात् उत्पन्न है। घृण्य वस्तुओं के श्रवण दर्शन से हृदय में एक प्रकार का अकुंचन उत्पन्न होता है। यही हृदयांकुचन जुगुप्सा है। दुर्गंध मांस, सड़ी-गली वस्तु को देखने पर भाव उत्पन्न होता है। 'मानस' में अन्य भावों की भांति इस भाव का भी वर्णन हुआ है। भरत का कैकेयी के प्रति घृणा भाव उत्पन्न होता है, जब राम गनम का प्रसंग माँ के मुख से सुनते हैं। दशरथ मरण प्रसंग में पाठक कैकेयी को कुल कलंकिनी कहने लगते हैं। घृणित कार्य से भी मन में घृणा

उत्पन्न होता है। देखिए भरत की उक्तियों में जुगुप्सा भाव–

जब ते कुमति कुमत मन ठमउ।
खण्ड खण्ड होइ हृदय न गयउ॥
वर मांगत जब भई न पीरा।
जरि न जीभ मुँह परई न कीरा॥

राव-रावण संग्राम में जुगुप्सा भाव प्रकट हुआ है।

विस्मय भाव–अन्य भावों की भांति विस्मय भाव भी मानस में प्रकट हुआ है। यह अद्‌भुत-रस का स्थायी भाव है। किसी अभूतपूर्व अथवा असाधारण वस्तु के श्रवण दर्शन से जो भाव हृदय में उत्पन्न होता है उसे विस्मय कहते हैं। विस्मय भाव में आलंब विभाव की ही प्रधानता रहती है। 'मानस' में इस भाव की उद्‌भावना सती मोह प्रसंग में दिखलाई पड़ता है–

सती देख कैतुक भग जाता।
आगे रामु सहित श्री भ्राता॥

राम जन्म प्रसंग में भी इस भाव की अभिव्यंजना हुई है। धनुष भंग प्रसंग में परशुराम राम के पौरुष पर विस्मित हो जाते हैं–

देत चाप आपुहि चढ़ि गयऊ।
परशुराम मन विस्मय भयऊ॥

तुलसीदास ने मारीच प्रसंग में भी विस्मय भाव उत्पन्न कराया है। वैसे ही हनुमान-सुरसा प्रसंग, अशोका वाटिका प्रसंग में भी इसका अवलोकन किया जाना चाहिए।

इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों के निरूपण में तुलसीदास ने सफलता पायी है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
बी.डी. कॉलेज, पटना

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रामचरितमानस
2. रस मीमांसा
3. रस तरंगिणी
4. काव्य-प्रकाश
5. काव्य-दर्पण
6. संक्षिप्त शब्द सागर
7. भारतीय आलोचना शास्त्र
8. भारतीय काव्य-शास्त्र
9. हिन्दी साहित्य कोश-भाग-1
10. तुलसी काव्य मीमांसा

Research Paper

Dr. Ram Pramol Kumar

The Upanishads and Rabindranath

The Upanishads acted as a perennial source of inspiration for Rabindranath. Realisation of the Supreme being in each and all "is the pivot of the philosophy of Rabindranath. Therefore, he said in his book "**Sadhana**" – Not only in nature, but in the family, in the society, and in the state, the more we realize the world-conscious in all, the better for us. Failing to realize this, we turn our faces to destruction". Page 20- it is translation of Eight verse of Isopanishads.

Rabindranath embraced all the aspects of life in the light his own vision shaped by Upanishadic ideals. The Upanishadic teaching had profound impact upon Rabindranath and it opened a new vista of vision of reality in him. Rabindranath was born in **7th May 1861**. In his words –"That is not an important date of history, but it belongs to a great epoch in Bengal, when the currents of three movements had met in the life of out country. One of these, the religious, was introduced by a very great – hearted man of gigantic intelligence, Raja Ram Mohan Roy. There was a second movement equally important, Bankim Chandra Chatterjee was the first pioneer in the literary revolution. There was yet another movement started about this time called national.

The whole period of 19th century was permeated and pulsating with cultural renaissance in Bengal and it percolated towards different parts of India. Ram Mohan Roy established "**Brahma Samaj**" which was a remarkable from traditional worship. Ram Mohan Roy was deeply influenced by Upanishadic teaching. He translated the principal Upanishads into English. Maharshi Debendrainath Tagore, the father of Rabindranath Tagore, had vast knowledge about Upanishads.

Maharshi Debendranath first came across Isha Upanishad published by Ram Mohan Roy. He was moved by the first sloka of Isha Upanishad and approached Ram Chandra Vidya Bagis (1786-1845) of Brahmo Samaj for clear explanation fo the sloka, when it was explained, his wonder knew no bounds. He began to study Upanishads with meticulous care and tried to realize the lofty ideals of Upanishads.

Maharshi Debendranath Tagore was also the advocate of Brahmo Samaj. So, family environment itself was saturated with the influence of Upanishads. Before his investiture with the sacred thread, Rabindranath was able to chant in correct accents the noble mantras from Upanishads.

Rabindranath writes in author's preface to the Sadhana as under – "The writer has been brought up in a family where texts of the Upanishads are used in the daily worship, and he has had before him the example of his father, who lived his long life in the closest communion with God, while not neglecting his duties to the world, or allowing his keen interest in all human affairs to suffer any abatement".

Rabindranath was closely associated with his father. Therefore father and son, ipso facto, preceptor and disciple developed keen interest in the

Upanishads.

Tagore's biographer asserts "Nothing has influenced him more, both consciously and as an under-current of thought, than Upanishads. . .I maintain that Rabindranath's entire life is only an evolution and development of his Upanishadic education (Pravat Kumar Mukherjee, Rabindra Jivani, Vol – I, Page 32, Quoted by V.S. Naravane in his book – Modern Indian Thought, P – 117).

V.S. Naravane, at Modern Indian Thought P-117 quoted that – "This may be an over statement, but the fact remains that Tagore was able get more out of the Upanishads than most of his contemporaries. He regarded the Upanishads as a reservoir of inspiring thoughts and ennobling ideals rather than a body of finished theories. Certainly there is reflection of Upanishadic teaching in all activities of Rabindranath."

In Sadhana - Author's preface at Page VIII by R.N. Tagore – Quoted – Rabindranath said – "For western scholars great religious scriptures of India seem to possess merely a retrospective and archaeological interest but to us they are of living importance."

In Sadhana - Author's preface at Page VII, Rabindranath said – "All the great utterances of man have to be judged not by the letter but by the spirit – the spirit which unfolds itself with the growth of life in history."

Rabindranath did not lay stress on religious ceremonies, though he was influenced by Vedic teaching, he did not like Vedic Rituals. In the Vedas different deities are worshipped so that wrath of Gods will not fall upon the people. Rabindranath expresses – "Vipade More Raksha Karo, Ae Nahe More Prarthana." – "It is not my prayer, so that you will come to save me in danger." – Quoted in Gitanjali at Page 4.

In Gitanjali (Quoted in I bid page 5) –

"Antar Mamo Bikashita Karo (अन्तर ममो बिकशित करो)

Antartar Hey (अन्तरतर हे)

Nirmal karo, Ujjwal Karo (निर्मल करो, उज्ज्वल करो)

Sundar Karo Hey (सुन्दर करो हे)"

Or,

"Develop my inner self, make me pure, bright and beautiful".

The Upanishads with monistic emphasis penetrate into the inner world and it is a protest against the externalism of the Vedic practice. So Poet's vision is akin to Upanishadic idea.

As basic spring of Indian Philosophy, Upanishad attracted heterodox school also. Heterodox schools in Indian Philosophy revolted against Vedic teaching but not Upanishadic ideas.

According to R.N.Tagore in Sadhana, Author's preface, Page VII- "To me the verses of the Upanishads and teaching of the Buddha have ever been things of the spirit, and therefore, endowed with boundless vital growth and I have used them both in my own life and in my preaching."

Rabindranath is not an academic philosopher. There is no intellectual pastime in his philosophy. He has not established of philosophical system. Rabindranath declared that his religion is a poet's religion. He is a mystic philosopher. He is not only the embodiment of the Indian culture but harbinger of synthetic culture which was the result of metamorphosis of universal elements in broader prospective and canvas –

From delusion lead me to truth

From darkness lead me to light

From death lead me to immortality

Quoted from Brihdā Aranyaka Upanishad – "The Upanishads translated and selected by Juan Mascare, page-127"

But how can one hope to have this prayer granted for infinite is the distance that lies between truth and untruth.

Between death and deathlessness, yet this measureless gulf is bridged in a moment when self-revealing one reveals himself in the soul. Then the miracle happens, for there is the meeting ground of the finite and infinite" – Quoted by R.N. Tagore in Sadhana, Page 38.

Though, he was able to establish an all-

comprehensive view of life. His contribution in the field of art, literature, music, religion, education, politics, social reform is immense.

Indian philosophers called philosophy Darsana : There will be vision of reality. Therefore philosophy is the search of the rational explanation of sense experience and non-sensuous experiences. At present we see no antagonism between science and philosophy. Viewed from this stand point Rabindranath is a Philosopher Per Excellence.

A :The Theoretical and Practical Sides of Rabindranath Tagore :

In the early writings of Rabindranath, there is no Upanishadic influence. But in the later writings it is discerned and felt and sometimes Rabindranath followed the very style of Upanishadic expression in language. Nevertheless he transcended the Upanishadic ideas and created his own.

Rabindranath was a social reformer, educational philosopher and political thinker. The number of Upanishads are more than 200. The Muktikagives the names of 108. The Brihadāranyaka and Chhāndogya represent the two main traditions of thought in the Upanishads, the a-cosmic/निष्प्रपन्च (nisprapanca) and cosmic/सप्रपन्च (saprapanca) respectively.

Rabindranath read Isopanishad again and again. He wrote a lette to shri Amiya Chakravarty on 27th May 1938 and said he was moved by the deep thought of universality of Isopanishad. Again he wrote to Acharya Brojendra Nath Seal and stated that Vaisnavite literature and the Upanishads creaed his mental favour.

B :Philosophical Approach influenced by Upanishads :

Some described that R.N.Tagore is a kind of Hindu Tolstoy. Tolstoy was not eh contemporary of Rabindranath. Yes, R.N.Tagore held Tolstoy in high esteem. R.N.Tagore tried to come in touch with the social reformers, statesman, scientist and artist. Mahatma Gandhi was contemporary of R.N.Tagore. Both were closely associated and relation of love and mutual respect developed when R.N.Tagore found that Gandhijee was guided by the spiritual teaching of Indian seers. Both aimed at inner development of man and all round human progress. Rishi Aurobindo, Swami Vivekananda, S.C.Bose, J.L.Nehru serve as a beacon light even today.

R.N.Tagore was not only a poet, dramatist and artist but he was sensitive to all human problems. His concept of God was not abstract, isolated from throbbing of human beings. Gog is pervading all, we find in his poetry:

"Hey Biswadeb, Mor Kache Tumi
हे बिस्वदेब्, मोरकाछेतुमि
Dakha Dile Aj Ki Beshe
देखादिलेआजकिबेशे
Dekhinu Tomare Purba Gagane
देखिनुतोमारेपूर्बगगने
Dekhinu Tomare Swadeshe
देखिनुतोमारेस्वदेशे''
Or.

"Oh my Lord, in what form you have appeared before me, I see you in the eastern sky, I see you in my country"

C :Philosophical Approach influenced by Upanishads :

In Gitanjali by I bid –
"Eso Dukhe ऐसो दुःखे
Eso Nitya Nitya Saba Karme
ऐसो नित्य नित्य सब कर्मे
Eso Sakala Karma Abasane
ऐसोसकल कर्मेअबसाने''
Or,

"Come in sorrow, come in joy, penetrate into my inner self, be companion with my day to day work, come when work is over."

Rabindranath's view of religion is quite different from the usual path of religion. The Upanishads can by no means be described as religious in character- if with religion, we associate dogmas and creeds, priest craft and authority, rewards and punishment. One has

only to turn to the Mundaka Upanishad to realize this in ample measure for, here even the knowledge of the Vedas has been declared as mere lower knowledge.

While disassociating itself from all narrow and sectarian expression of religion, the Upanishadic teaching has laid clear and unmistakable emphasis on the spiritual perspective of life.

All these magnificent ideas of Upanishads attracted Rabindranath more and more to the core of the teaching of Upanishads.

D :Philosophical Approach in Upanishads :

Rabindranath is a mystic Philosopher. It is mysticism which is the very core of the Upanishads and so on understanding in mysticism one comes to the heart of its sublime and magnificent teaching.

R.N.Tagoer "repeatedly declared that humanity would never be defeated. This faith follows from his philosophical idea that – "The idea of the humanity of our God, or the divinity of man the eternal, is the main subject of this book (page 27, R.N.Tagore, The Religion of an Artist in the book contemporary Indian Philosophy).

R.N.Tagore accepts the concept of evolution, matter life and mind and then spirit are the products of evolutionary process. In his words "Man has a fund of emotional energy which is not all occupied with his self – preservation. This surplus seeks its outlet in the creation of art, for man's civilization is built upon his surplus. This is the creative energy of man and source of evolution from physical nature to spirit" – R.N.Tagore said in Personality at Page 11.

Conclusion :

In these days of cultural void and crisis of faith, really there is predicament of human destiny. At present people are guided by egoistic feeling and apt to be confined within the timid self. Study of Rabindranath and Upanishads is certainly savior of degenerated culture and civilization. This will bring again integrated and comprehensive view of the reality.

Assistant Professor
Dept. of Sanskrit, Pali & Prakrit
Visva Bharati, Santiniketan
Email – rmpramol@gmail.com

Bibliography :

1. The Philosophy of Rabindranath Tagore – by Chandra Mohan Das, Published by Deep and Deep Publications, F-159, Rajouri Garden, N.D.–27
2. Gitanjali – Rabindranath Tagore, 1913
3. Sadhna, Rabindranath Tagore Author's preface, 1913
4. Utsarg / उत्सर्ग, Rabindranath Tagore – 1914
5. Rabindra Jivani, Volume I, Pravat Kumar Mukherjee, Page 32, Quoted by V.S. Naravane in his book – Modern Indian Thought, P – 117
6. Brihdaranykopanishad – by Juan Mascare, Page–127
7. Personality, Rabindranath Tagore (at Page –11), 1917

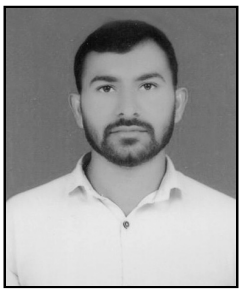

महेश कुमार किलानियाँ

भारतीय संस्कृति अथवा विरासत : राष्ट्र निर्माण की आधारिक संरचना

Indian Culture or Heritage : Underpinnings of Nation Building

शोध सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध पत्र में विभिन्न ऐतिहासिक एवं समसामयिक स्रोतों के गहन अध्ययन, निष्पक्ष विश्लेषण एवं समझ के आधार पर यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि हमारी संस्कृति एवं विरासत राष्ट्र निर्माण का निर्णायक आधार रही है। शिक्षा किसी भी समाज के कायाकल्प का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार है।

शिक्षा–1. प्रज्ञा का अभिगम/अधिग्रहण (Acquisition of Wisdom) 2. चरित्र का उत्थान (Emancipation of Character)। इस प्रकार शिक्षा प्रज्ञा एवं सच्चरित्रता का समन्वय है, जो संस्कृति से जुड़कर मूल्यों के सामाजिकरण (Socialisation) के वाहक बन जाते हैं।

इसी उद्देश्य से संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार ने सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केंद्र (Centre for Cultural Resource and Training) की स्थापना की। भारत सरकार ने सीसीआरटी को यह अधिदेश दिया कि शिक्षा को संस्कृति पर आधारित एवं अर्थपूर्ण बनाया जाये ताकि राष्ट्र के आधार को सुदृढ़ किया जा सके। संस्कृति एक रचनात्मक जीवन मार्ग (Creative way of Life) का प्रतिबिंबन है, वहीं विरासत अन्तर पीढ़ी मूल्यों की उत्कृष्टता (Transanding Intergenelational Values) की वाहक।

कुंजी शब्द : 1. संस्कृति (Culture)
2. विरासत (Heritage)
3. समावेशन (Inclusion)
4. संसंजकता (Cohesiveness)
5. अन्तर्निभर समाज एवं आत्मनिर्भर राष्ट्र (Interdependent Society & Self-reliant Nation)

शिक्षा जीवन के कायाकल्प में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विशेषकर इस तीव्र गति से परिवर्तनशील और वैश्वीकरण के युग वाले विश्व में हमारे विश्वविद्यालय बौद्धिक पूंजी के अभिरक्षक (custodian) और संस्कृति एवं विरासत तथा विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान के प्रवर्तक है।

संस्कृति, चिंतन की क्रियाशीलता और सौंदर्य तथा मानवीय भावनाओं, संवेदनाओं की ग्रहणशीलता होती है। इस प्रकार संस्कृति जीवन को रचनात्मकता की ओर प्रेरित करने वाले उत्प्रेरक की तरह है।

केवल बहुत सी जानकारियों से युक्त व्यक्ति ईश्वर की धरती पर एक उबाऊ इंसान भर है। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति तैयार किए जाएं जो संस्कृति और विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान, दोनों से समृद्ध (Enrich) हों उनका विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान उन्हें इस 4.0 औद्योगिक क्रांति के युग में आगे बढ़ने का एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान करेगा, वहीं संस्कृति उन्हें दर्शन की गहराईयों और कला की ऊंचाईयों की ओर ले जायेगी। साथ मिलकर यह मानवीय अस्तित्व को अर्थ प्रदान करेगा।

विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान आत्मनिर्भर भारत एवं संस्कृति एक संसंजक, अन्तनिर्भर समाज को सुदृढ़ता प्रदान कर राष्ट्र की एकता अखंडता को मजबूत करेगी। शिक्षा, संस्कृति एवं विरासत की राष्ट्र को भावात्मक सूत्र में बांधे रखने में अदृश्य लेकिन गुरुत्व बल की तरह निर्णायक भूमिका आरेखित की जा सकती है।

माधव खोसला ने अपनी पुस्तक 'India's Foundation Movement : The Constitution of a most Surprising Democracy' में बड़े ही रोचक ढंग से अहमद नगर की

जेल में जवाहर लाल नेहरू द्वारा 'भारत की खोज' नामक पुस्तक के लेखन का वृतांत प्रस्तुत किया है।

उल्लेखनीय है कि यह वृतांत 1943-44 की कालावधि का है, जब भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की परिणति भारत छोड़ो आंदोलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब ब्रिटिश सत्ता के लिए भारत पर अपनी सत्ता आरोपित रखना महज कुछ समय की बात रह गयी।

इस प्रकार की पृष्ठभूमि में भारत के मुक्ति संग्राम के निर्णायक प्रतिनिधि और राष्ट्र को भावी नेतृत्व देने में सक्षम अर्थात् स्वतंत्र राष्ट्र के नेतृत्वकर्ता के रूप में संभावित व्यक्तित्व, जवाहर लाल नेहरू द्वारा 'भारत की खोज' पुस्तक के लेखन के माध्यम से भारत के अतीत का अवलोकन कहीं ना कहीं अतीत से अनुभवों (Experience gained) का ग्रहण करे एवं सीख प्राप्त करने (Lesson's learned) के माध्यम से भारत के भावी भविष्य की रूपरेखा तैयार करने में अतीत या इतिहास की प्रासंगिकता एवं राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत को परिरक्षित, संरक्षित एवं संवर्धित करने में इतिहास, संस्कृति एवं विरासत की भूमिका को उद्घाटित करता है।

1. क्या भारतीय संस्कृति अथवा विरासत की समझ एवं नवाचारी व्याख्या के बिना राष्ट्र निर्माण संभव था?

संस्कृति : (i) जीवन का रचनात्मक मार्ग, रचनात्मक क्रियाशीलता

(ii) बौद्धिक उपलब्धियां एवं कलात्मक उत्कर्ष

(iii) दर्शन की गहराई एवं कला की ऊंचाईयां

(iv) मानवीय संवेदनाओं एवं भावनाओं का लोकमंगल के आधारिक तत्वों के रूप में समझ।

पुरातत्वविदों के शब्दों में संस्कृति एक जीवन जीने की प्रणाली तथा सभ्यता एक बड़े क्षेत्र में विसरित लेकिन मानक के रूप में स्थापित संस्कृति है। आधुनिक सन्दर्भ में सभ्यता किसी Entity का बाह्य पक्ष है, वहीं उसमें निहित गुणों के रूप में संस्कृति की अनुभूति की जा सकती है।

एक दृष्टांत के रूप में एक पुष्प की आकर्षक संरचना उसकी कोमल कलिकाएं–सभ्यता के रूप में देखी जा सकती हैं, वहीं उस पुष्प की मोहक खुशबू संस्कृति की भांति है। संस्कृति एक गत्यात्मक (dynamic) संकल्पना है, जो काल के प्रवाह के साथ मौलिकता को बनाये रखते हुए परिमार्जन को आत्मसात करती रहती है। इस प्रकार संस्कृति नवीन परिस्थितियों में अपनी मौलिक जीवंतता को बनाये रखते हुए नवीन मानदंड स्थापित करती हैं।

संस्कृति हमारे जीवन को समग्र रूप से स्पर्श करती हैं, इस 'संस्कृति' की काल्पनिक परिधि (Imaginary Periphery) में धर्म, दर्शन, भाषा एवं साहित्य, कला स्थापत्य आदि को समाहित किया जा सकता है।

धर्म

बाह्य पक्ष– अनुष्ठान (Rituals)	**आंतरिक पक्ष– तत्व चिंतन**
उपासना स्थल एवं उपासना की प्रणालियों में विविधता विभेद की स्थिति उत्पन्न कराने वाले के एक आधार बनती है।	धर्म का यही भाग धर्म का सार है।

इसी आधार पर विश्व के सभी धर्म समान एवं सच्चे कहे गये हैं। यही आधार परस्पर सौहार्द एवं बंधुता का आधार है। इसी आधार पर सभी धर्मों का एकमेव उद्देश्य है–मानव की आध्यात्मिक प्यास की संतृप्ति एवं इसके माध्यम से मानव कल्याण साम्प्रदायिकता की जड़ें धर्म के आनुष्ठानिक पक्ष में आरेखित की जा सकती है। इसलिए आज आवश्यकता धर्म के तत्व चिंतन को उभारने एवं आनुष्ठानिक पक्ष को व्यक्ति के निजी क्षेत्र तक सीमित करने की है।

2. प्राचीन भारतीय संस्कृति की विलक्षणता।

1. विविधता में एकता

तबानते महासनो - विविधता में एकता की स्वीकृति ही हिन्दुस्तां के एक बनने का आधार रहा है।

2. समन्वित संस्कृति के रूप में भारतीय संस्कृति की विशिष्टता

3. औपनिवेशिक काल में भारतीय संस्कृति को दुर्भावनापूर्ण ढंग से ध्वस्त करने के ब्रिटिश सत्ता के प्रयास।

साम्प्रदायिकता का उद्भव एवं इसको परिणति के रूप में सांस्कृतिक संघर्ष एवं भारत का विभाजन।

4. भारतीय राष्ट्र निर्माताओं के लिए एक धरोहर के रूप में भारतीय संस्कृति।

5. स्वतंत्र भारत की बाह्य नीति के निर्धारण एवं सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करने के लिए भारतीय संस्कृति का महत्व।

विविधता में एकता की विशिष्टता वाली भारतीय संस्कृति

(1) भारतीय संस्कृति का बहुलवादी स्वरूप

(Polyphonic Nature) एवं इसके निर्धारक कारक

1. भारत की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति

भूगोल-मानव के आवास के रूप में पृथ्वी गृह का अध्ययन।

इस प्रकार मानव की संस्कृति को निर्धारित करने में भूगोल की निर्णायक भूमिका होती है।

संस्कृति मानव की भौगोलिक क्षेत्र के प्रति अनुक्रिया एवं अनुकूलता तथा सहचर्य के रूप में प्रतिबिंबन है।

2. भारतभूमि पर अन्य क्षेत्रों से लोगों का विभिन्न उद्देश्यों से आगमन तथा विविध संस्कृतियों के बीच परस्पर सहक्रिया (Interminling & Synergy) उदाहरण के लिए प्राचीन काल में भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर से, इंडोग्रीक, शक, पर्शियन, कुषाण, हूणों का आगमन एवं इनके द्वारा भारतीय संस्कृति का आत्मसातीकरण एवं संवर्धन।

रूद्रदामन का संस्कृत भाषा के विकास को संरक्षण देने एवं कनिष्क का बौद्ध धर्म को वैश्विक पटल पर उभारने में योगदान प्रशंसनीय रहा है। सांस्कृतिक समन्वय की जमीं अधिक उर्वर हुयी।

आर्य एवं अनार्य तत्वों के बीच सम्पर्क, समन्वय ने भाषा, साहित्य, धर्म एवं दर्शन को गहरायी तक रचनात्मक ढंग से प्रभावित किया। इसका उल्लेखनीय उदाहरण–अथर्वेद को देखा जा सकता है।

4. मौर्योत्तर युग में तथा गुप्तकाल में क्रमशः भूमध्य सागरीय क्षेत्रों एवं दक्षिण पूर्व एशिया के साथ भारत के सम्पर्क। एशिया एवं यूरोप के बीच रेशम मार्ग एक व्यापारिक मार्ग ही नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक संचार के पथ के रूप में इसी समय भारत के दक्षिणी भाग में उभरने वाले राजवंशों, विशेषकर उभरा पल्लव एवं चोलों के समय दक्षिण पूर्व एशिया एवं पूर्व एशिया के साथ व्यापार के माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों का विनिमय। इसी कारण दक्षिण-पूर्व एशिया को भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश के रूप में संबोधित करने के बजाय सांस्कृतिक घनिष्ठता के तप्त स्थल (Hot spot) के रूप में संबोधित करना अधिक उचित होगा।

5. भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी भागों के बीच निरंतर सांस्कृतिक संवाद (Cultural Communication)

आर्य संस्कृति उत्तर से दक्षिण की ओर उन्मुख हुई वहां भक्ति की भाव प्रवण लहरें दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ीं।

भारत का कालजयी साहित्यिक रचनाओं का विविध क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद एवं सांस्कृतिक घनिष्ठता का बीजारोपण।

भक्ति द्रविड़ उपजी लायो रामानंद
प्रगट कियो कबीर ने सात द्वीप नौखंड

संस्कृति : 1. धर्म एवं दर्शन

2. भाषा, लिपि एवं साहित्य

3. शिक्षा

4. कला की उत्कृष्टता

5. शिल्प एवं तकनीकी

6. वैज्ञानिक दृष्टिकोण

7. विदेशी लेखकों एवं यात्रियों की भारत के संबंध में समझ

धर्म एवं दर्शन

वैदिक धर्म की ऋग्वैदिक परम्परा सामूहिक स्तुति पर आधारित थी। यह सामूहिकता एकत्व, सहयोग एवं बंधुता का आधार रही।

जब उत्तर-वैदिक काल में ब्रह्माणिक अनुष्ठानों एवं कर्मकांड अत्यधिक प्रभावी हो गये, वर्ण की कठोरता अतिशय हो गयी, सामाजिक गत्यात्मकता रूढ़िवाद में परिवर्तित हो गयी।

ऐसी स्थिति में छठी सदी ई.पू. में एक साथ 62 सम्प्रदायों का उद्भव, जिसमें सर्वप्रमुख थे बौद्ध एवं जैन, जिनके विचारों का आधार करुणा, समता, बंधुता था। इस प्रकार मानवता पर केंद्रित एक प्रबोधन युगीन इस चरण ने सामाजिक समन्वय एवं विनिमय को त्वरण प्रदान किया।

इसी पृष्ठभूमि में मौर्य शासक अशोक ने 'क्षम्य' की नवाचारी एवं मानवीय संकल्पना गढ़कर एक सामाजिक संहिता बनायी, जिसका उद्देश्य समाज में नैतिक मूल्यों को रोपित कर, विविध संस्कृतियों के बीच सहयोग समन्वय को प्रोत्साहित करना था।

इसी प्रकार अशोक की दूरदृष्टि का ही यह परिणाम रहा कि उन्होंने बौद्ध धर्म को वैश्विक धर्म बनने के पथ पर अग्रसर कर विभिन्न देशों के बीच सांस्कृतिक विनिमय एवं परस्पर मैत्री के नवीन आधार की नींव रखी।

मौर्योत्तर काल में आर्य एवं गैर आर्य तत्वों के बीच अन्तःक्रिया को बढ़ावा मिला। कई जनजातीय पृष्ठभूमि से जुड़े राजवंशों ने स्वयं को ब्राह्मण धर्म उद्धारक के रूप में स्थापित किया। उदाहरण–सातवाहन राजवंश इस आर्य-अनार्य

मेल-मिलाप के उदाहरण अथर्ववेद में भी दृष्टिगत होते हैं।

गुप्तकाल में भागवत धर्म के आर्विभाव भक्ति की भाव प्रवण लहरों ने सहृदयता को प्रसारित कर मानवतावादी धर्म को त्वरण प्रदान किया। इसी काल में षडदर्शन की एक ही समय में उपस्थिति भारतीय संस्कृति के–एकं सद् विप्रा बहुधा वदति की परम्परा एवं विविध विचारों की एक साथ उपस्थिति का विलक्षण उदाहरण हैं, जो जैन धर्म के स्याद्वाद की धरातल पर अभिव्यक्ति का एक अनुकरणीय उदाहरण कहा जा सकता है।

भक्ति–भक्त की अपने आराध्य/उपास्य के प्रति प्रेममय समर्पण की भावना, शरणागति।

भक्ति–विभिन्न सामाजिक समूहों की समता पर आधारित एक आंदोलन की तरह उभरी जो बंधुता का आधार बनी।

भक्ति की धारा का एक आधारिक तत्व–करुणा– लोकमंगल की उर्वर भूमि बनी जो एक संसंजक, अन्तर्निर्भर समाज एवं परस्पर बंधुता के भाव को त्वरण प्रदान कर राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि बनी।

भाषा लिपि एवं साहित्य–भाषा एक वाहक है। जबकि साहित्य उस वाहक का भाव जिसे लिपि की सहायता से अभिव्यक्ति मिलती है। आर्य समूह भाषाओं एवं द्रविड़ भाषाओं का मुख्य रूप में साहित्यिक संस्कृत भाषा से विविध भाषाओं का उद्भव, सृजना में योगदान रहा है। संस्कृत में रचित साहित्य का अन्य भाषाओं में अनुवाद एवं विषय वस्तु से प्रेरणा लेकर साहित्य की सृजना।

संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के बीच अन्त:क्रिया इन सभी तत्वों ने विविध भाषाओं के बीच क्षेत्रीय विशिष्टताओं के बावजूद विषयवस्तु (Theme/Content) के स्तर पर एकत्व/साम्यता को बल प्रदान किया। भारत के दक्षिणी भाग को महाकाव्य–संगम रचना–शिल्पादिकारम में हिन्दुज्म, बौद्ध एवं जैन धाराओं का संगम दृष्टिगत होता है।

रामायण, महाभारत का विविध भाषाओं में अनुवाद एवं शिल्पादिकारम, मणिमैखले एवं जीवक चिंतामणि जैसी रचनाओं की उपलब्धि भारत के सार विविधता के बीच एकत्व को ही प्रतिबिंबित करती है।

विविध समय में विविध भाषाओं का लिंगुआ फ्रेंका के रूप में उभरना एवं अन्तत: हिन्दी का उद्भव।

स्थापत्य कला (Architecture)

मौर्यकाल–स्तंभ, स्तूप एवं गुफा वास्तुकला

मौर्योत्तर काल–चैत्य, स्तूप एवं विहार

गुप्तकाल–मंदिर निर्माण तथा नागर शैली की आधारिक रचना

गुप्तोत्तर एवं पूर्व मध्यकाल–नागर, बेसर एवं द्रविड़ शैलियों का विकास

अशोक के स्तंभों पर अंकित विविध पशुओं की मूर्तियां एवं प्रतीक चिह्न किसी एक धर्म विशेष के लिए ही उपास्य नहीं रहे हैं, बल्कि विविध धर्मों में इसे पवित्र माना गया है और उसने उपास्य से जोड़ा गया है। उदाहरण–सिंह, वृषभ, कमल आदि। स्तूप की पृष्ठभूमि वैदिक साहित्य में आरेखित 'थूह' के रूप में होती है। जिसे टीले के रूप में उद्धृत किया गया है।

गुप्तकाल में मंदिर एवं इसकी पंचामटन शैली–समन्वय की प्रतिबिंब है। वहीं स्थापत्य की बेसर शैली अपनी क्षेत्रीय विशिष्टताओं के साथ ही नागर एवं द्रविड़ शैलियों के बीच समन्वय को दर्शाती है।

कला–मनोभावों की रचनात्मक अभिव्यक्ति, उत्कीर्णन।

इसमें भी समन्वय का प्रवाह विषय वस्तु से लेकर संदेश तक दृष्टिगत होता है।

कला

दृश्य कला

- पेंटिंग
- मूर्तिकला
  - मृण्मूर्तियां
  - प्रस्तर मूर्तियां
  - धातु मूर्तियां
- स्थापत्य

प्रस्तुती कला

- नृत्य–शास्त्रीय एवं लोकनृत्य
- संगीत–हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटिक शैली
- नाट्य–कुटियट्टम से लेकर यक्षगान एवं आधुनिक थियेटर तक की परम्परा

1. **पेंटिंग**–कला की पेंटिंग के माध्यम से अभिव्यक्ति शैलाक्षयों में रॉक पेंटिंग से लेकर आधुनिक युग में सेलूलर जेल की दीवारों तक उत्कीर्ण संदेशों में आरेखित की जा सकती है।

रॉक पेंटिंग जहां उस युग की पृष्ठभूमि में सामूहिकता को प्रतिबिंबित कर रही थी वहीं सेल्यूलर जेल की प्राचीरें औपनिवेशिक दासता के उन्मूलन को प्रतिबद्ध प्रतिरोधी सामूहिकता के भाव को प्रकट कर रही थी।

इस दोनों के बीच मुगल चित्रकला–भारतीय एवं पर्शियन धार्मिक ग्रंथों की विषयवस्तु एवं संदेश को चित्रित हिन्दू एवं पर्शियन संस्कृति के बीच अन्त:क्रिया को प्रोत्साहित कर रही थी।

मूर्तिकला–मौर्य युग में राजकीय कला के प्रतीक राजप्रासाद एवं अशोक के स्तंभों के साथ ही यक्ष-यक्षिणी के माध्यम से लोककला का सह अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार मूर्तिकला के अभिकेन्द्रों के रूप में उभरी गांधार, मथुरा अमरावटी की मूर्तिशिल्प शैलियों में क्रमश: गांधार मूर्तिशिल्प की Form अवश्य ग्रीको-रोमन था लेकिन Spirit (आत्मा) भारतीय थी।

इस प्रकार मथुरा–बौद्ध, जैन एवं हिंदू धर्म के विषयों के मूर्तिशिल्प की संगम भूमि के रूप में उभरी।

गुप्तकाल में सारनाथ की मूर्तिशिल्प शैली वैष्णव धर्म के प्रभाव को अवश्य प्रकट करती हैं, लेकिन महात्मा बुद्ध की प्रस्तर प्रतिमा अन्य संस्कृतियों की उपेक्षा को नकारती प्रतीत होती है।

गुप्तोत्तर एवं पूर्व मध्यकाल में जहां महाबलिपुरम पल्लव स्थापत्य का केन्द्र बना, लेकिन इसका थीम अर्जुन की तपस्या, गंगा अवतरण आदि भारत के उत्तर-दक्षिण भागों के बीच सांस्कृतिक समरसत्ता को प्रतिबिंबित करती हैं।

अजंता–जहां बौद्ध विषयों के उत्कीर्ण के लिए विख्यात हैं, वहीं एलोरा एवं बादामी का स्थापत्य भारतीय की समन्वित संस्कृति का परिचायक हैं, क्योंकि बौद्ध, जैन एवं ब्रह्माणिक विषयों की स्थापत्य के रूप में अभिव्यक्ति मिली हैं।

शिक्षा

ब्रह्माणिक परम्परा में गुरुकुल, घटिका, ब्रह्मदेय अथवा अग्रहार, महाविद्यालयों एवं संगोष्ठियों की ज्ञान संवर्धनी परम्परा ने शिक्षा ने शिक्षा को परिरक्षित, संरक्षित एवं संवर्धित किया।

बौद्ध संस्कृति में विहार शिक्षा के आधार बने यहां शिक्षा धार्मिक विषयों के साथ ही इतिहास एवं लोकशिल्प व अन्य धर्म-दर्शन के विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

नालंदा, वल्लभी विक्रमशिला आदि उदाहरण प्रेरक एवं अनुकरणीय हैं। जैन परम्परा में भी विद्या अध्ययन की 'विहार' परम्परा थी।

विद्या अध्ययन के लिए एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र की ओर प्रवास ने विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों के बीच अन्त:क्रिया एवं एक समन्वित संस्कृति को प्रोत्साहित करने का कार्य किया।

उदाहरण विष्णु गुप्त (चाणक्य/कौटिल्य), चन्द्रगुप्त मौर्य, जीवक आदि का मगध के क्षेत्र से तक्षशिला में अध्ययन के लिए प्रस्थान, गुरुकुलों की परम्परा में सहयोग, सहभागिता के तत्वों की उपस्थिति।

विश्व के अन्य भागों से विद्या ग्रहण के लिए भारत की ओर आगमन भारत के अतीत की गौरवमयी उपलब्धियों के प्रति हमारे मन में गर्व का भाव भरता है, जो हमारे बीच एकता को सुदृढ़ करता है।

इस ब्रह्माणवादी शिक्षा प्रणाली की सीमा यह रही कि यह अवसर की समता के विषय पर पिछड़ गया, जो हमारे लिए एक सीख है कि एक राष्ट्र के रूप में उभरने का हमारा आधार अवसर की समता एवं मानव की गरिमा को सुनिश्चित करने वाली बंधुता से हमारा समाज आज वंचित ना हो।

विदेशी लेखक

ग्रीक एवं रोमन लेखक	चीन के यात्रियों के विवरण	अरबी लेखकों के वृतांत
हेरोडोटस, टेसियस मेगस्थनीज	फाहियान, ह्वेनसांग इत्यादि	अलम सूदी, इब्नबटूटा, अल्बेरूनी

इन्होंने भारत के अतीत की प्रशंसा कर भारतीयों में अपने अतीत के प्रति गौरव का भाव भरा, जिसने आत्मविश्वास के साथ भारतीयों को अपने वर्तमान के निर्माण एवं भविष्य के अभिकल्पन को प्रेरित किया।

मध्यकाल में अरब के क्षेत्र में उद्गमित इस्लाम का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव एवं इसकी समृद्धि (Enrichment) में योगदान

भारत की Form इस्लामिक लेकिन Spirit वेदांती हो

स्वामी विवेकानंद का यह कथन इस्लाम की भारतीय संस्कृति के प्रति योगदान की भूमिका को प्रतिबिंबित करता है।

इस्लाम के कारण अरब कबीलों में आयी एकता एवं सारे जहां में इस्लाम के प्रसार के उत्साह ने इस्लाम को एक वैश्विक धर्म के रूप में स्थापित किया।

इस्लाम ने जिस तरह विश्व के अन्य भागों की संस्कृतियों को आत्मसात कर इस्लाम की सर्वोपरिता स्थापित की, वैसी स्थिति भारत में नहीं थी क्योंकि भारत कोई असभ्य भूमि नहीं बल्कि एक प्राचीन सभ्यता एवं जीवंत संस्कृति का वाहक था।

इस कारण इस्लाम की रूह–सूफीज्म एवं हिन्दूइज्म में भक्ति आंदोलन ने इस्लाम एवं हिन्दूइज्म के बीच अन्त:क्रिया को प्रोत्साहित कर एक समन्वित संस्कृति के सृजन का प्रयास किया।

इसी समन्वित संस्कृति के अनुरूप जहां सल्तनत काल में मोहम्मद बिन तुगलक के प्रशासन के सामाजिक आधार एवं उसकी अन्य धर्मों की संस्कृतियों, उत्सवों में सक्रिय व्यक्तिगत अभिरुचि को देखा जा सकता है।

मुगल काल में अकबर ने विविध संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित कर समाज के लिए सम्पूर्ण शांति की चाह में सुलह कुल की नीति अपनायी।

अनुवाद विभाग की स्थापना कर उसने हिन्दू धर्म ग्रंथों का संस्कृत से फारसी में तथा पर्शियन ग्रंथों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कर समन्वय की धारा को परस्पर समझ को विकसित करने के रास्ते आगे बढ़ाया।

इसी प्रकार दीन-ए-इलाही (तौहीद-ए-इलाही) की नींव रखकर अकबर के विभिन्न धर्मों के प्रगतिशील तत्वों को समन्वित करने का प्रयास किया।

अकबर की इसी समन्वित संस्कृति की धारा को त्वरण मिला प्रिंस दारा शिकोह के प्रयासों से। उन्होंने बनारस (वाराणसी) के सुविज्ञ पं. कवीन्द्राचार्य के नेतृत्व में 52 उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद करवाया। जिसका शीर्षक था 'सिरे-ए-अकबर (महान रहस्य)' पश्चिमी विश्व यदि भारत की वेदांती प्रज्ञा से परिचित हो सका तो सिर्फ दारा शिकोह के प्रयासों से हुए उपनिषदों के फारसी अनुवाद से।

इसी प्रकार दारा की रचना मज्म उल-बहरीन (दो सागरों का संगम) यहां दो सागरों से–इस्लाम एवं हिन्दूइज्म को संबोधित किया गया है।

इसमें दारा ने कुरान की तरह ही वेदों की पवित्रता एवं ईश्वरीय रचना के रूप में इन्हें स्वीकार किया।

मुगल पेंटिंग एवं स्थापत्य शैलियों में भी पर्शियन एवं यहां की क्षेत्रीय संस्कृति का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण अकबर के काल में, महाकाव्यों की विषयवस्तु का चित्रांकन एवं फतेहपुर सीकरी का स्थापत्य।

संगीत के क्षेत्र में इस समन्वय ने हिन्दुस्तानी संगीत की शास्त्रीय शैली को समृद्ध से समृद्धतर बनाया।

सूफीज्म के समता एवं करुणा के तत्वों के प्रबल्य एवं भारत की क्षेत्रीय संस्कृतियों के साथ समन्वय का ही परिणाम है कि आज सूफी पीरों की मजारों पर इस्लाम के अनुयायियों से अन्य धर्मों के अनुयायी दृष्टिगत होते हैं।

इस प्रकार हमारी विरासत आज एक ओर पर्यटन को प्रोत्साहित कर नवीन आर्थिक अवसरों को सृजित कर रही है, वहीं सांस्कृतिक मूल्यों के विनिमय के माध्यम से बंधुता के भाव को प्रोत्साहित कर समाज को जोड़ने का कार्य कर रही हैं।

उल्लेखनीय है कि इस्लाम का भारत में आरंभिक आगमन व्यापार के माध्यम से हुआ लेकिन तुर्क एवं मंगोलों के इस्लाम में रूपांतरित होकर इसके ध्वजवाहक बनने के कारण इस्लाम में उन्होंने जो उग्रता आक्रमकता डाली। भारत पर आक्रमण कर उपासना स्थलों को ध्वस्त कर विजेता लोगों के उपासना स्थल बनाये गये, इसने सांस्कृतिक-संघर्ष को त्वरित किया।

आज इतिहास के विद्यार्थी के रूप में इससे यही सीख ली जा सकती है, उस समय की भारतीय सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के कारण आक्रांताओं को जो सफलता मिली, उसमें सामंती तत्वों की प्रबलता एवं इस क्षेत्र के शासकों की रणनीतिक दूरदृष्टि के अभाव को पुन: उभरने का अवसर ना मिले।

जो आक्रांता थे उन्होंने इस भूमि को, संस्कृति को स्वीकार किया लेकिन साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत के विभाजन ने सांस्कृतिक संघर्ष को ईंधन देने का कार्य किया।

राष्ट्र के सामर्थ्य एवं सुदृढ़ता के आधार तत्व के रूप में भारत की सामाजिक पूंजी (Social Capital) को संर्वधित करके ही आज हम भारत की एकता एवं अखंडता की प्रतिरक्षा कर सकते हैं।

धर्मों के तत्व चिंतन पक्ष को उभारकर तथा आनुष्ठानिक पक्ष को व्यक्ति के निजी जीवन तक सीमित करके ही हम एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में भारत की छवि एवं दक्षता को मजबूत कर सकते हैं।

आज हमारे आदर्श अशोक का धम्म, अकबर की सुलह-ए-कुल एवं उसके दीन-ए-इलाही का दर्शन तथा सर्वोदय की संकल्पना को साकारित कर इस राष्ट्र की वैश्विक पहचान एवं घरेलू संसंजकता को अधिक सुदृढ़ किया जा सकता है।

भारत की वैचारिक स्वतंत्रता एवं बहुलता के प्रति सम्मान के भाव की पृष्ठभूमि जिसके कारण यहां एक साथ षडदर्शन को संकल्पना का सह-अस्तित्व, नास्तिक पंथों का उभार एवं लोकायत दर्शन की उपस्थिति भारत की धरोहर है।

रोमन साम्राज्य में यहूदियों के निर्मम उत्पीड़न, ईसा मसीह के नवाचारी विचारों के प्रति सम्मान के बजाय उन्हें सूली पर लटकाया जाना, सेंट पीटर को फांसी आदि घटनाएं वैचारिक प्रभुत्व एवं अन्य विचारों को उन्मूलित करने पर आधारित रही हैं।

इस वैचारिक बहुलता की कालजयी धरोहर को न केवल हमें ही परिरक्षित, संरक्षित एवं संवर्धित करने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को अभिव्यक्त करना चाहिए बल्कि वैश्वीकरण के इस युग विश्व की विविध संस्कृतियों को इन विचारों को अपनाना चाहिए।

भारत की समन्वित संस्कृति की धरोहर को परिरक्षित, संरक्षित एवं संवर्धित करने की हमारी प्रतिबद्धता धार्मिकता की तरह होगी तभी भारत एक राष्ट्र के रूप में विश्व के लिए प्रेरणा का स्रोत तथा भारतीयों के लिए एक सामूहिक समृद्धि एवं खुशहाली का आधार बनेगा।

दिल्ली सल्तनत के काल में बहमनी राज्य द्वारा मराठी भाषा एवं साहित्य, बंगाल में बंगला भाषा को मुस्लिम शासकों के काल में प्रोत्साहन मिला। बंगाल में इसी काल में कीर्टिवास ने रामायण का बांग्ला भाषा में अनुवाद किया, जिसे संरक्षण मिला मुस्लिम शासक से।

भक्ति एवं सूफी की इस प्रगतिशील एवं मानवीय धारा से कबीर एवं नानक जैसे सुधारक संत उभरे। उल्लेखनीय है कि समाज सुधार राष्ट्र निर्माण की पूर्व पीठिका है।

समाज में, न्याय, समता, मानवीय गरिमा के बिना एकता एक आरोपित एकता हो सकती है, जिसका स्थायित्व धूल के सूत्र से अधिक नहीं हो सकता।

मंदिरों को तोड़ दो, मस्जिदों को तोड़ दो
दिल न तोड़ो क्योंकि वह खुदा का पनाहगार है।

सूफीज्म के ये उद्‌गार धर्म की spirit को अभिव्यक्त करते हैं जो सभी धर्मों की एक ही हैं।

राख उठाय लीनी एक मुट्‌ठी और दीनी उड़ाय.

सूफी संतों ने भारत की विविध क्षेत्रीय भाषाओं में लेखन कर इन्हें समृद्ध बनाया, वहीं अपने संदेश को आम जन के रूह तक उतारने का प्रयास किया। इसी का उदाहरण चरखी नामा, चक्की नामा अर्थात् चरखे एवं चक्की चलाते समय महिलाओं द्वारा सूफी संगीत का गायन सूफीज्म की स्थानीय लोगों तक पहुंच का एक अनुकरणीय उदाहरण है।

सूफी मलिक मोहम्मद जायसी, बुल्लेशाह, अब्बा खार्टूम एवं अमीर खुसरो की परम्परा ने खड़ी बोली अर्थात् आधुनिक हिन्दी की क्षेत्रीय बोलियों को समृद्ध किया।

अमीर खुसरो की खड़ी बोली के जनक के रूप में प्रतिष्ठा मिली वही नूह सिपिहर में इनकी भारतीय प्रकृति, संस्कृति एवं वनस्पति की मुकत कंठ प्रशंसा तथा दिल्ली की महानता का यह दावा कि दिल्ली एक ऐसा शहर है, जिसका तवाफ काजा करता है। यहीं खुसरो को प्रथम Patriotic Poet के रूप में स्थापित करते हैं।

इनके सूफी रहस्यवाद का प्रतिबिंब–

छाप तिलक सब छीनी मौ से नैना मिलाइके।
मतवाली कर दीनी मौ से नैना मिलाइके।....
खुसरो दरिया प्रेम का उलटी बाकी धारा
जो उबरा सो डूब गया जो डूबा सो पार।

इसी प्रकार अब्दुर रहीम खानखाना का हिन्दी भाषा में लेखन एवं इसकी लोकप्रियता आज भी समृद्ध हो रही हैं।

रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो छिटकाय
टूटे से फिर ना मिले, मिले गांठ पड़ जाय।

कृष्ण भक्त रसखान की ब्रजभाषा में कृष्ण भक्ति को समर्पित रचनाओं में भक्ति के केन्द्रिय तत्व समर्पण की पराकाष्ठा की अनुभूति की जा सकती है–

मानुष हीं तो वहीं रसखान बसौं
संग गोकूल गाँव के ग्वारन।
जो पशु होतो कहा बसुमेरो चरौं

निता नंद के धेनू मंझारन।
पाहन हौं तो वहीं गिरी को
जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन
जो खग हौं तो बसेरो करौं
मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन।

ऐसी समन्वित संस्कृति की धरोहर भारत की धाती है। इस धरोहर की सबसे बड़ी सीमा यह रही कि इन संतों के विचारों ने समाज सुधार को प्रेरित अवश्य किया लेकिन इनको कोई संस्थागत आधार नहीं मिलने के कारण यह पंखविहीन पखेरू की स्थिति में रही। इस धरोहर की spirit को आधार दिया। इस समन्वित संस्कृति वाले भारत में साम्प्रदायिकता एवं इस आधार पर विभाजन मानवता एवं समन्वित संस्कृति के लिए एक त्रासदी थी। जिसने समन्वित संस्कृति के आधारों को कमजोर किया, जिसके एक बड़े आधार उर्दू के प्रति विभाजन के पश्चात उत्पन्न उपेक्षा की भावना, क्योंकि पाकिस्तान ने इसे राजभाषा के रूप में अपनाया।

आधुनिक काल में भारतीय संस्कृति

पृष्ठभूमि : 18वीं सदी में औपनिवेशिक ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के समय भारत की स्थापित संस्कृति उर्दू थी।

फारसी को प्रतिस्थापित करके उर्दू राजभाषा के रूप में स्थापित थी। 1857 के विद्रोह के समय हिन्दू-मुसलमानों की एकता अन्याय के खिलाफ संघर्ष में, अनुकरणीय तत्व के रूप में दृष्टिगत थी।

ब्रिटिश शासन के अलगाव को प्रेरित करने वाले प्रयास

1. समन्वित भारतीय संस्कृति की संकीर्ण एवं विकृत व्याख्या इसका कारण, यदि संदेह का लाभ उन्हें दिया जाये तो यह उनकी नासमझी का परिणाम हो सकती हैं, लेकिन आगे के दौर में साम्प्रदायिकता को आधारिक स्तर पर पहुंचाने के उनके कुटिल कार्यों से यही साबित होता है कि उन्होंने जानबूझकर अपनी सत्ता को निष्कंटक रखने के लिए इस समन्वित संस्कृति की जड़ों में विष घोल दिया।

धर्म, संस्कृति का एक अवयव मात्र लेकिन उन्होंने धर्म को संस्कृति के पर्यायवाची के रूप में प्रस्तुत किया।

हिन्दू-मुस्लिम के बीच बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक जैसी संकल्पनाएं संस्थागत करने का प्रयास किया।

ब्रिटिश दमन से भयातुर मुस्लिम समुदाय में अवसरवादी राजनीति का उभार जिसे उभारा सर सैय्यद खान ने। उन्होंने आधुनिकता लाने का प्रयास तो किया लेकिन औपनिवेशिक सत्ता के साथ जुड़कर साम्प्रदायिकता के सुनम्य चरण की नींव डाल दी। आगे चलकर मोहम्मद अली जिन्ना ने दूसरी पृष्ठभूमि पर दो-राष्ट्र के सिद्धांत की घोषणा की।

इसी द्वि-राष्ट्र के साकारीकरण के लिए साम्प्रदायिक खून-खराबे की वीभत्स अभिव्यक्ति सीधी कार्यवाही के रूप में जो आखली एवं कलकत्ता की सड़कों पर दृष्टिगत हुई।

जिन्ना की इस साम्प्रदायिक राजनीति को सहारा दिया तथाकथित हिन्दू हितों के पैरोकार सावरकर जैसे लोगों ने। इनकी बहिष्करण पर आधारित राष्ट्रवाद की संकीर्ण व्याख्या– सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने भारतीय समाज में भय एवं अलगाव को हवा दी।

इन लोगों की इस धारणा ने, कि वे ही लोग भारतीय होंगे जिनकी जन्मभूमि एवं तीर्थस्थल इस राष्ट्र के भीतर ही हो।

इस प्रकार घृणा घृणा पर पनप कर साम्प्रदायिकता की वीभत्सता को बढ़ाता गया और जिसकी परिणति एक त्रासदी के रूप में भारत को विभाजन के रूप में हुयी।

स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को आधार देने वाले कारक–

औपनिवेशिक अन्याय के खिलाफ प्रतिरोष का गांधीवादी सत्याग्रह पर आधारित नवीन विकल्प एवं राष्ट्र-राज्य का पश्चिम के संकीर्ण एवं बहिष्कर आधारित संस्करण के बजाय भारत के समावेशी एवं व्यापक राष्ट-राज्य के संस्करण ने संपूर्ण विश्व को नवीन प्रेरणा दी।

राष्ट्र निर्माण का पश्चिमी संस्करण (मॉडल) इसके संकीर्ण आधार के रूप में

1. सीमित भौगोलिक आकार एवं;
2. सांस्कृतिक एकरूपता

इन्हीं आधारों को एकमात्र एवं निरपेक्ष सत्य मानकर जॉन स्ट्रेची से लेकर विंस्टन चर्चिल तक ब्रिटिश लोगों ने भारत के एक राष्ट्र के दावे को आधारहीन कहकर खारिज किया।

जेम्स मिल ने अपनी रचना The History of Britism India' में न केवल भारतीय संस्कृति की पूर्वाग्रह पर आधारित कटु निंदा की बल्कि इतिहास के कालखंडों का साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन कर साम्प्रदायिक को संस्थागत करने का सोचा-समझा प्रयास किया।

भारतीय संस्कृति की इसी विकृत व्याख्या का रचनात्मक ढंग से जवाब दिया भावी पंथ निरपेक्ष भारत के एक निर्माता के रूप में उभरे जवाहर लाल नेहरू ने 'भारत एक खोज' लिखकर। जिसमें उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया कि भारत की सुदीर्घ एवं जीवंत सांस्कृतिक पृष्ठभूमि रही है। यहां वैचारिक उदारता एवं लोकतंत्र के बीज तत्व तथा राजत्व के सिद्धांत के आधार भारत की वैदिक संस्कृति में आरेखित किए जा सकते हैं।

इसी उदार पृष्ठभूमि के कारण जब स्वतंत्र भारत में राजभाषा का विषय उभरा तो एक ओर भाषायी पंथनिरपेक्षता के आधार पर 8वीं अनुसूची घोषित की गयी जिसमें आज 22 भाषाओं को जगह दी गई है। वही सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को उनकी भाषा, लिपि के संरक्षण के प्रयासों को मौलिक अधिकारों के रूप में स्वीकार किया गया।

देवनागरी लिपि में हिन्दी भाषा को राजभाषा के रूप में अपनाने का निर्णय लिया गया लेकिन अंग्रेजी को अस्थायी रूप से सह-राजभाषा के रूप में स्वीकार कर मध्यम मार्ग का परिचय दिया। जिसने भाषा के आधार पर विभाजनकारी तत्वों का शमन किया गया। भाषायी आधार पर राज्यों का गठन कर क्षेत्रीय सांस्कृतिक अस्मिता को स्वीकार कर भारत की एकता को सच्चे अर्थों में विविधता में एकता की अनुगूंज को प्रबलित किया।

धार्मिक पंथनिरपेक्षता के रूप में धार्मिक स्वतंत्रता, पंथनिरपेक्षता को संविधान के दर्शन उद्देशिका में जगह एवं सामाजिक संस्कृति के संवर्धन को मौलिक कर्तव्य में रूप में घोषित करना भारत की उदार सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अभिव्यक्ति है।

वर्तमान में विभिन्न राज्यों में भाषायी अल्पसंख्यकों की उनकी भाषा एवं संस्कृति को राज्य सरकारों से संरक्षण की मांग, अपेक्षित सामाजिक-आर्थिक विकास का अभाव, पृथकता एवं घृणा पर आधारित चुनावी राजनीति आज राष्ट्रवाद के समक्ष एक चुनौती प्रस्तुत कर रही हैं।

भारतीय संस्कृति की उदार पृष्ठभूमि को आत्मसात कर प्रत्येक समुदाय के लिए अवसर की समता सृजित कर ही भारत अल्पसंख्यकों के बीच विश्वास पैदा कर एक समन्वित एवं सुदृढ़ भारत को गव्यात्मकता दी जा सकती है।

शोधार्थी,
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास - उपिन्दर सिंह, Pearson, 2017, ISBN 978-81-81-317-7479-8
2. प्रारंभिक भारत का परिचय - रामशरण शर्मा, ओरियंट ब्लैक स्वॉन, ISBN-978-81-250-2651-8
3. मध्यकालीन भारत, भाग 1, 2-संपादक-हरीशचन्द्र वर्मा, हि.मा.का.नि. दिल्ली विश्वविद्यालय, 28वां पुनर्मुद्रण : जनरी 2017, ISBN-978-93-80172-10-1
4. Influence of Islam on Indian Culture - Tarachand, Publisher Read Books (12Nov. 2006) ISBN-10 1406730408, ISBN-13 978-1406730401
5. आधुनिक भारत का इतिहास - संपादक रामलखन शुक्ल, हि.मा.का.नि. दिल्ली विश्वविद्यालय, ISBN-978-93-80172-28-6, 24वां पुनर्मुद्रण : 2015
6. आधुनिक भारत का इतिहास - विपिनचन्द्र, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, पुनर्मुद्रित-2016, ISBN-97881 25036814
7. पलासी से विभाजन तक और उसके बाद आधुनिक भारत का इतिहास - शेखर बंद्योपाध्याय, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, पुनर्मुद्रित-2017, ISBN-978-81250 58502 8-6-752 हियत नगर, हैदराबाद, तैलंगाना-500029
8. Makers of Modern India - Ram Chandra Guha, Penguin Books, Published in 2012, ISBN-978-0-143-41924-2
9. India's Founding Movement ; The Constitution of a most surprising democracy, Madhav Khosla, Harward University Press, Published 2.4.2020, ISBN-10-674247981, ISBN-18-978-0674247987
10. The Discovery of India - Jawaharlal Nehru, Edition-reprint, revised, Publisher : Penguin Books, 2004, ISBN-0143031031, 9780143031031

Research Paper

Settlement Problem

Dr. Kumar Pratiyogi Kamlesh

Rural settlement or villages are suffering from numerous types of problem towards which very recently for has paid its attraction to improve then one of the major problem is that most of the people are without house. They live on our land holding.

The appearance both external as well as internal a rural house are clearly the result of their particular size, shape, function and the structural materials used in erecting the roof and walls. As reported in Housing and Establishment, Census of India, 1961, Vol. Pat. IV. A on page 346[1] that "more often than not an infallible index to a person's economic condition is the kind of house be dwells in is the basic and most important factor determining the house types. In the study areas rural houses are of various types and function. Only the rich well to do people have good house with modern amenities and sanitary fittings. They are built and designed by technical experts with materials obtained from inter regional markets. The houses of ex Zamindars such as Pawai, Siris, Kutumba, Chandargarh, Ram Nagar and in many villages of the district, are quite large, strongly built and richly endowed with all types of facilities. On the other hand houses owned by the poorest section of the society are made of cheap and local materials. Their most of the houses are mud walled and straw thatched. Few are made of grasses, leaves of Palm trees, brancheees of trees and other local materrrials. "The houses of the middle clllass peasants, workers and businessmen are the bessst and most faithful index to the physical, economic annnd social aspects of regional geography". Middle class people live in houses made of mud wall and tilled roof sometimes with burnt brick walls and thatched.

On the basis of field work & personal observation, research scholar has come to the conclusion that rural houses of the district are mainly of three types.

(1) The lowest economic class owned by scheduled caste people in villages are rudimentary type which is multifunctional is which peasants keep every things under one roof. These houses are mainly thatched by straw and built of mud walls. The planty and scarcity of strew depends upon the extant of paddy cultivation which in turn in dependent upon rainfall and climate. We find variation in the building materials of these one roomed houses. These houses in northern paddy growing areas of Haspura, Daudnagar, Obra, Goh are mainly thatched by straw while in southern parts of Deo, Madanpura, Katumba they are roofed by other flimsy materials like grass, leaves, branches of trees etc. There are mainly one block and one roomed structure. The poor women work and live on equal footing with men. The sense of privary so maintained in higher caste people is not known to them.

(2) The second category of houses belong to

landed class people and well to-do function class people. They are most numerous and are representative of rural houses types of the region. In almost all middle class people formers of big villages own this type of house in which we rind one house for their male member, another for female members and a separate house for livestocks. These houses are built of bricks, cement, iron and other costly materials but most of middle class people have brick walled and tiled roof houses. It is the common type of houses in almost all villages of the district. These houses are locally called "chaukita" that is four sided houses. Houses are built on four sides of rectangular plot enclosing a rectangular piece of land called "Angan". Angan is actually the product of climatic condition as well as the social practices of the region. In summar and rainy seasons when the ill ventilated rooms and verandah become for hot and stuffy, the angan provides relatively open and airy space for sleeping". Angan is much more than a house for female members. It is the place for indoor works by females. It is also an indoor place of assembly reception and pasttime, a place of marriage and other religious, social functions of middle class people.

(3) The third category of houses are of ex-Zamindars, money lenders, business class, and the richest persons of village. These "houses are generally larger, roomier, stronger in build and better finished". These houses are monofunctional. They are mostly built of imported extra regional materials.

Ethnic factors also affect the types of rural houses. The average houses of non S.C. people in the district is better built and having more rooms. Because they are landed people economically rich so their houses are also more comodious. The houses of =Muslims are easily distinguished from the rest of the lot because these houses have some distinctive marks of religious faith in those houses. Thus we see that though houses differ in detail from one village to another, there are certain common features and characteristics of all houses in the region.

Generally there is absence of windows in the the rural houses of the region. Few well-to-do people maintained their houses and keep provisions for parlours, windows and tatrines. The boundary walls of some of the houses are covered with thatch. Their houses are maintained by repairing and white washing every alternate year. But generally all the rural houses are ill ventilated, and rooms are partially dark even during day time. This problem is obnly in Chaukita houses of the middleclass people. In the houses of S.C. and other poor man we do not find this problem of ventilation because their houses one or two in mnumber open to open field. This "the absence of windows is not of much importances in the houses of the lower caste people, for the men lives out in the open and for the women there is a certain amount of ventilation through the tnatched or tiled roof or through the walls.

Variation in house plan is mainly controlled by the economic condition of the farmer. Well-to-do farmers generally have three block houses. ne of the three is the main block and it is called "Zenane Kita". The second block separately built if called "Baitheka" or "Dura". The third block is mainly for livestocks called "Gosala". Small farmers use their fromt varandah as baitheka and another verandah for cowshed. Non chaukita houses belong to the poorest people. They have one roomed house made of mud walls and thatched roof. Recently government is constructing houses for poor people providing then two roomed houses brick built and cemented. The concrete and asbestos roof is being provided.

Thus the rural skyling is remarkably low and uniform. Variation in the sky line is minor and mostly found in large villages of different social groups people. They sky line touches the lowest level in the areas of S.C. people.

Spatial Distribution of Rural Houses :

Rural houses are distributed in all the anchals of the district in an uneven way. The following Table shows their anchal-wise distribution pattern.

Table

Anchals	No. of House holds	% of the total household	No. of reoccupied residential houses	% of the total occupied houses in the Dist.
Aurangabad	11379	6.8	10325	7.1
Deo	13375	8.0	11231	7.7
Kutumba	16171	9.6	13669	9.4
Nabinagar	20343	12.4	17616	12.1
Barun	13872	8.3	12203	8.4
Obra	16545	9.+9	14188	9.7
Daudnagar	12193	7.+3	10362	7.1
Haspura	12408	7.+4	10561	7.2
Goh	16637	9.+9	14400	9.9
Rafiganj	20260	12.+1	17235	11.8
Madanpur	15906	9.+5	13449	9.2
Total of the district	**166489**		**145239**	

The table generally reveals the fact that houses in different anchals are distributed evenly. In almost all the anchals of the district we find more or less smae percentage of houses. The data regarding structural conditions of each houses in the study area is not available hence the author is handicapped to find out exact percentage of houses of different types in different anchals.

Problem of Food, Cloth and Shelter :

In an agricultural area like Aurangabad ordered the prowing number of population has created the problem of food, cloth and shelter. The annual growth rate of population in the region is 2.3 percent but the growth of agricultural production has been less than 2 percent per annum. Although, the production of foodgrains has increased, but the per capita availibility is not high. Malnutrition and under mutrition are the associated phenomena of food problem. Even the food grains produced are not distributed properly and only a few percent of people control the distribution of food produced.

Although, Indian need only a little cloth due to tropical climate, but this small amount is also not available to the inhabitants of A'Bad District. The average availability of cloth in India was 11.5 metres in 1981. In the region not only scheduled caste people backward classes are half fed and half clothed. During winter the clothing problem becomes more acute and a number of death due to exposure of cold is reperted every year.

The number of residential houses is not increasing at par with the increase of population. The problem of shelter has led to the development of slum in the village. Even in rural areas the ratio between number of available residential houses and number of house holds in increasing. In rural areas the occupancy rate is 8 persons per room on an average. The condition of the houses is not good and they are in sufficient in number to provide shelter to the inhabitants.

Problems of Settlement

(1) **Lack of amenities :** The following tables (No.1) shows the anchalwise distribution of villages according to the availability of different amentities in the study area.

Tranportation :

From the table it is clear that only 11.95% villages of the study area were linked by roads. Now with the new development, their percentage has increased to 20%. Still 80% villages of the district are without approach roads. Most of the villages are still not accessible during rainy season. Among anchals, Haspura Anchal with

29.58% of villages having the emenities of Pucca road, tops the list followed by Barun and Daudnagar anchals with 19.39 and 16.95% respectively. Rafiganj and Nabinagar anchals have lowest number of villages having this facility. There is need to develop villages roads in the district as a whole but more in southern anchals of the district as the development of villages entirely depends upon the development of roads. With its development rural people come directly in contact with urban people and are able to procure urban facilitities, and to get fair price of their agricultural crops. In this their ruralities attitude gradually changes. The continued growth of roads and other routes of transportation produce remarkable.

Table-1

Name of Anchal	No. of Villages	Edu-cation	Percentage of villages having amenities of						
			Medical Drinking	Water	Post	Market	Comm-unication	Road	Electric
Aurangabad	153	54.25	8.50	100	9.80	0.05	11.11	11.11	41.83
Deo	114	53.51	6.14	100	15.79	6.14	8.77	11.40	21.56
Kutumba	216	54.17	6.02	100	8.33	4.17	5.09	12.50	60.65
Nabinagar	317	47.95	4.73	100	8.73	4.10	7.57	8.52	63.41
Barun	181	52.49	5.52	100	7.73	4.42	15.47	19.34	60.22
Obra	144	65.97	7.64	100	13.89	2.78	11.81	11.11	38.19
Daudnagar	59	86.44	28.81	100	25.42	3.39	16.95	16.95	30.51
Haspura	71	88.73	71.83	100	16.90	7.04	26.76	29.58	30.99
Goh	162	65.43	8.64	100	14.81	3.09	11.11	11.11	45.68
Rafiganj	211	58.77	8.53	100	12.32	4.27	6.16	5.21	41.71
Madanpur	121	65.29	12.40	100	14.05	4.13	10.74	11.57	57.07
Dist. Total	1749	58.66	10.52	100	11.84	3.89	10.29	11.95	49.11

Effects on the rural economy and settlement. It increases the number and sizes of settlement. The village morphoogy completely change. Small villages expand along roads. Hence the development of road in inaccessible areas is the prime need of the area. Kacha roads need being metalled. Pucca roads are needed for easy movement of people and proper economic transaction.

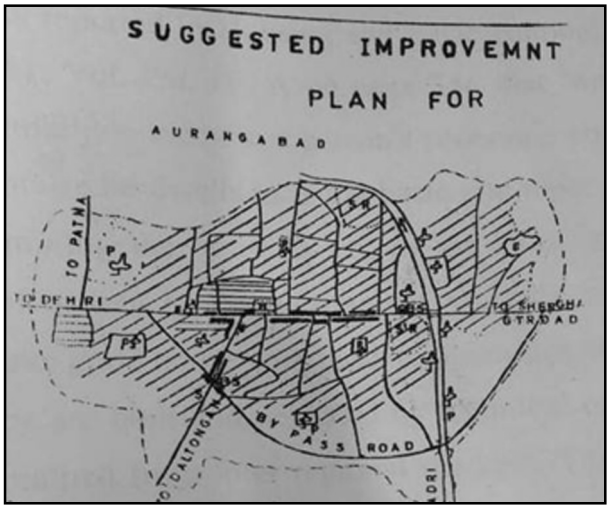

Fig. (1)

The problem reagarding medical amenities is also not well. From the table we may say that only 10% villages have this facility. This facility varies from anchal to anchal. Again Haspura Anchal tops the list as regards this facility is concerned. 71.83% villages have got this facility. It is only because of the fact that villages of this anchal are compact-large and dense hence almost all big villages are provided with this facility. Nabinagar, Barun and Obra anchals have lowest percentage of villages with this facility. This problem directly or indirectly affect the settlement. Though there are few health centre developed by government of the state, there is general lack of qualified doctors in most of the villages. Most of the rural health centres remain closed due to non-availability of doctors. The para medical staff distribute medicine for common diseases. In critical cases the villagers have to go to subdivisional towns and one can imagine the hardship for going at night at the time of emergency. So its urges the need to run the health centres in its full capacity.

Education plays important roles in the development of rural areas. It is prones the socio-cultural environment in a village. It indirectly affect the cohesiveness of the settlement. 58% villages have this facility either in the form of Primary School of Middle School. Remaining people have to trend a lot for getting this facility. The need of the hour is to provides all villages with this facility so that their children and adults may come in contact with the changing invironment of the world. Adult education centres are urgently needed.

It may thus be said that there are spatial differences in the spetial distribution of those social facilities within the study area. The availability of educational facilities is very high near towns of Aurangabad, Daudnagar and Haspura. Anchals lying in southern part namely Nabinagar, Kutumba report a dearth of this facility. Again these Anchals as regards medical care also rank last.

Summarizing the spatial distribution and availability of social amenities, it may be obviously remarked that inequality persists. The policy of regional allocation of social ammention has overlooked the concept of social equality. The regional investment in social resources has been concentrated in northern irrigated belt of the district. Social reqources in village of the southern anchal show obvoius lack. Though it may be due to differeing capabilities of people occupying anchals of the south that the inaquality has resulted. For example the S.C. people are more in Rafiganj, Goh, Kutumba anchals which are economically depressed segment of the community but they are in maximum need of these facilities. Hence further development of social services must be oriented towards Harijan villages of the study area.

Thus it seems that it is partly the social structure and partly the resource orientation which have given rise to inequality. The urban dominance of social amenities could be balanced under current movements of integrated rural development scheme.

Government efforts to improve the condition of settlement

1. Problem of Settlement House

A secure shelter is the most basic need of human life. One cannot even conceive of sustaining life without appropriate shelter. The need for a proper household which can protect the human life from the vagaries of nature and threat to safety falis within the realm of natural rights. It is a right so fundamental that it preceeds even the emergence of society. It is the very first thing which a living being required. Not only humans, even animals require a secure shelter for their survival. Ordinarily, therefore, such a requirement should not depends upon and authority to provide or sanction. Every human being should have the freedom and the ability to obtain it. Yet, we have today a situation in our country where a large number of people do not have a shelter at all, and many of these who do have semblance of shelter, have no secure right over it. It is, therefore, evident that societal evolution and state formulation progressively circumscribed human freedom to arrange for a secure shelter. That is why, this natural right has to be articulated in terms of legal right in order to force society to recognize this elementary need for dignified human existence and obligate the state to make provisions for it.

There are various dimensions of houselessness in

rural India. These are related to access to homestead land, ownership/tenurial status, type of structure and dwelling, population growth, congestion and overcrowding, etc. Talking into account, the various dimensions of houseless people in rural areas can be classified into five categories. (i) The first category consists of people who have neither a house of their own nor access to land which they can use for construction a house. Such people are usually compelled by circumstances to live with either a relative or an empoyer or at public places such as temples. (ii) The second category is of people who have constructed a house on land over which they do not have secure ownership rights. The land belongs to the empoyer or some other landowner, and therefore, the occupants are always facing the risk of eviction. (iii) The third category of people includes those who, being landless, have constructed a house on government land or on land belonging to some other public agency, such as the forest department, irrigation department of Panchayat. They do not have any right over these land or any authorization to construct a house over it, and therefore, are always at the risk of eviction. (iv) The fourth category consists of people who have land of their own and have also constructed a small house over it, but, as the family has grown further, the house is too small to accommodate adult daughters and adult/married sons. They do not have resources to acquire additional land, and therefore, can neither construct a separate house nor make the present house large enough to accommodate the additional members. (v) The fifth category is of people who have a kutcha (thatched) house built on a small piece of land over which they have secure rights, but have no resources to build a proper house. In order to formulate appropriate inteventions for ensuring the right to housing in rural areas, it is important to understand and extimate the magniturde of the challenges posed by the shortage of rural housing taking into account these various dimensions.

2. Homelessness in Post-Colonial India

The problem of insecure homestead tenancies is not confined to shelters existing on raiyati land. It extends to shelters constructed on govermment/public land. The latter problem emerged largely after independence with the abolition of intermediary tenures. The vacant lands under control of Zamindars and lands falling outside the area deciared as "personal cultivation" by him were taken by the government. Therefore, the shelter existing on such land also become insecure since there was no documentary proff of land having been lease/settled by the zamindars. Vacant government land, therefore, was the only space available to the rural homeless to meet their pressing needs of shelter. But occupation of government land whether for construction of a shelter or for cultivation in the absence of a valid settlement is considered as "encroachment" under the existing laws and regulations and hence, the occupants are liable to be evicted similarily. State government have, however, made published estimate from the 59th round of the land livestock survery,s[2] only 10.04 percent households in India and 7.60 percent housholds in Bihar did not own any land including homestead. But primary data based studies from most states report a much higher level of landlessness. Also, NSS surveys themselves report a much higher level of landlessness (of the order of about 40 percent) in terms of operational holdings. Such a large level of discrepancy between landlessness in terms of ownership holdings and landlessness in terms of operational holdings cannot be explained by the extent of tenancy (Vikas Rawat, 2008).[3]

The estimates show that in 2003-04 about 41.60 percent of households in rural India and 38.80 percent housholds in rural Bihar did not own any land other than homestead, and 10.40 percent in rural India and 7.60 percent in rural Bihar did not own even homestead land. About 31.10 percent of households in rural India and 31.01 percent in rural Bihar did not own any land other than homestead and did not do any cultivation on their homestead. But it is difficult to believe that while the incidence of rural housing shortage, even according to the most eonservative estimate of the Census of India 2001, is the highest in Bihar, the incidence of landlessness in rural Bihar is lower than the all-India average.

The mahadalit Commission set up by the

Government of Bihar in 2007 has assigned to the Revenue and Land Reforms Department of responsibility to identify Mahadalit famlies without house-sites in the entire state and provide them access to homestead land. As part of this programme, a survey of 10,369 villages was conducted during a span of one and a half years. The survey focused on (a) identifying Mahadalit families without house-sites and with house-sites of their own, and (b) identifying suitable land, government or private raiyati land, which could be allotted to house-site less Mahadalit families. About 17 percent of the Mahadalit families surveyed were found to be without house-sites of their own. The outcome of survey is given in Table-1.

Table - 1
Outcome of Mahadalit Survey. [4]

1.	Total No. of villages surveyed	10,380
2.	Total No. of Mahadalit families identified	10,60,029
3.	Total No. of Mahadalit families with house sites	8,81,13
4.	Total No. of house-site less Mahadalit families	1,78,896
5.	Total area of raiyati land identified which could be allotted as house-sites	4,374,58 acres
6.	Total No. of families to whom raiyati land for house-site to be allotted	1,06,074
7.	Per family average area to be covered by raiyati land	4.10 decmial
8.	Approximate cost on acquisition of raiyati lands (Rs. in Lakh)	75,705.39
9.	Total area of government land identified against which house-sites are to be allotted	4,055,99 acres
10.	Total No. of familites to whom government land is to be allotted for house-site	
11.	Per family average area to be covered by the Government land	5,61 decimals
12.	Per family average area of total land identified (Raiyati+Govt. land)	5.58 decimals

After the Survey, the government decided to improve a ceiling of 3 decimals per family for allotment of house-sites in other to maximize the benefit with available land and financial resources. For acquiring land, it also shifted its policy from land acquisition to land purchase with regard to raiyati land. Since land purchase from individual landowners has been envisaged as the major source for allocating house-sites, the government has also delineated the principles and modalities for acquiring land through purchase.

PLANING PROPOSALS

The government has proposed to follow a cluster approach for allotment of house-sites to Mahadalit families. Accordingly, the proposed house-sites have been classified into two categories-cluster house-site and isolated house-sites. A cluster has been defined as a habitat with 30 or more number of families. The details of cluster formation that have come out from the survey are given in forth coming pages.

Isolated house-sites are habitations comprising families numbering 1 to 30 which may be locationally scattered. No cluster could be formed due to non-availability of families in requisite numbers as well as non-availability or inadequate availability of government and private land.

In case of isolated house-sites, a maximum of 3 decimals of land is to be settled with a given house-siteless family. For habitations constituting a cluster, the average per family land size will be lesser than 3 decimals and the balance land sliced out will be polled to provide common facilities and planting of nutritional fruit-bearing trees to be used by the cluster families as a group. The common facilities may include an Anganwadi Centre, community centre or even a school, whichever is not per-existing.

The discussion above shows that there are laws, policies and regulations already existing in Bihar, which provide for granting legal rights to homestead land of various type as well as acquisition/purchase and distribution of house-sites by the government to those without access to land. More over, the Eleventh Five Year Plan of

the Government of India has also recommended implementation of simialr provisions in order to realize to goal of ensuring right to housing in rural area. The Govt. of India has accordingly proposed to include in its Indira Awas Yojana Scheme a provision for allotting house-sites to those without access to land. All this raises the hope that the problem of rural houselessness in Bihar can adequately be addressed if these already existing laws, policies and regulations are implemented effectively.

Ownership of Homestead Land in Rural Bihar :

Deshkal society conducted a programme in 361 villages of A'Bad district of Bihar for facilitating the process of realizing the ownership right to homestead land for Dalit households. When Deshkal society started its effort, it was, first of all, confronted with the problem of having information about house-holds that do not possess ownership rights over the homestead land on which they have been residing. This was a basic requirement for proceeding further. However, there was complete lack of data and information on such housholds. There were two options to find out from the land and revenue records of the government at Block and District levels, or to conduct a primary houshold survey in the target villages. When the Circle officers of the Blocks were approached, they denied having any records or data of households not having legal entitlement to their homestead land. After making round of the district offices including the Collector's office we were told that in A'Bad District as a whole only 346 households did not have legal entitlement to their homestead land. This was the least data available with the government for the period upto March, 2006.

The problem of homelessness has grown enormously over the years due to several factors such as floods, isunamies, soil erosion etc. which destroy people's existing habitats and displace them. The most acute cases of homelessness arising from natural calamities are in Bihar and Assam where a large number of villages are affected by changes in the courses of the major rivers. The number of households rendered homeless runs into lakhs.

The second major cause for homelessness is the phenomena of development induced displacement which arises out of compulsory acquisition of land for public purposes by the government. The third problem is also exacerbated by manmade calamities such as communal riot, caste atrocities, ethnic cleansing or other internal conflicts. The victims are forced to move out of the area for their physical safety and occupy whatever vacant government space is available.

Concerned with the problem of housing for the rural poor, various government agencies and departments have tried to assess the shortage of rural housing by taking into account its different demensions. As described below, although these assessments vary widely from each other, they all point towards the magnitude of the problem.

On the request of the Ministry of Rural Development, the RGI in 2005 assessed rural housing shortage. Based on the data from Census 2001, the housing shortage was estimated to be 148.33 lakhs. State-wise data shows that Bihar as the highest incidence of rural housing shortage (42.10 lakhs) in the country. Also the magnitude of the shortage in nearly double of that in the state ranked second, and triple of that is states ranked third and fourth.

The Ministry of Rural Development has also assessed the annual incremental increase in demand for rural housing at around 9 lakh houses. This has been done on the basis of the housing shortage of 137 lakhs as per the 1991 Census, the housing shortage of 148.33 lakhs as per the 2001 Census, and the 65 lakh houses that were constructed under IAY from 1991-2001. Therefore, the increase in housing shortage was around 76 lakhs during this period of ten years, amounting to an average increase of 7.60 lakh houses per year.

It was hard to believe that A'Bad District, which has a total population of approximately 3.60 million people with a Dalit population of approximately 1 million (Census of India, 20010 had only 346 households were those which had actually submitted applications to the government for securing legal rights over their homestead land, and were awaiting action by the government in this regard. It was found that there was no mechanism to collect and compile data and records of the actual number of households which

needed to be granted legal rights over homestead land as per the law.

The survey further revealed that a majority of the marginalized community households (17,224 out of 19,081households) had been residing for more than 20 years on the homestead land over which they still did not possess legal ownership rights. Many of these housholds were unable to count the numbers of years as they had been residing on the land since many generations.

The survey clearly revealed the magnitude of the problem, it was pathetic to know that such a large number of landless rural households in Bihar have been denied their legal right of ownership of homestead land although laws and policies in this regard have been existing since long. The survey also revealed that without taking into account the issue of legal ownership of homestead land, the assessments of rural housing shortage can not accurately estimate the magnitude of the problem.

Geography, Nawada (Bihar)

References:

1. Census of India, 1961, Vol. Pat. IV. A on page 346.
2. 59th round of the land livestock survery of India.
3. Explained by the extent of tenancy Vikas Rawat, 2008.
4. Mahadalit Survey by Govt. in 2007.

Research Paper

Pankaj Kumar Bharti

Political Dimension of International Relation in Ancient India

Abstract:

This paper reveals that India has a proud tradition of diplomacy, the agency for implementing extroversive interests of a State, since ancient times, barring a few gaps in the vast sweep of time.

Introduction:

Vedas, Smritis, Upanishads, Puranas and commentaries by scholars on Hindu jurisprudence constitute principal sources of ancient Indian thought on State, society, law and philosophy. There might be some dispute about how old these ancient writings are, but *Vedas* evolved out of the intuitive thoughts of ancient *rishis* (wise seers), certainly much before 2000 years B.C., *Smritis* and *Upanishads* before Buddha, about whose birth and teachings in 6th century B.C., there is no dispute. *Smritis* are divided into *Sutras* and *Dharma Shastras*. *Dharma Shastra*, also known as *Manu Smriti* enjoys unquestionable precedence in Indian philosophical and legal thought, inter-state relations and diplomacy.

Commenting on different roles of authorities in a State, Manu stated, "*Let the king appoint an Ambassador; the army depends on its Commander; control of subjects (depends) on the army; the Government of the kingdom on the King; peace and war on the Ambassador*".

Vedic literature and *Smritis* have treated the State as an individual sovereign unit and also as a component unit of a circle of States called *Raj Mandala*, to control and regulate relations among them. The protection and promotion of political, military and economic interests of a State rested on five constituent elements; the Ministers, the kingdom, the fortress, the treasury and the army.

Manu had advanced concepts like befriending the enemy of a hostile neighbor, neutrality, mediation etc. now universally accepted. Commenting on the importance of Ambassadors, Manu states, "*The King has to be careful about the details given by the Ambassador, the whole range of inter-state relations and the existence of the State depends on the efficacy of the Ambassadors*."

According to him, a high degree of intellectual equipment was necessary for an Ambassador; and in selecting people for diplomatic missions, one must choose persons who are "*loyal, honest, skillful, possessing good memory, fearless and eloqu*ent". Writings of these and later times emphasized these qualities and added that an envoy must be sweet voiced, persuasive, industrious, well-versed in sciences and possessed of faculty of reading others' thoughts and feelings from their behavior and appearance etc.

Ramayana and Mahabharata

The well-known Hindu epics *Ramayana* and *Mahabharata* (of which *Bhagawad-Gita* is a component) which had origins earlier than Buddha paid great attention to the institution of diplomacy and envoys and their functions. They contain numerous references to the use of diplomatic agents in trying to peacefully settle disputes; for example,

In *Ramayana*, before the declaration of war between the forces of Rama, the Aryan King and Ravana, the Demon King, Hanuman was sent as a diplomatic messenger to persuade Ravana to return Rama's wife Sita whom Ravana had abducted. The mission failed, but when Ravana sentenced Hanuman to death and ordered his execution, Ravana's younger brother Vibhishana pleaded that the order be revoked, since according to the law in force, it was not permissible to kill envoys and messengers. The sentence of death was reduced to a lesser punishment.

Before the final declaration of war between Rama and Ravana, another effort was made through Angada who was sent as a diplomatic messenger.

In *Mahabharata* also, Lord Krishna was sent on a diplomatic mission on behalf of Pandavas to the Court of Duryodhana to avoid the wholesale war between the two princely families. When an attempt was made by Duryodhana's supporters to assault envoy Krishna, it was emphatically and successfully argued that the person of the *Duta* (diplomatic messenger) was inviolable and therefore could not be assaulted or punished. A diplomat had to be treated with high dignity and respect.

After the period covering the Vedic and epic literature, a variety of principles on International relations, diplomatic practices and methods, means of reconciliation and arbitration, principles of war were developed and perfected.

An interesting concept was the *Chakravarti Raja* (Universal Monarch) whose suzerainty or protection, after wars, if necessary, was acknowledged by surrounding kings. It is quite akin to the modern-day super-power rivalry, with their pacts, doctrines and areas of influence.

The knowledge and art of diplomacy like other knowledge and wisdom, which was considered sacred was imparted through the institution of an *Ashram* (a hostelry where the teacher and his disciples stayed together) and other institutions. The technique of imparting *Vidya* (knowledge) through the institution of *guru-sishya* parampara (teacher-student tradition) continues in India even now, in the field of music, dancing, painting and other areas.

Kautilya's Arthashastra

A significant document, recovered in the early years of this century (20th), is the *Arthashastra* (an exhaustive treatise and manual on statecraft and diplomacy). It is a prose work in 15 books authored by Kautilya, also known as Chanakya and Vishnu Gupta, who was the principal counselor - adviser of Emperor Chandra Gupta Maurya and was composed around 300 B.C. It shows close acquaintance with the administrative and the diplomatic methods of Hellenistic States, particularly in Syria and Egypt and is a distilled quintessence of various schools on this subject which then existed in India. The institution of diplomatic envoys is dealt in Book-I, Chapter XVI. Whether the diplomatic mission is *ad hoc* or permanent, the mission had to follow well accepted principles in inter-state relations. Adoption of appropriate 'diplomatic language' was considered important in dealings between rulers and kings. *Guda lekha* (code language) was adopted for diplomatic correspondence.

The classification of Ambassadors, his qualifications, status, immunity, duties, salary etc. are discussed in great details. A successful Adviser (Minister) was deemed suitable for the post of Ambassador, a practice followed by many nations now for important Missions. Of course, there was no paraphernalia like Minister/Counselor, First Secretary

etc. and the Missions may not have been of permanent duration in all States.

The envoys had the following four classifications (similar to those adopted at the Vienna Congress of 1815 etc.):

(a) *Duta* (Ambassador Extraordinary);

(b) *Nisrishtartha* (Minister Plenipotentiary);

(c) *Parimitarhah* (Charge d'Affaires); and

(d) *Sasanarhah* (Diplomatic Messenger / Special Envoy).

The grading of rank and status varied with the degree of responsibility entrusted in the diplomatic agent (as in modern times). Kautilya also deals with the methods and principles that are to be adopted by a diplomatic agent in fulfilling his mission. He categorizes the missions as *madhyama* (mediatory), *udasina* (neutral), *vijigishu* (conquering the king) and *ari* (enemy). He also gives detailed instructions on the institution of intelligence network and the role of spies, which was necessary for the maintenance of internal security and for efficient and successful conduct of foreign relations. The intelligence reports and those from envoys were double checked and analyzed.

There were women spies in the garb of wives, courtesans and even prostitutes, ascetics etc. Techniques for finding out the weakness of enemies and ways to exploit it (blackmail) were well delineated. Other measures included collection of information, dis-information, and if necessary use of force to eliminate enemies. The concept of *Raj Mandala* i.e. Inter-state relations was further elaborated and detailed strategies explained. The concept of treaty was widely practiced in inter-state relations.

Kautilya observes:

"One shall make an alliance with a king who is stronger than one's neighboring enemy; in the absence of such a king, one should ingratiate oneself with one's neighboring enemy, either by supplying money or army or by ceding a part of one's territory and keeping oneself aloof; for there can be no greater evil to kings than alliance with a king of considerable power, unless one is actually attacked by one's enemy."

"When the advantages derivable from peace and war are of equal character, one should prefer peace; for disadvantages such as loss of power and wealth, sojourning and sin are ever attending upon war."

"A king, who is situated between two powerful kings, shall seek protection from the stronger of the two or one of them on whom he can rely; or he may make peace with both of them on equal terms."

For the purpose of settlement of disputes, four methods were advocated, namely, *'sama', 'dana', 'bheda'*, and '*danda'*. *Sama* (conciliatory approach) should be the first step in tackling a dispute or problem, followed by appeasement (*dana*); when it failed then effort to create division and drive a wedge between the opponents (*bheda*) was prescribed. The use of force (*danda*) was to be employed as the last resort when all other methods had failed.

According to *Arthashastra*, the State should follow a six-fold policy with other States: (1) *Sandhi* (treaty of peace); (2) *Vigrah* (war); (3) *Asana* (neutrality) (4) *Yana* (marching) - presumably a threat; (5) *Samsrya* (alliance) and (6) *Dwidibhava* (making peace with one and end war with another).

The wealth of contribution by Kautilya to the science of diplomacy, statecraft, administration, management is stupendous and invaluable and deserves a greater attention and study in our days. It is clear that in ancient India, the concepts of statecraft and diplomacy was an organized discipline for advancing a nation's interests through peaceful means.

Conclusion:

During the Buddhist period and later, many rulers entrusted delicate and strategic missions to diplomatic agents for the security of the State and for the maintenance of friendly relations. During the reign of

Indian King Bindusara, Delmachos was sent as an Ambassador by King Antiochos of Syria and Dinyosius as an Ambassador by King Ptolmy of Egypt (298 BC - 273 BC). Emperor Ashoka (273 BC - 232 BC) established diplomatic relations with the Kings of Ceylon (Sri Lanka), Syria, Egypt, Macedon, Cyrene and other countries. During the 7th century AD, there were diplomatic relations between the Indian King Pulkesin II and Shah of Persia, Khosru Parwez. There is evidence of diplomatic relations between King Harasha Vardhana of India and the Imperial Court of China.

Department of Political Science,
Magadh University, Bodh Gaya

References:

1. For a critical appraisal of the state of the discipline in India and the problems plaguing it, see the several articles in the special issue of *International Studies*, 46 (1) & (2), 2009.
2. A.P. Rana and K.P. Misra, "Communicative Discourse and Community in International Relations Studies in India: A Critique," in Kanti Bajpai and Siddharth Mallavarapu (eds.), *International Relations in India: Bringing Theory Back Home,* Orient Longman, New Delhi, 2005, pp. 74-77; also see, Varun Sahni, "The Fallacies and Flaws of Area Studies in India," in *International Studies*, 46 (1) & (2), 2009, pp. 49-68.
3. Kanti Bajpai, "International Studies in India: Bringing Theory (Back) Home," in Kanti Bajpai and Siddharth Mallavarapu (eds.), *International Relations in India: Bringing Theory Back Home,* Orient Longman, New Delhi, 2005, p. 25.
4. Stanley Hoffmann, "An American Social Science: International Relations," in *Daedalus*, 106 (3), Summer 1977, p. 58.

शोध-पत्र

डॉ. ललन कुमार
पाण्डेय

गीता के अठारहवें अध्याय की पुष्पिका में प्रयुक्तमोक्षसंन्यासयोग की मीमांसा

श्रीमद्भगवदतगीता का अठारहवाँ अध्याय संपूर्ण गीता का सार है। यह हर अध्याय के सारतत्त्व रूप पूर्वरंगों की इन्द्रधनुषी छटा है जिसमें गीता के प्रतिपाद्य तत्व समासतः प्रतिभासित होते है। गीता में कुल अठारह अध्याय हैं। हर अध्याय के अंत में उसका विषय-निर्देशक वाक्य है, जिसे 'पुष्पिका' के रूप में जानते हैं। हर अध्याय की पुष्पिका में उसकी विषय-निर्देशक संज्ञा 'योग' पद से सम्पृक्त हैं।

गीता के प्रथम अध्याय का मुख्य विषय विषादयोग है। इसी प्रकार क्रमशः सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञान-विज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, देवासुरसम्पद्विभागयोग, ऋद्धात्रयविभागयोग तथा अंतिम इस अठारहवें अध्याय की पुष्पिका का संज्ञा है - ''मोक्षसंन्यासयोग।'' पुष्पिका इस प्रकार है- ''तत्सदिति श्रीमद्भगवदगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे मोक्षसंन्यासयोगे नामाष्टादशोअध्यायः।'' अर्थ इस प्रकार है-ऊँ, तत्, सत् - इस प्रकार ब्रह्मविद्या ओर योगशास्त्रमय उपनिषद् स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीता के श्रीकृष्णार्जुनसम्वाद में 'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अठारहवाँ अध्याय (पूर्ण) हुआ।

''गीता का अठारहवाँ अध्यायः एक अनुशीलन'' विषयक शोधकार्य पूर्ण कर लेने के पश्चात् मेरी इच्छा थी कि इसके विषय-प्रतिपादक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त ''मोक्ष संन्यासयोग'' पर स्वतंत्ररूप से एक मीमांसापरक शोधलेख भी लिखा जाए। सुदीर्घ व्यतिक्रम के पश्चात् आज प्राप्तावसर के लाभ का सौभाग्य मिला है। अपनी अपूर्णाभिलाषा के पूत्यर्थ इसे यहाँ उपन्यस्त किया जा रहा है। सर्वप्रथम हम इसके व्युत्पत्यात्मक विश्लेषण का प्रयास करते हैं -

'मोक्षसंन्यासयोग' का व्युत्पत्यात्मक विश्लेषण

शीर्षांकित संज्ञा के तीन अवयव हैं- (क) मोक्ष (ख) संन्यास और (ग) योग। यहाँ हम सर्वप्रथम 'मोक्ष' शब्द पर विवेचन प्रस्तुत करेंगे-

(क) मोक्ष

व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसमें भ्वादिगणीय, परस्मैपदी 'मोक्ष' धातु है, जिससे 'मोक्षति' आदि रूपरचना होती है। इसका अर्थ छोड़ना, स्वतंत्र करना, मुक्त करना अथवा मुक्ति देना होता है। यह धातु ढीला करना, खोलना, बिगाड़ना, बलपूर्वक छीनना, डालना, फेंकना, उछालना, ढलकाना आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होती है।[1] जब इस धातु में 'घ्' प्रत्यय का योग करते हैं, तब इसकी 'मोक्ष' संज्ञा निष्पन्न होती है। इससे मुक्ति, छुटकारा, बचाव, स्वतंत्रतादि अर्थ करनेवाली कालिदास की ये पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं - 'सा ऽ धुना तव बन्धो मोक्षे च प्रभवति'[2] 'लब्धामोक्षाः शुकादयः'[3] 'घुर्याणां च घुरो मोक्षम्'[4] इत्यादि। उद्धार, परित्रण, मोक्ष, आवागमन अर्थात् पुनर्जन्म के चक्कर से आत्मा की मुक्ति, मानव के चार उद्देश्यों में से अंतिम (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) है। इस अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए देख सकते हैं, कुछ पंक्तियाँ -

''यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।''[5]

****

''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।

बन्ध मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।''[6] (गीता - 18/30)

****

''स चतुर्थां बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।

धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवांगवान्।।''[7] (रघुवंश-10/84)

''अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।।''[8] (मनु0 - 6/36)

''ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

अनपाकृत्यं मोक्षं तु सेवमानों ब्रजत्यधः ।।''[9] (मनु - 6/35) इत्यादि।

'मोक्ष' शब्द का प्रयोग मृत्यु, अधः पतन, अवपतन या गिरना अर्थ में भी होता है, यथा- ''वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः।''[10] ढीला करना, खोलना, बंध नमुक्त करना आदि अर्थ में इसका यह उदाहरण भी द्रष्टव्य है- ''वेणीमोक्षोत्सुकानि।''[11] ढलकना अर्थ में भी इसका प्रयोग देखा जाता है।12जैसे वाष्पमोक्षः, अश्रुमोक्षः आदि। निशान लगाना, फेंकना, दागना अर्थ में ''बाणमोक्षः''[12] प्रयोग भी देखा जाता है।[13] इसके मेल से निर्मित कुछ प्रचलित समस्तपद द्रष्टव्य हैं, जैसे - मोक्षोपायः (मोक्ष प्राप्त करने के साधन), मोक्षदेवः (चीनी यात्री ह्वेनसांग के लिए प्रयुक्त विशेषण), मोक्षद्वारम् (सूर्य), मोक्षपुरी (काँची नगरी), मोक्षदा (मोक्ष देनेवाली), मोक्षार्थी (मोक्ष चाहनेवाला), मोक्षभूमिः (वाराणसी के लिए प्रयुक्त विशेषण) इत्यादि।

प्रसिद्ध कोशकार अमर सिंह ने अपने त्रिकाण्डकोश में इसका इस प्रकार निर्वचन किया है - 'मुच्यते सर्वकर्मेभ्यो अत्र 'घञ्।' वे 'मोक्ष' के अन्य सात पर्यायों का भी सनिर्वचन निर्देश करते हैं, यथा - 1. मुक्तिः (मोचनम्), 2. कैवलम् (केवलस्य भव, ष्ये), 3. निर्वाणम् (निर्वन्त्यत्रक्तः, नत्वम्), 4. श्रेयः (अतिशयेन प्रशस्यम्), 5. निःश्रेयसम् (नितरां श्रेयः), 6. अमृतम् (अविद्यमानं मृतम् मरणम् यत्र) और 7. अपवर्गः (अपवर्जनम् घञ्) इत्यादि।[14]

भारतीय दर्शन कहता है कि जीव अज्ञानता के कारण बार-बार जन्म लेता और मरता है। जब वह बार-बार जन्म लेने और मरने (जिसे आवागमन का चक्र भी कहते हैं) का कारण जानकर इस बंधन से मुक्त हो जाता है तो उसे मोक्ष कहते हैं। एक बार मोक्ष प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसे फिर से इस संसार में आकर जन्म लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आध्यात्मिक जन इसे इस प्रकार कहते हैं, जीव जिसका अंशी है, जीते-जी उसे जानकर, उसे स्वरूपतः प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है। मोक्ष पर उपनिषद्, शास्त्र, पुराणादि ग्रंथों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। हिन्दू, बौद्ध, जैनादि भारतीय दर्शनों में इस पर अनेक दृष्टियों से प्रभूत चर्चा हुई है।

हर आस्तिक जन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष होता है। ऐसा मानने की भारत में सनातन परंपरा रही है। मनुष्य जीवन के चार उद्देश्य (लक्ष्य) निर्धारित हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये पुरुषार्थ चतुष्ट्य कहलाते हैं, जो हर मनुष्य के लिए अनिवार्य है। शास्त्र के अनुसार अपने कर्तव्य कर्मों का किया जाना धर्म माना गया है। 'यतो निःश्रेयसो धर्मः' जिससे निःश्रेयस (मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है)। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में धर्म का स्थान प्रथम है। यानी शास्त्रनुसार जीवन पद्धति होगी तो अर्थ (धन), काम (इच्छा, मनोरथ, वासनाएँ) आदि सभी अनुशासित रहेंगे। इनके अनुशासन से ही अंतिम लक्ष्य निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो सकती है।

धर्मभ्रष्ट (अनुशासित जीवन को छोड़कर उच्छृंखल स्वेच्छाचारी) जीवन जीने से अर्थ और काम भी भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनके कारण मनुष्य मोक्ष से वंचित होकर चार खानों (अण्डज, पिण्डज, उद्भिज, ऊष्मज) एवं चौरासी लाख योनियों में बार-बार जन्म-मृत्यु का चक्कर काटता रहता है, कर्मानुसार नरकों की भयानक यातनाएँ भी भुगतता रहता है। इसलिए वेदांत पूर्ण आत्मज्ञान द्वारा माया-संबंध से रहित होकर अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूप का बोध प्राप्त कर लेने को मोक्ष कहता है। यानी समस्त दुःख, मोहादि का छूट जाना हीं मोक्ष है। मुमुक्षु 'तत्त्वमसि' से 'अहं ब्रह्मस्मि' की ओर बढ़ता है। इस प्रकार यहाँ आत्मसाक्षात्कार मोक्ष कहलाता है। यह श्रवण, मनन और निदिधयासन रूप तीन मानसिक क्रियाओं से संभव होता है। यह नानात्व रूपी अविद्या से ब्रह्म की प्राप्ति (आत्मसाक्षात्कार) रूप विद्या की प्राप्ति का प्रतीक है। वेदांत इसे जीवन्मुक्ति की स्थिति कहता है। ईश्वरवाद ईश्वर का सान्निध्य पा लेने को मोक्ष कहता है। लोकायत मोक्ष को अस्वीकार करता है, परंतु अन्य वाद संसार से मुक्ति को मोक्ष मानते हैं।

गीता के अनुसार जीवात्मा प्रकृति के कार्य शरीर-इन्द्रियाँ आदि के साथ संबंध जोड़ती है, उनको अपना मानती है, जिस कारण यह बँध जाती है। सत् - असत्, शुभ -

अशुभ योनियों में जन्म होने का कारण गुणों का संग हीं है।[15] सम्पूर्ण प्राणी क्षेत्र, शरीर और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के संयोग से ही पैदा होते हैं,[16] पर यह संयोग (संबंध) जोड़ना हीं बंधन है और संबंध न जोड़ना ही मोक्ष है। जैसे कपड़े पर धूल न लगे तो वह साफ ही है, बर्तन में आग और धुआँ न लगे तो वह स्वच्छ हीं है, मकान में कूड़ा-कर्कट न लगे, तो मकान साफ हीं है। ऐसे हीं यह जीवात्मा प्रकृति के साथ स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को न पकड़े, उनके साथ अपनापन न करे, उनको अपना न माने तो यह मुक्त ही है।[17]

मोक्ष (मुक्ति) पाँच प्रकार के कहे गए हैं -

(1) सालोक्य और (2) सार्ष्टि

प्रथम मोक्ष है 'सालोक्य' जो भगवत् - धाम में निवास करने को कहते हैं। वहाँ सुख-दु:ख से अतीत एक विशिष्ट आनंद की प्राप्ति होती है। दूसरे प्रकार का मोक्ष, उसके आगे का है, जो 'सार्ष्टि' नाम से जाना जाता है। 'सार्ष्टि' का अर्थ समान स्थान, दशा, पद या अधिकार रखनेवाला माना जाता है जबकि 'सालोक्य' (समानो लोको ऽ स्य) का अर्थ उसी (इष्ट) के स्वर्गादि लोक या संसार में दूसरे के साथ रहना है। यानि सार्ष्टि नामक मोक्ष में भक्त भगवद्यम में उनके समान ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाता है। संसार की उत्पत्ति करना, संहार करना आदि ऐश्वर्य को छोड़कर सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्यादि सभी ईश्वर के समान प्राप्त हो जाते हैं।

(3) सामीप्य

यह मोक्ष का तीसरा रूप है। 'सामीप्य' पड़ोस, निकटता[18], आसन्नता आदि के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। मोक्ष की इस अवस्था में भक्त भगवान के लोक में रहते हुए भी किसी-न-किसी प्रकार का संबंध लिये उनकी निकटता पाता है। यह सार्ष्टि से आगे का मोक्ष है। इससे आगे सारूप्य (सरूप + ष्य्) नामक मोक्ष माना जाता है।

(4) सारूप्य

रूप की समता, समानता, सादृश्य, सरूपता, मिलना-जुलनादि[19] अर्थों में यह शब्द लोकाधिष्ठित है। मोक्ष की दृष्टि से यह शब्द देव या इष्ट में लीनता अर्थ धारण करता है। मोक्ष की यह ऐसी स्थिति है जिसमें भक्त का स्वरूप भगवान के समान हो जाता है।

(5) सायुज्य

मोक्ष का पंचम यानी अंतिम रूप है सायुज्य, अर्थात् एकत्व (एक हो जाना)। यह 'बूँद समाना समुद्र में' को सार्थक करता है। मोक्ष की इस परमदशा वाला भक्त भगवान से अभिन्न हो जाता है। अब वह अपना किसी प्रकार का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानता। इस स्थिति के लिए ही कहा गया है- ''जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहीं।'' सगुण-साकार भक्ति में मोक्ष के उपर्युक्त पाँच रूप दृष्टिगत होते हैं। निर्गुण-निराकार अथवा अद्वैत-सिद्धान्त को माननेवाले प्राय: 'सायुज्य' यानी एकत्व को स्वीकार करते हैं। एतदनन्तर हम ''संन्यास'' शब्द की मीमांसा करेंगे।

(ख) संन्यास

'संन्यास' शब्द 'सम्', 'नि' उपसर्गपूर्वक 'अस' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। इसका अर्थ छोड़ना, त्याग करना, सांसारिक विषयों तथा अनुरागों से पूर्ण वैराग्य, सांसारिक वासनाओं का परित्याग आदि है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

''स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।[20]

''.....सन्यासेन द्विजोत्तमा।''[21]

****

''एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृह:।

''संन्यासेनापहत्यैन: प्राप्नोति परमां गतिम्।।''[22]

****

''यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन् ।।''[23]

****

इसी प्रकार गीता में ''संन्यासं कर्मणां''[24], ''संन्यास: कर्मयोगश्च''[25], ''संन्यासस्तु महाबाहो''[26] आदि अनेक स्थलों पर 'संन्यास' शब्द का प्रयोग हुआ है। भोजन का त्याग कर देना यानी त्यक्ताहार भी संन्यास ही कहलाता है, ऐसा जीवन जीनेवाला भी संन्यासी कहलाता है।[27]

साम्प्रतिक संदर्भ में 'संन्यास' शब्द चिन्तनशील जनों के बीच मन में खिन्नता का विकृत भाव उत्पन्न कने के अर्थ में लिया जाता है। सामान्य जनों के बीच यह निष्क्रियता, दायित्व से पलायन करना, परावलंबन, पराश्रित जीवन-यापन, गैर जिम्मेदारी, निठल्लापन, पाखण्ड आदि अर्थों में जाना जाता है, परन्तु 'संन्यास' शब्द का यह छद्म अर्थ है। देश, काल और परिवेश शब्द का अर्थगौरव बढ़ाते हैं तो उसे घोर विद्रूप भी बना देते हैं। उपर्युक्त इन अर्थों में यह इसी कलंककाय की स्थिति में है। यथार्थत: यह

संन्यास का सही भाव है ही नहीं।

संन्यास तो पूर्वोक्त तटस्थता, निवृत्ति, निस्संगता, निर्लिप्तता, अनासक्ति, अलगाव, पार्थक्यादि भाव के रूप में ही अपने सनातन सौंदर्य से अभिमण्डित है। इसका सही प्रयत्न एवं सावधान प्रयोग जीवन को सब प्रकार के तनाव से मुक्त करता है। ऐसा प्रयोग मन की उद्विग्नता शांत करने का साधान बनता है, इससे दैनिक जीवन की समस्याएँ दूर हो जाती हैं और यह कष्टों को सहन करने की शक्ति देता है। संकल्पों का त्याग करनें पर हीं यह संभव होता है। इसे समझाने के लिए भगवान नें सीता के पाँचवें अध्याय का विषय हीं रख दिया है-'कर्मसंन्यासयोग।' प्रवृत्ति, अनुराग, कार्यशीलता, उद्योग, उद्यमशीलता, रचनात्मकता, सक्रियतादि कर्म के हीं तो प्रतिपादक भाव हैं। जब इन भावों के स्थान पर कर्मों से निवृत्ति, अलगाव, तटस्थता, निश्चेष्टतादि का भाव जमने लगता है तब संन्यास प्रतिभासित होनें लगता है। गीता संन्यास के अर्थ में वस्तुत: इन दो प्रतिकूल धारणाओं के मधय उपयुक्त सामंजस्य स्थापित करती है।

इनके साधन में तनावों का आना स्वाभाविक है, परंतु संन्यास उनसे भी मुक्ति की युक्ति प्रदान करता है। कर्म करते रहना है, परंतु फल की चिन्ता छोड़कर; क्योंकि उसका संग दु:खद होता है। फल की चिन्ता क्या करनी, क्योंकि वह तो कर्मों के साथ ही जुड़ा होता है। अर्थात् 'संन्यास' असंगभाव से किए जानेवाले कर्म का उत्प्रेरक है।

गीता श्रीमद्भागवत की सहवर्तिनी है, जिसमें भक्ति की दृष्टि से संन्यास की चार अवस्थाएँ संकेतित हैं -

(1.) कुटीचकावस्था

(2.) बहूदकावस्था

(3.) परिव्राजकाचार्यावस्था तथा

(4.) परमहंसावस्था ।

(1.) कुटीचकावस्था

श्रीमद्भागवत में परमहंसावस्था श्रेष्ठ अवस्था है, जिसकी प्रारंभिक अवस्थाकुटीचक है। 'कुटीचक' में दो शब्द हैं- 'कुट्टी' या 'कुटी' + चक। 'कुटी' कुटिया या झोपड़ी का वाचक है तथा 'चक' का अर्थ संतुष्ट होना या तृप्त होना है। 'कुटीचक' का अर्थ 'संतुष्ट होना' या तृप्त होना है। 'किसी संघ विशेष का सन्यासी' है, जो अपने परिवार को अपने पुत्र की देख-रेख में छोड़कर अपने आय को पूर्णतया धर्मानुष्ठान एवं तपश्चर्या में लगा देता है। वैदिक व्यवस्थानुसार संन्यास आश्रम ग्रहण करने के पश्चात् संन्यासी को गाँव के बाहर कुटिया का निर्माण कर निवास करना होता है। इस कोटि के संन्यासी के पास घर से भोजन भेज दिया जाता है।

(2) बहूदकावस्था

'बहूदक' में दो शब्द हैं- 'बहु' और उदक। बहु अधिक, अनेक महान आदि अर्थों का वाचक है। 'उदक' में मूल शब्द 'उद' है, जिसके अनेक अर्थों में संदर्भानुसार मोक्ष, ऊधर्व कर्म (महान कार्य) ऊपर परे आदि अर्थ भी है। इसके अनुसार ऊँची गति प्राप्त करने वाले को बहूदक कहते हैं ये तीनों का अटन (भ्रमण) भी कहते हैं।

यह संन्यास की दूसरी अवस्था है। कुटीचकावस्था व्यतीत करते हुए संन्यासी का भाव और निर्मल होता जाता है। निर्मलता की यह स्थिति उसे घर की प्रापणीय वस्तुओं से भी विरक्त कर देती है। घर के लोग ही नहीं अन्य लोग भी उसे पराये नहीं लगते। अत: अब वह घर की वस्तुओं का परित्याग कर कई स्थानों से भोज्य पदार्थों का संग्रह करता है। यह मधुकर (भ्रमर) के समान की वृत्ति हैं। भौरे थोड़ा-थोड़ा करके अनेक पुष्पों से मधु संचित करते हैं। बहूदक संन्यासी भी इसी प्रकार द्वार-द्वार जाकर भिक्षा ग्रहण करते हैं। इनमें संग्रह भाव नहीं अपितु निर्वाह-भाव होता है। ये अपना घर त्यागकर अज्ञात नगर में निवास करते हैं और घर घर भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते हैं।

(3) परिव्राजकाचार्यावस्था

इसमें मूल शब्द है 'परिव्राज' जिसके या अर्थ भ्रमणशील साधाा, अवधूत तेजस्वी संन्यासी आदि हैं। चौथे आश्रम में सांसारिक मामा-मोह को त्यागकर देखो भ्रमशील जीवन जीनेवाला परिव्राजक कहलाता है। इसी का निर्वचन करते हुए आप्टे कहते हैं -

'परित्यज्य सर्वान विषयभोगान व्रजति इति परिव्राजक:।'

संन्यासी गृह त्यागी होकर 'कुटीचक' बनता है। कुटीचक की त्यागवस्था को पार कर बहुदक बनता हैं यानी प्रथमत: गृहत्याग, द्वितीयत: ग्राम त्याग। त्यागभाव जब इनसे भी आगे बढ़ जाता है तब व्यक्ति को किसी भी प्रकार का स्थायी निवास बन्धन प्रतीत होता है। अत: इस बन्धन का भी त्यागकर व्यक्ति भ्रमणशील जीवन जीता है। परिव्राजक का यह जीवन आचार्य का जीवन होता है अर्थात् उसके दिव्य कार्य उनके आचरण में इस प्रकार

घुल-मिल जाते हैं कि वह लोगों के लिए अनुकरणीय हो जाता हैं। वैष्णव मत में यह माना जाता है कि इस अवस्था में व्यक्ति का जीवन पूर्णतः वासुदेवमय हो जाता है। मन वासुदेव, कर्म, वचन और शरीर की हर चेष्टा वासुदेव। अतः ऐसे लोगों की वाणी, कर्म एवं हर चेष्टा लोगों के लिए आकर्षक एवं प्रेरक होती है यह एक प्रकार से हंस की अवस्था हुई।

परमहंसावस्था

'परमहंस' का अर्थ होता है उच्च गति की आत्मा। हंस का एक अर्थ आत्मा भी है। यह संन्यासी भिक्षुओं की वह अवस्था है, जब वे भावात्मक समाधि के द्वारा अपनी इन्द्रियों का दमन करके उनको वश में कर लेते हैं। यह भिक्षु संन्यासियों का सर्वश्रेष्ठ अवस्था हैं आप्टे ने इसी को लेकर चतुर्विध भिक्षुओं[28] का संदर्भ थोड़े अंतर से इस प्रकार दिया है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध है कि परमहंस अवस्था तब प्राप्त होती है, जब एक परिव्राजक अपना उपदेश कार्य समाप्त करके प्राप्त होती है, जब एक परिव्राजक अपना उपदेश कार्य समाप्त करके आध्यात्मिक जीवन बिताने के उद्देश्य से एक स्थान पर टिक जाता है। ऐसे संन्यासी के लिए 'वासुदेव सर्वम'[29] (अर्थात् वासुदेव के चरण-कमल ही सबकुछ है।) हो जाता है ये स्वयं भगवदनुकूल होते हैं, अतः विश्व भी इन्हें भगवन्मय दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार संन्यास जीवन की पवित्र अवस्था। आश्रम धर्म का निर्वाह करनेवाले चतुर्थ अवस्था में ऐसा जीवन जीने के लिए जाने जाते है, परन्तु जीवन का हर दिन मनुष्य-कर्म की दृष्टि से चार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ, संन्यास) अवस्थाओं में विभक्त है या यों कहें कि किसी-न-किसी रूप में भाव या कर्म की दृष्टि से प्रतिदिन व्यक्ति इन अवस्थाओं को जीता है, चाहे वह किसी भी आयु अथवा वर्ग का हो। इसी प्रकार शास्त्रानुकूल जीवन-पद्धति अपनाने से कर्म में त्याग की प्रबलता बढ़ने लगती है। जो संन्यास की ओर ले जाती है ऐसे जीवन के लिए वय, लिंग, वर्ण, देशादि बाधक नहीं होते। गीता में भगवान ने जिस संन्यास की चर्चा की है, उसका निहितार्थ यही है।

(ग) योग

'योग' बहुव्यापक प्रयोग और प्रसिद्धि वाला शब्द हैं। अतः इसकी व्याख्याएँ विभिन्न दृष्टियों से की जाती रही हैं। सर्वप्रथम हम इसकी व्युत्पत्ति, अर्थावधारण एवं विनियोग पर विचार करते हैं।[30]

व्युत्पत्ति एवं अर्थावधारण

'योग शब्द में मूलतः 'युज्' धातु है, जिसमें 'ध' प्रत्यय सम्पृक्त है। त्रिकाण्डकोश के अनुसार इसके छः नाम हैं- कवच, उपाय, ध्यान, संगति, युक्ति, चिंतन इत्यादि। 'यह मुख्य रूप से जोड़ना, मिलाना, मिलाप, संगम, मिश्रण, संपर्क, स्पर्श, सम्बंध, काम में लगाना, प्रयोग, इस्तेमाल, रीति, क्रम, साधन, फल, परिणाम, योग्यता, औचित्य, उपयुक्तता, उपचार, चिकित्सा आदि अर्थों में व्यक्त होता है।[31]

अर्थ-व्यापकत्व

कोई भी शब्द अपनी आरम्भिक अवस्था में अर्थ-संकोच लिये होता हैं, विभिन्न घटना-संदर्भ, काल, पात्र एवं परिस्थितियों के प्रवाह से वह विकास प्राप्त करता है। यह दो प्रकार से होता है- एक अर्थ की दृष्टि से और दूसरा स्वरूप की दृष्टि से। ऊपर नियुक्त अर्थ इसके अर्थ-विस्तार को ही निर्दिष्ट करते हैं। ये निश्चय ही पृथक् विषय, विविधा घटना- संदर्भ, काल, पात्रादि-प्रसूत हैं। इसी प्रकार जब कोई शब्द अतिशय प्रसिद्धि प्राप्त करता तो मूल शब्द या विशेषण बनकर समस्तपद के रूप में विनियुक्त होता है, यह संधिपद भी हो सकता है या सामाजिक पद भी। 'विषादयोग' (विषाद+योग) में 'योग' विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ हैं इसी प्रकार 'योगशाला' (योग + शाला) में 'योग' विशेष्य रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'योगोपविष्ट' में संधि (योग + उपविष्ट) भी है तो समास (योग में उपविष्ट-सप्तमी तत्पुरूष) भी। आगे इस प्रकार के कुछ प्रमुख शब्द इसके स्वरूप - विकास की दृष्टि से देखे जा सकते हैं-

योगांग, योगाचार, योगाधान, योगानन्द, योगारूढ़, योगासन, योगेन्द्र, योगेश, योगेश्वर, योग क्षेम, योगचूर्ण, योगतारक, योगतारा, योगधारणा, योगनाथ, योगनिद्रा, योगपटट, योगपति, योगशास्त्र, योगविद्या, योगदर्शन, योगदर्पण, योगविभाग, योगसमाधि, योगसेवा, शब्दयोग, महायोग, योगसार, योगतत्त्व, योगविज्ञान इत्यादि। सन्धि, समास आदि के साथ इसके 'योगी' (योग करने वाला अथवा योग से सम्बंध रखनेवाला) जैसे विशेषण शब्द भी बहुप्रचलित है। प्रत्ययादि के मेल से भी इसके रूपान्तरित शब्दों की न्यूनता नहीं हैं 'योग' के मूल एवं समस्तपदों के विलोम एवं अनुलोम रूपों की भी

पर्याप्तता है।

वाक्य-विनियोग

संस्कृत वाङ्मय में श्लोक कथा, सम्वाद आदि विविध संदर्भो में इसका विनियोग प्रचुरता से दृष्टिगत होता है। ये विनियोग अर्थ-संदर्भो का ही घोतन करते हैं। यहाँ कतिपय उदाहरण दर्शनीय हैं[32] 'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम', 'गुणमहतां महतो गुणाय योगम'[33], तमड़कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिचन्तमिवामृतं त्वचि'[34], 'एतेरूपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम'[35], 'कथायोगेन बुधयते',[36] 'रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सचिनोति',[37] 'सती-सती योगविसृष्टदेहा'[38], 'योगेनान्ते तनुत्यजाम'[39], 'उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये',[40] 'नात्यश्नतस्तु योगोअस्ति न चैकान्तमनश्नत'[41] इत्यादि। वेद, उपनिषद, पुराण, योग, आयुर्वेद, संस्कृत काव्य, नाटक, कथादि ग्रन्थों में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्तव्य हैं, जो इसके अर्थ एवं स्वरूप - विकास को प्रकटित करते हैं।

योगशास्त्र में इस (योग) शब्द का गंभीर महाचिंतन, मन का संकेन्द्रीकरण, परमात्म- चिन्तन आदि अर्थो में होता हैं इसलिए पतंजलि इसे चित्तवृत्ति निरोध कहते हैं।[42]

गीता में योग

गीता में 'योग' शब्द का प्रयोग - प्राचुर्य देखा जाता है इसकी हर पुष्पिका में अध्याय का नाम योगसंश्लिष्ट है। इसका एक अध्याय तो पूर्णतः 'योग' का ही विविध दृष्टियों से विश्लेषण करता है। गीता में योग का नैकघा विवेचन हुआ है, यथा - 'समत्वं योग उच्यते'[43], 'योगः कर्मसु कौशलम'[44], 'तं विद्याद दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्'[45] इत्यादि।

उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रायः योग को परिभाषित करने की दृष्टि से रखी जाती है। ऐसे में सामान्य पाठक- चित्त एक निश्चित अर्थावधारण में भ्रमदोष का शिकार होता है। गीता - मर्मज्ञ स्वामी रामसुखदास इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गीता में योग शब्द का अर्थ तीन मतों से व्यक्त हुआ है, ये है- स्वार्थ, सम्बन्ध और समाधि।[46] व इन्हें समझाने के लिए तीन दृष्टियों में इसकी व्युत्पत्यात्मक विवेचना करते हैं-

1. 'योग' शब्द की निष्पत्ति 'युज' संयमने से हुई है। यह सामर्थ्य, प्रभाव आदि अर्थ देता है। इसके समर्थन में यह श्लोकांश अवलोकनीय है - 'पश्य मे योगमे'श्वरम।'[47]

2. इसकी निष्पत्ति 'युजिर' योगे के रूप में भी देखी जाती है। अर्थ की दृष्टि से यह परमात्मा के साथ नित्य सम्बंध का सूचक है। गीता में इसका मुख्य अर्थ 'समत्वं योग उच्यते'[48] के रूप में देखा जाता है।

3. इसी प्रकार इसे 'युज' समाधौ की दृष्टि से भी देखा जा सकता है, जो चित्त की स्थिरता अर्थात् समाधि में स्थिति अर्थ का सूचक है। द्रष्टव्य है- 'यत्रोपरमते चित्तं निरूद्ध योगसेवया।'[49]

पातंजल-योगदर्शन और गीताविहित योग में अंतर

महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगदर्शन में योग की परिभाषा दी है- 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधाः।'[50] उन्होंने योग का परिणाम भी प्रयुक्त किया है - 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् वृत्तिसारूप्यमितश्रत।'[51] अर्थात् द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाना। पूर्व की परिभाषा का यह इतरत्र परिणाम है। गीता ने उपयुक्त 'चित्तवृत्तिनिरोध' को न लेकर इसके परिणाम को ही योग के रूप में निर्दिष्ट किया है, यथा-

(1) ''समत्वं योग उच्यते।''[52]

(2) ''सा विद्यात दुःख संयोग वियोगं योगसंज्ञितम।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो अनिर्विण्णचेतसा।।''[53]

ये उद्धरण यह स्पष्ट करते हैं कि गीता चित्तवृत्तियों से सर्वथा सम्बंध-विच्छेदपूर्वक स्वतः सिद्ध समस्वरूप स्वाभाविक स्थिति को योग कहती है। गीता का योग क्षणिक नहीं, अपितु नित्ययोग है, जो समता मे ंस्थित होता है। इसका कभी वियोग नहीं होता। यह हठ नहीं, अपितु स्वभाव का अंग है। इसमें कभी वृत्ति रूपता नहीं होती, अतः इसका पतन नहीं होता। जब वृत्तियों का पतन होता है तब निर्विकल्प (कर्ता, कर्म, ज्ञाता और ज्ञेय के विवेक से रहित एक प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान की) अवस्था होती है, पर समता में स्थित होने पर निर्विकल्प का बोध होता है। गीता का योग दशा अथवा अवस्था नहीं, वरन एक बोध है। निर्विकल्प बोध अवस्थातीत और संपूर्ण अवस्थाओं का प्रकाशक तथा सम्पूर्ण योगों का फल है।[54]

गीता यह मानती है कि जीव का परमात्मा के साथ स्थायी (नित्य) सम्बंध है, जिसका कभी भी, किसी भी अवस्था या परिस्थिति में वियोग संभव नहीं। गीता जीव को परमात्मा का अंश मानती है। अंश-अंशी का सम्बंध होने से दोनों का योग नित्य - निरंतर का यथावत होता है। शरीर का सम्बंध संसार से है, जो तब तक है, जब-तक जीवन है। जीवन के नष्ट होते ही संसार से वर्तमान शरीर का सम्बंध समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर और संसार का सम्बंध क्षणिक होता है, परन्तु शरीर संसार का बाह्य

सम्बंध होने पर भी जीव और परमात्मा का आंतरिक सम्बंध बना रहता है। सांसारिक वृत्तियों से जुड़े रहने पर जीव को बाह्य सम्बंध तो दृष्टिगत होता है, परंतु आंतरिकता दीख नहीं पड़ने के कारण वह नित्य सम्बंध आभाषित नहीं हो पाता। शरीर-संसार के साथ माने हुए संयोग का, जब वियोग या विमुखता या सम्बंध-विच्छेद होता है, तब उस नित्ययोग का बोध होता है। इसे ही भगवान ने कहा है- 'तं विद्याद् दु:ख संयोग वियोगं योग -संज्ञितम।'[55] अर्थात् दु:खों के संयोग के वियोग हो जाने का नाम 'योग' है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि कतिपय विद्वानों के द्वारा 'योग कर्मसु कौशलम' को भी योग की परिभाषा के रूप में उपन्यस्त किया जाता है, परन्तु सूक्ष्मता-पूर्वक अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि इसमें योग की महिमा है, न कि परिभाषा। इसके माध्यम से योग का महत्त्व रेखांकित करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि कर्मों में योग ही कुशलता है। अर्थात योग के माध्यम से ही कर्मों में कुशलता प्राप्त की जा सकती है, इसके अतिरिक्त कर्मों में और कोई महत्त्व है ही नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शरीर-संसार के साथ उत्पन्न क्षणिक सम्बंध को जानकर उससे विरक्त होने और समरूप परमात्मा के साथ सम्बंध का उदेश्य हो जाने तथा उसका अनुभव हो जाने का नाम 'योग' है। व्यक्ति जब मन और बुद्धि को अन्य सभी ओर से हटाकर एक विषय पर केन्द्रित करता है, तब क्षणिाक सुख, परन्तु जन्म-जन्मान्तर का दु:ख देनेवाले सांसारिक सम्बंधों (संयोग) से वियोग होने लगता है। ऐसा ज्ञान होने पर सुख-दु:खादि उभय परिस्थितियों में समत्व (सभी प्राणी और परिस्थितियों में एक-सा भाव) यानी एक समान जीना आ जाता है। यही योग है। कर्म में योग हो तो यह उसकी कुशलता (नैपुण्य) बन जाता है। यह कुशलता आहार-बिहार, कर्म की चेष्टाओं, स्वप्न-शयन और जागरण में भी देखी जाती है। जब योगी इस योग-वैशिष्ट्य को प्राप्त होता है, तो उसका यह योग समस्त प्रकार के दु:खों का निवारण करनेवाला बन जाता है।1

जब गीता के अठारहवें अध्याय में प्रयुक्त 'योग' शब्द का अवलोकन करते हैं तब यह शब्द अध्यायविहित 'योग' के प्रतिपाद्य से पृथगर्थक प्रतीत होता है। उपर्युक्त विवेचन अधयायविहित 'योग' के प्रतिपादक हैं, परंतु पुष्पिका का योग शब्द अध्याय का मुख्य विषय (यथा-मोक्ष संन्यासयोग) का प्रकाशक।

इस प्रकार प्रथम अध्याय से (अंतिम) अठारहवें अध्याय तक हर अध्याय के प्रतिपाद्य विषय के साथ 'योग' पद का विनियोग हुआ है। अगर ऐसा नहीं माना जाए तो पुष्पिका के 'योगशास्त्रे' पद में प्रयुक्त 'योग' पुनरूक्ति दोष का शिकार हो जाएगा। एक पुष्पिका में दो योग कैसे? इसके उत्तर स्वरूप यह स्पष्ट है कि एक विषय-प्रतिपादक यानी प्रयोग-अर्थ में है तो दूसरा जीव और से मेल या सम्बंध अर्थ में। प्रसिद्ध अर्थों में पुष्पिका के योग का अर्थावधारण करने पर 'विषादयोग' एक समस्या बनकर उपस्थित हो सकता है। यह उल्लेखनीय होना चाहिए कि 'विषादयोग' कोई योग नहीं है। अत: विषाद के साथ 'योग' का अर्थ 'मुख्य प्रसंग' या 'मुख्य विषय' लिया जाए तो पुष्पिका का अर्थ और स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार इसके अनुसार गीता के अठारहवें अध्याय में 'मोक्ष संन्यासयोग' का अर्थ मोक्ष संन्यास का विषय या प्रसंग विशेष प्रापणीय होना चाहिए।

मोक्षसंन्यास योग

अब तक हमने गीता में प्रयुक्त मोक्ष, संन्यास और योग का मीमांसापूर्वक जानने का प्रयास किया। अब हम अठारहवें अध्याय की पुष्पिका में प्रयुक्त 'मोक्षसंन्यासयोग' संज्ञा की प्रयुक्ति पर विचार करेंगे।

पूर्वकृत कर्मों से अनजान होने के कारण व्यक्ति कर्मफल के मोह में फँस जाता है। मोह-बंधन हमें मोक्ष से दूर ले जाता है। मोक्ष क्या है? यह मोह का क्षय है। मोह के प्रति अनासक्ति होने और कर्म को धर्म समझकर करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है इसके अभाव में जन्म-मरण रूप संसार का बंधन लगा रहता है।

गीता के अठारहवें अध्याय में पूर्वागत अध्यायों में विहित विषयों का सार प्रस्तुत किया गया हैं। इसमें मोक्ष के उपायभूत सांख्ययोग का 'संन्यास' के नाम से और कर्मयोग का 'त्याग' के नाम से अंग-प्रत्यंगों सहित वर्णन किया गया है। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति को तीन गुणों की कसौटी पर कसा गया है।

गुण सात्त्विक, राजसिक और तामसिक-इन तीन रूपों में है। सात्त्विक गुण परमार्थ सम्मत है। फल की इच्छा न कर दूसरे का हित करना सात्त्विक कहलाता है। स्वार्थ पूर्वक फल की इच्छा रखना राजसिक और तामसिक मूढ़ता का गुण कहा गया है। इस गुण के लोग दूसरों को क्षति

पहुँचाने और स्वयं लाभ पाने की चेष्टावाले होते हैं।

ज्ञान, कर्म और भक्ति - इन तीनों में सत्त्व गुण की अनिवार्यता मानी गई है। इसी को स्पष्ट करने के लिए 'निष्काम' और 'अनासक्त' शब्द का प्रयोग बार-बार किया जाता रहा है। 'निष्काम' का सम्बंध कर्म और मन से है। जब हमारा मन अच्छा होता है, तब हम कामनाएँ छोड़ देते हैं। इसी प्रकार 'अनासक्त' का सम्बंध हृदय की स्थिति से है। हृदय और मन को पवित्र होने से ल की इच्छा नहीं रहती। तब हर कर्म, कर्म न होकर सेवा बन जाता हैं ऐसा कर्म श्रेष्ठ माना जाता है। ऐसा ज्ञान श्रेष्ठ और भक्ति भी श्रेष्ठ कहलाती है। ये सभी मोक्ष ही हैं।

गीता के अठारहवें अध्याय में अर्जुन के प्रारंभिक प्रश्नों के उपरांत भगवान ने सर्वप्रथम इतर विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए अपने मत का विवेचन किया है। उन्होंने इस ज्ञान को गुहय से गुहयतर बताया और कहा कि इच्छानुसार कोई भी मार्ग अपनाया जा सकता है, परन्तु फिर वे अपने गुहयतम संदेश की ओर आते हैं। यह पूर्वोक्त समस्त मतों में श्रेष्ठ और हितकारी है। अर्जुन भगवान के अति ही प्रिय हैं, जिससे स्नेहवश वे इसे प्रकट करते हैं-

''मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मा नमस्कुर।
मामेवैष्यसि सत्यं तेप्रतिजाने प्रियो असि।।''

अर्थात् मेरे (भगवान के) मनवाले बनो यानी ईश्वर के समान पवित्र मनवाले बनो;, मेरे (भगवान के) भक्त (यानी शास्त्रों में जिसके लिए जैसा आदेश है, वैसे कर्म करनेवाले) बनो, मेरा (भगवान का) पूजन (यानी आदर्श जीवन में उतारने वाले) मुझे (भगवान का) नमस्कार (अस्तित्व स्वीकार) करने वाले बनो। तू मेरा (भगवान का) अत्यंत प्रिय है, अत: मैं तुमसे (अर्जुन से) यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मुझे (भगवान को) निश्चित प्राप्त हो जाएगा।

यह गुह्यतम ही नहीं, अपितु भगवान का सर्वगुह्यतम संदेश है, परन्तु वे अभी भी पूर्ण प्रतिपाद्य पर नहीं पहुँचे है। यह उनकी भूमिका चल रही हैं। अब वे यथार्थ संदेश प्रकट करते हैं-

''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि या शुच।।''[56]

सम्पूर्ण धर्मो अर्थात् क्या करना है, क्या नहीं करना है, जैसे कर्तव्य-कर्म रूपी धर्मो का परित्याग कर केवल मेरी (भगवान की) ही शरण में चले आओं। मैं तुम्हें समस्त पापों के (भय से) मुक्त कर दूँगा, (किसी प्रकार का) शोक मत करो।

यही उनका परमगुहय संदेश है, जिसकी भूमिका पूर्व से चली आ रही है। भगवान ने इसे भगवत्तत्त्व को पानेवाली पराभक्ति कहा है। यह वह स्थिति होती है, जिसमें मोक्ष की भी कामना नहीं रह जाती जीवन की क्षण भंगुरता और कर्मो के भोग का ज्ञान हो जाने पर भक्त की स्व-इच्छा समाप्त हो जाती है। अब उसकी एक ही इच्छा रह जाती है, परमात्मा उसे स्वर्ग, भूमंडल, नरक अथवा स्वेच्छानुसार, जहाँ भी वास दे, वह जो कुछ करना चाहे, करे (बस, मृत्यु जैसी भयंकर अवस्था में भी अपने चरणकमलों की विस्मृति न होने दे।[1] यही उसकी इच्छा रह जाती है। यहाँ भोग और मोक्ष भी संन्यास (त्याग) हो जाता है। यही बतलाना भगवान का प्रतिपाद्य है।

इस समर्पणमयी भगवद्भक्ति का परम गुह्यतम संदेश सुनने के पश्चात अर्जुन की चेतना वापस आ जाती है, उनका मोह नष्ट हो जाता है, जिससे वे भगवत - आज्ञानुसार कार्य करने का संकल्प लेते हैं-

''नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितो अस्मि गतसन्देह: करिष्ये वचनं तव।।''

इस प्रकार भगवच्छरणागति ही इसका प्रधान विषय है और संपूर्ण गीता का सार भी है। पूर्व विवेचित समस्त विषयों (योगों) का पर्यवसान इसी अध्याय में हुआ है।

यहाँ उपबृहण ब्याज से इस परंपरासिद्ध वाक्य 'धर्मार्थकाम मोक्ष' की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि प्राय: लोग इसे ही पुरुषार्थ चतुष्टय कहते हैं। धर्म के विना जीवन कैसा? अर्थहीनता जीवन की गतिशीलता अवरूद्ध कर देने के लिए पर्याप्त है। काम (इच्छा/वासना) के बिना संतति परम्परा और जीवन-निर्वाह संभव नहीं। जीवन और जीवनेतर जगत और इनसे मनुष्य के सम्बंधों का आभासी ज्ञान हमारे संस्कार सिद्ध है, अत: मोक्ष की कामना भी हर आस्तिक का अन्तिम लक्ष्य होता है। गीता का यह अध्याय इनके त्याग की बात नहीं करता, अपितु इनमें भक्ति के समावेश की बात करता हैं। जब तक ईश्वरीय सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण नहीं होता तब तक हम इसके कर्ता-भोक्ता बने रहते हैं, जब पूर्ण समर्पण हो जाता है, तब कर्म होते हुए भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रह जाता। जब दृष्टि में भक्ति का समर्पण भरा स्वरूप उभरता है तब मैं - मेरापन दूर हो जाता है -

''जब मैं था तब हरि नहीं,
अब हरि है मैं नाहिं।''

यह भक्ति का शीर्ष है, जहाँ कर्म तो है, पर कामना नहीं। मोक्षादि भावोंका पूर्णतः त्याग हो जाता है, एकमात्र भगवदाराधन एवं तत्प्रसादन ही लक्ष्य बन जाता है।

यही इस अध्याय का प्रधाान विषय है, जो संपूर्ण गीता का सार है। पूर्व विवेचित समस्त विषयों (योगों) का पर्यवसान इस अधयाय में हो गया है और भक्ति ही शेष रह गई है, इसी से इस अध्याय का नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' लोकप्रथित है।

सहायक प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग,
महाबोधि महाविद्यालय, नालन्दा (बिहार)

संदर्भ सूची

1. आप्टे कोश, पृ0-819
2. मेघदूत-61
3. रघुवंश-17/20
4. रघुवंश-17/19
5. गीता-(5/28) अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वश में हैं, जो केवल मोक्षपरायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधा से सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है।
6. अर्थात् है पृथानंदन, जो बुद्धि, प्रवृत्ति और निवृत्ति और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को तथा बंधन और मोक्ष को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।
7. अर्थात् राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुधन-इन चारों में बँटी हुई राजा दशरथ की संतान ऐसी सुंदर लग रही थी मानो शरीर धाारण किए (मूर्तिमत्) हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अवतार हों।
8. अर्थात् विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, धर्म से पुत्रें को उत्पन्न कर और यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करके तब चतुर्थ आश्रम में मन को लगाए।
9. अर्थात् तीनों ऋण (देव, ऋषि एवं पितृ) से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगाए।
10. ऋणशोघन कुमारसंभवम्- (3/31)
11. मेघदूतम्-(99)
12. शाकुन्तलम्-(3/5)
13. आप्टे कोश-(पृ0-819)
14. त्रिकाण्डकोश, प्रथम काण्ड, वर्ग-5, श्लोक-7
15. गीता- (13/21)
16. गीता-(13/26)
17. गीतादर्पण, स्वामी रामसुखदास, पृ0-138
18. आप्टे कोश, पृ0-110
19. आप्टे कोश, पृ0-1070
20. मनुस्मृति-(1/114 का पूर्वार्ध)
21. मनुस्मृति-(5/108 का उत्तरार्धा) अर्थात् ब्राह्मण संन्यासधर्म के आचरण से शुद्ध होता है।
22. मनुस्मृति- (6/96) इस प्रकार (चौथी अवस्था में ज्ञानी व्यक्ति) कर्मों को त्यागकर, विषय-वासना से रहित हो, आत्मज्ञान के साधान में लगा हुआ संन्यास के द्वारा पापों का नाश करके परमगति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।
23. गीता-(6/2) अर्थात् हे अर्जुन (लोग) जिसको 'संन्यास', ऐसा कहते हैं, उसी को (तुम) योग समझो, क्योंकि संकल्पों का त्याग किए बिना मनुष्य किसी प्रकार योगी नहीं हो सकता।
24. गीता-(5/1)
25. गीता-(5/2)
26. गीता-(5/6)
27. संस्कृत - हिन्दी कोश- पृ0 - 590
28. चतुर्विधाः भिक्षवास्ते कुटीचक बहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः।। - आप्टे कोश, पृ0-281
29. गीता- (7/9)
30. योगः सन्नहनोपायः धयानसङ्गति-युक्तिषु-तृ.काण्ड, वर्ग-3, श्लोक-22 का उत्तरार्ध।
31. संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश-बी.एस.आप्टे, पृ.-839-40
32. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- (7/22)
33. किरातार्जुनीयम्-(10/25)
34. रघुवंशम्- (3/26)
35. मनुस्मृति- (9/10)
36. हितोपदेश-(1)
37. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-(2/14)
38. कुमारसंभवम् -(1/21)
39. रघुवंशम्-(1/8)
40. गीता-(6/12)
41. गीता-(6/16)
42. गीता का षष्ठ अध्याय-आत्मसंयमयोग
43. गीतादर्पण, पृ0-125
44. गीता-(2/48)
45. गीता-(2/50)
46. गीता-(6/23)
47. गीता-(9/5)
48. गीता-(2/48)
49. गीता-(6/20)
50. पातंजल योगदर्शन-(1/12)
51. पातंजल योगदर्शन-(1) (3-4)
52. गीता-(6/23)
53. गीता दर्पण- पृ0-125
54. गीता-(6/23)
55. गीता- (18/65)

Research Paper

Buddhism and Suffering – Raja Rao's View

Purnima Priyadarshi

Introduction

Raja Rao a great Indo- Anglian writer who conceives literature as a spiritual discipline is also inspired by Buddhism.The novelist has really exhibited the teaching of Buddha to enrich the nature and personality of his characters. He enables his characters to give a concrete shape to the ideals of Buddhism. He unfolds the significance of the teachings of Buddhism to the readers with the help of his characters. His novels deals with various religions and cultures of the world but one can also see graceful knowledge and spiritual enlightenment of Buddhism to a great extent.

Raja Rao's View on Buddhism

Buddhism tells as about the great truths of life and inspires us to search truth. Buddha devoted his entire life to the study of suffering and searched a definite way to liberate the world from suffering. According to him, life is fastened to the circle of rebirths and it is a long chain of suffering. If a man works for detachment he can liberate himself. By detachment he does not mean detachment only from property or people but also from one's body and self. Buddha loved all the creatures of the world.

Buddha always emphasizes that "Not I" which means nothing is mine, "not even myself". This self is just like a light which, in case of the Perfect one, separates from body and probable re-merges into the absolute or the mother soul from which it had separated earlier. Buddha is well aware of the fruits and results of life and its nothingness, because of constant human suffering. He says; "… what I have perceived and have not communicated to you is much more than what I have communicated to you. And, why, of disciples, have I not revealed this to you? Because …… it would not be of advantage to you……. And what … have I not communicated to you? What suffering is, disciples, I have communicated to you; what the arising of suffering is …. I have communicated to you what the ceasing of suffering is- and what is the path that leads to the ceasation of suffering.'[1]

Buddhism is not a religion but a way of life, as the Buddha himself has enunciated. That was a time when the world was facing a lot of turmoil, great thinkers and intellectuals have been propagating their thoughts and doctrines in order to save humanity. The Buddha has been able to convince the society about the norms of Buddhism and has been able to doctor the masses. Despite the difference of philosophical stand points, beliefs, and attitude almost all the traditions and systems of Indian philosophy commonly believe human life as bondage, as it is full of suffering and its eradication as their end. For attaining this goal, most of them have suggested some practical path. The ultimate aim of Buddhism is salvation (Nibban or Nirvana) and it prescribed a practical path of Yoga leading to the Summumbonum of life. Meditation has been prescribed as means which can destroy one's

ignorance, bring the real knowledge and attainment of Nirvana.

Today, we see the impact of Buddhism everywhere in the world. Lord Buddha as a torchbearer of the society created a shrine of religious path for the welfare of humanity. His efforts proved to be an eminent source of inspiration in haunting the minds of the common people which were just trapped in the feeling of casteism, superstition, hypocrisy etc. He taught us that everyone should sacrifice his entire life for the welfare of the others. He preached that one who takes birth as to die, the object having start have an end, if there is happiness there must be sorrow, if there is bliss, there must be pain, so people should do thou work with detachment.The Gita also teaches us the same thing that we all should do our duties like detached Karma. Detachment from every bondage prepares us for Nirvana. The Buddhists have dealt with the doctrine of suffering under four heads which are called "Four Noble Truth" of Lord Buddha – (i) Suffering, (ii) Origin of suffering, (iii) Ceasationof suffering and (iv) The path leading to the ceasation of suffering technically known as Dukkha, Samudaya, Nirodha and Magga. While dealing with the first noble truth the Buddhist speak of different types of suffering, namely, birth, death etc….. Technically known as Dukkha which means difficult to endure and contemptible void. In all the four noble truths, suffering is the primary which lets one infer that the Buddha made efforts to eradicate suffering from the world and also for the establishment of peace on earth.

Now the question arises regarding the existence of suffering. What is that? By way of analysis it has been clarified that taking birth is suffering, old age is suffering, lamentation is suffering, meeting with the undesirable is suffering, separation from near and dear ones is suffering, not to get the desired is suffering. In the opinion of Lord Buddha there is suffering and suffering alone on this earth.

But the suffering depends on causes. The meaning is that they have no independent existence. Craving is the real cause of suffering.

The third noble truth insists in the ceasation of suffering technically known as Nibbana. The fourth noble Truth consists in the path leading to the ceasation of suffering. This is superior to all other paths. In this way Lord Buddha taught suffering and its eradication and said that life of man is full of suffering. According to the four noble truths of the Buddhists, life begins with suffering while ends in suffering,peace, happiness and tranquility. Buddha was not interested in God, gods or supernatural. He was deeply concerned with the ends and conduct of human life. Buddha says; "O Bhikkhu, go on emptying this vessel of body. Emptied by you (of evil thoughts) it will grow lighter. Cut off passion and hatred and attain Nibbana thereby."[2]

The essential philosophy of emptiness in Buddhism was carried by Nagarjuna to far and wide. The absolute is supposed to be Sunya because there appears to be something entirely beyond the phenomenal world. Buddha's concept of Nirvana means 'Nothingness' 'Sunya'. One finds the source of life in Nirvana where there is no death. Pure consciousness is nothingness. Hegel says about Being-that is an 'emptiness'. Sartre observes that there is nothing behind the body and our life is only along waiting. Nirvana is the goal of all personal development. The ultimate wisdom of Nirvana is to reduce one's self to a minimum of desire and will.Suffering is not going to end but there is away to end it. Buddha advises us to liberate ourselves from certain bondages of human life. It can be achieved by 'blowing out' the passions and frustrations of existence. Nirvana is freedom. It means ceasation of the flame. In the Buddhist scheme of meditation there is nothing – an awareness that of coming intoa room and finding no one there. It is not an awareness of absence. This is the plane nothingness, which can be transcended in neither perception, nor-perception in which consciousness can be retrieved from such a state, an awareness of its existence.

Buddhism has influenced various cultures and civilizations of the world. It offers a great philosophy of human life which has a tremendous impact on literature. Many writers have exhibited the meaning and significance of Buddhism in their literary works. John Keats, Eliot, Emerson, Whitman, RabindraNath Tagore and others were highly influenced by

Buddhism. Raja Rao a great writer who conceives literature as a spiritualdiscipline is also inspired by Buddhism. Many critics have said that he is mainly interested in the presentation of Vedantic philosophy in his works, it appears that he has a comprehensive study of Indian and Western philosophical systems and most of his works reflect the mixture of all the great philosophical ideologies of the world. Being an Indian, it is quite natural for him to be highly influenced by the personality and teachings of Buddha. In his essay, "Books which have influenced one," he says; "Buddhist texts have deeply stirred me, but I have read them mostly in English or French translations. They did influence me at one time, with their poetry and rich humanity."

Impact of Buddhism in Raja Rao's Novels

Enlightened by the teachings of Lord Buddha, Raja Rao discovers the noble truth that love, hope, fear and all other affections and ideals are mere illusions and give nothing but pain and suffering. Giving a good detail of the teachings of the Buddha, the novelist vividly illumines the truth that desires do not allow human beings to liberate from the wheel of birth, death and rebirth. His novels like "The Serpent and the Rope" and "The Chessmaster and His Moves" reflect Buddha's noble truth of 'suffering' and his doctrine of 'Nirvana'.

Through these two great novels, the novelist reveals the deeper sensibilities of Indian life in broad perspective of philosophy and spiritual tradition. There is no doubt that the novelist has tried to established the superiority of Vedanta but he faces a lot of problems in getting the solutions of various puzzling questions of the existence of human life without illuminating Buddhist texts and teachings.

In "The Serpent and the Rope" Madeleine, a French woman and born catholic; marries an Indian very sympathetically because Indian were wronged by the Britishers. She enjoys all the pleasures of married life with her husbandRamaswamy who is a believer in the percepts of Vedanta. He comes to India after the death of his father and involves himself completely in his own family affairs taking great case of his widow little mother and her younger children, his unmarried sisters etc. He comes in touch with great Indianness related to the holy places like Benares. He remembers all the rich traditional religious values and Vedic rituals. But the sudden death of his son makes him feel the tragedy of life. Madeleine suffers much from the death of her son and she receives great pain and becomes restless. As a Christian lady she wants to tolerate this loss by her own religious percept but she fails completely. Ultimately she becomes a Buddhist to seek solace and sustenance. Buddhist scriptures moved her deep intellectual knowledge.

The deep compassion of Buddha's teaching, his doctrine of 'suffering' and 'Nirvana' attracted her to a great extent. This knowledge transforms her personality and she gets relief and peace having great faith in Buddhist practices. She reads the 'Jatakas' and wonders why Buddhism could not conquer Europe. To understand Lord Buddha completely, she learns Pali, Sanskrit, Chinese and Tibetan to know more about the teachings of Buddha- she says;

"The intellectual brilliance of Buddhism has no equal in the world; it's the religion of the modern age.Some Buddhist texts read like a novel by Aldous Huxley – so curiously intellectual,almost perverse."

It appears that Madeleine's journey into the world of Buddhism seems purely on an academic level. Her husband Rama,too realizes it.He feels that her insight into Buddhism was more psychic than religious.But gradually it affects her world.Indue course there is a clear change in the perception of,and,insight into,her own nature and also in her consequent judgment of love, marriage and life. She says, "I am studying Buddhism for my own spiritual benefit."

Conclusion

Thus, by learning the significant and illumining knowledge of the novels of Raja Rao, one can easily say that he has derived much wisdomand spiritual ideas from Buddhism. He explores the Nobel truths of suffering with the help of his characters and gives a concrete shape to the abstract ideals of Buddhism. He is the first novelist in India who incorporated different religions and spiritual traditions of India and abroad and made significant contribution in enlarging the theme and scope of Indian novels. Thus Buddha's

theory of suffering has been used significantly by him to enhance grandeur and magnificence of the theme of his novels. It will be relevant here to sum-up this chapter in the brilliant words of Madeleine of "The Serpent and the Rope" that "The intellectual brilliance of Buddhism has no equal in the world. It's the religion of modern age."

Associate Professor
Department of English
Snatak Mahavidyalaya, Islampur, Nalanda

REFRENCES

1. *Raja Rao, The Serpent and the Rope, Orient paper books, New Delhi, 1968.*
2. *M.K. Naik, Aspects of Indian writing in English, The Macmillan company of India Ltd., New Delhi, 1979.*
3. *Silan and Brahmchari; DhammaPada, Bodhagaya Temple, Gaya; 1981*
4. *Grimm George, The Doctrine of the Budhha, MotilalBanarasidas, Delhi- 1984*
5. *M.K. Naik, Aspects of Indian writing in English, The Macmillan company of India Ltd., New Delhi, 1979*

(Footnotes)

शोध-पत्र

विनय शंकर मिश्रा

राष्ट्रकूट कालीन राज संस्था सामाजिक संगठन - धर्म, शिक्षा, साहित्य एवं कला के विशेष महत्व

आठवीं शताब्दी के दक्षिण भारतीय राज्यों में राष्ट्रकूटों की प्रमुख भूमिका रही है। राष्ट्रकूटों ने लगभग दो सौ वर्षों तक दक्षिण की राजनीति को प्रभावित किया। प्रो० अल्तेकर के मतानुसार अठारहवीं शताब्दी में मराठों के उदय के पूर्व राष्ट्रकूटों के समान अन्य किसी शक्तिशाली राजवंश का उदय दक्षिण भारत में नहीं हुआ। राष्ट्रकूटों का उत्थान वातापी के चालुक्य राज्य के अवशेषों पर हुआ तथा इसका अन्त भी चालुक्यों की ही एक शाखा-कल्याणी के चालुक्यों द्वारा हुआ। दक्षिण भारत के अतिरिक्त राष्ट्रकूटों ने उतरी भारत की राजनीति में भी हस्तक्षेप किया।

राष्ट्रकूटों की उत्पति में सम्बद्ध अनेक मत प्रतिपादित किए गये हैं। प्रो० अल्तेयर का विचार है कि राष्ट्रकूट अशोक के अभिलेख में उल्लिखित 'रठिकों' के वंशज थे, जिन्हें सातवाहन अभिलेखों में 'महरठियों' के नाम से सम्बोधित किया गया है। अन्य विद्वानों ने राष्ट्रकूटों को 'यादववंश' या 'तेलुगुरेड्डीवंश' से सम्बद्ध माना है। डा० फ्लीट उन्हें उत्तरी भारत के राठौर क्षत्रियों (राजपूत) से सम्बद्ध मानते हैं, कुछ अनरू विद्वानों ने यह भी प्रमाणित करने की कोशिश की है कि राष्ट्रकूट आन्ध्रप्रदेश के किसान थे, जिन्हें भूमि पर चालुक्यों ने पैतृक अधिकार प्रदान किया। कालान्तर वे राष्ट्रपति (राष्ट्र के शासक या प्रान्तपति) बन गए तथा राष्ट्रकूटा कहलाए। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटों का उद्भव राष्ट्रिको से हुआ था। राष्ट्रिको का उल्लेख अशोक के अभिलेख में किया गया है। ये लोग संभवतः कर्नाटक, प्रदेश के रहने वाले थे। राष्ट्रकूटों का मूलस्थान लट्लुट (बीदर) था। लट्लूट-प्रदेश बीदर जिले के कन्नड़ भाषा-भाषी प्रदेश को व्यक्त करता है।

राष्ट्रकूटों का राजनीतिक इतिहास :

प्राचीनकाल से ही राष्ट्रकूटों के पूर्वज दक्षिण भारत में शासन करते थे। परन्तु कुछ काल के लिए विदेशी आक्रमणों, सातवाहनों और चालुक्यों की सार्वभौम सत्ता ने उन्हें अंधकार में डाल दिया था। परन्तु चालुक्यों तथा पल्लवों के अनवरत संघर्ष ने उन्हें पुनः सर उठाने का अवसर प्रदान किया। राष्ट्रकूट अपने आदि स्थान कर्नाटक से बरपर चले गये और वहीं पर रहने लगे। राष्ट्रकूटों की प्रधान शाखा का उद्भव एवं विकास यही पर हुआ था। इसे मान्यखेट की शाखा के नाम से भी पुकारा गया है।

दन्तिदुर्ग के अधीन राष्ट्रकूटों की शक्ति का उत्थान हुआ। राष्ट्रकूटों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना का श्रेय उसे ही दिया जाता है। राष्ट्रकूटवंश में कुल मिलाकर चौदह नृपति हुए, जिनमें दन्तिदुर्ग, कृष्ण प्रथम, ध्रुव, गोविन्द तृतीय, इन्द्र तृतीय और कृष्ण तृतीय काफी सफल शाकस थे। अमोधवर्ष प्रथम पूर्णतया सफल शासक नहीं था, किन्तु उसके व्यक्तित्व में कुछ विशिष्ट हुए थे, जिनके कारण उसे महान कहा जा सकता है। गुप्तवंश को छोड़कर अन्य किसी भी राजवंश ने सम्भवतः इतनी अधिक संख्या में सफल शासकों को जन्म नहीं दिया।

उत्तराधिकार के प्रश्न पर कई बार राष्ट्रकूट वंश के राजकुमारों में पारस्परिक मतभेद हुआ, किन्तु राज्य की आन्तरिक अवस्था विशेष गड़बड़ और अशान्तिपूर्ण नहीं होने पाई। सुलेमान ने राष्ट्रकूट राजाओं के लिए लिखा है कि वे भारत के सबसे अधिक शक्तिशाली शासक थे और देश के अन्य शासक उनसे भयभीत रहा करते थे। राष्ट्रकूटों

ने व्यापार की उन्नति को प्रोत्साहन दिया। भारतीय इतिहास के अध्ययन से इस तथ्य का पता चलता है कि अधिकतर उतरा पथ की राजाओं ने ही दक्षिणापथ पर आक्रमण किया, परन्तु राष्ट्रकूटों के समय में पांसा पलट गया। उनके समय में गुर्जर-प्रतिहार या पालवंश के नरेश दक्कन पर आक्रमण करने का साहस न कर सके।

इसके विपरीत, जैसा कि हमने देखा है, राष्ट्रकूटों के द्वारा इन दोनों वंशों के राजाओं को अपने ही राज्यों में पराजय स्वीकार करनी पड़ी। राष्ट्रकूटों ने गुर्जर-प्रतिहारों की राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया, किन्तु इस पराजय के प्रतिशोध स्वरूप गुर्जर-प्रतिहार नरेश राष्ट्रकूट राज्य की सीमा का अतिक्रमण न कर सके। चालुक्यवंश के प्रारंभिक नरेशों का पल्लव राजवंश के द्वारा काफी परेशानी उठानी पड़ी, किन्तु राष्ट्रकूटों के विरुद्ध दक्षिण भारत के कोई भी राजवंश अपना सिर न उठा सका।

स्थायित्व की दृष्टि से भी राष्ट्रकूटवंश का महत्व काफी अधिक है। राष्ट्रकूटों का साम्राज्य 225 वर्षों तक टिका रहा। इस वंश का सबसे महान शासक दन्तिदुर्ग (735-755 ई०) था। राष्ट्रकूटों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना का श्रेय उसी ही दिया जाता है। वह एक वीर योद्धा था। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर अपने राज्य और शक्ति का विस्तार किया। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था वातापी के चालुक्यवंशी शासक कीतिवर्मन को परास्त कर अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करना। कृष्ण प्रथम ने तो चालुक्य राजशक्ति के विनाश कार्य को पूरा किया और कोंकण को विजित करने के बाद वहां उसने शिलाहारों को अपने अधीनस्थ एक सामन्तवादी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए विध्यपार देशों की सैन्य-सफलताओं के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इसका राजत्वकाल एलोरा के कैलाश मंदिर के निर्माण के लिए भी प्रसिद्ध है।

ध्रुवधारा वर्ष तो राष्ट्रकूट काल का एक महान विजेता था। उसने दक्षिण में अपनी शक्ति का विस्तार करने के अतिरिक्त उत्तर भारत की राजनीति में भी हस्तक्षेप किया। उसने गंगराजा को पराजित कर सम्पूर्ण गंगवाड़ी पर कब्जा कर लिया। इस विजय के परिणामस्वरूप उसके राज्य की सीमा काबेरी नदी तक फैल गई। उसके पराक्रम से भयभीत होकर पल्लवों तथा वेंगी के चालुक्यों ने भी उससे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिए। उसने उत्तरी भारत की ओर मुड़कर गुर्जर-प्रतिहार शासक वत्सराज को पराजित कर कन्नौज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। ध्रुव के इस कार्य ने उत्तरी भारत के राजाओं को भी आतंकित कर दिया।[1] अल्तेभर ने लिखा है कि कृष्णा द्वितीय वस्तुतः एक दुर्बल और विलासी नरेश था, अतः एवं ध्रुव ने जो कार्य किया, उसका एक पर्याप्त राजनीतिक औचित्य है। दौलताबाद के पत्र-लेख में यह लिखा है कि कृष्ण द्वितीय के अनुज ध्रुव ने, राष्ट्रकूटों की राजलक्ष्मी को विचलित होते देखकर उसकी रक्षा करने के लिए राज्य ग्रहण किया, अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं।[2]

राष्ट्रकूट राजकुल इस बात के लिए भारत के प्राचीन इतिहास में विख्यात है को बढ़ाने का योग्यतापूर्ण प्रयास किया। इस राजकुल में कई सुयोग्य शासक और महान विजेता हुए थे जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा वास्तविक रूप में अपने वंश का गौरव बढ़ाया। राष्ट्रकूटों के इस विशिष्ट कुल में गोविंद तृतीय एक विशिष्ट और उल्लेखनीय शासक था। उसने भारत की दो महान शक्तियों (प्रतिहारों तथा पालों) को नतमस्तक कर बड़ा यश प्राप्त किया। निस्सन्देह वह राष्ट्रकूट सम्राटों में सबसे अधिक योग्य था जो साहस, सेनापतित्व राजनीतिज्ञ तथा सैनिक उपलब्धियों में अद्वितीय था। अपनी कुशल राजनीतिज्ञता और प्रचंड रणशक्ति के द्वारा अपने संपूर्ण भारत के शासकों में अपना आंतक और प्रभाव जमाया। इससे भयभीत होकर श्रीलंका के राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसके अभिलेख से पता चलता है कि विंध्य श्रृंखला से लेकर उसका राज्य तुंगभद्रा तक विस्तृत था।

अमोध्वर्ष राष्ट्रकूटों का अन्तिम महान शासक था। अपनी रणकुशलता से उसने चालुक्य राजा विजयादित्य सहित अन्य विद्रोहियों को पराजित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ की। अल्तेभर के अनुसार अमोध्वर्ष का शासन दीर्घकालीन तो था किन्तु सैनिक दृष्टिकोण से गौरवपूर्ण नहीं हुआ। किन्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह एक प्रजावत्सल सम्राट था। सिरूर ताम्रपत्र अभिलेख के अनुसार अंग, बंग, मगछ, मालवा तथा वेंगी के शासकों ने उसके प्रति सम्मान प्रगट किया। वह एक विद्वान राजा था। उसने अनेक विद्वानों को प्रश्रय दिया।

राष्ट्रकूटों का पतन :

नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राष्ट्रकूट शक्ति का पतन होने सा होने लगा। कृष्ण द्वितीय को अनेक युद्ध करने पड़े,

जिसमें राष्ट्रकूटों की शक्ति का क्षय हुआ। उसने वेंगी के चालुक्य राजा भीम को हराया, परन्तु चोलों एवं गुर्जरों से उसकी हार हुई। इन्द्र तृतीय, गोविन्द चतुर्थ तथा अमोध्वर्ष तृतीय महत्वहीन शासक थे। कृष्ण तृतीय ने राष्ट्रकूटों की क्षीण पड़ती शक्ति को सम्भालने का प्रयास किया। गांगों की सहायता से उसने चोलों को परास्त कर कांची तथा तजौंर पर अधिकार किया, वेंगी एवं उज्जैनियों पर भी उसकी सत्ता स्थापित हुई। उसका प्रभाव दक्षिण में रामेश्वरम् तक फैल गया, परन्तु उत्तर भारतीय राजनीति में वह अधिक सफल नहीं हो सका। उसके उत्तराधिकारी खौटिक (967-972) के समय में सियक-परमारों ने राष्ट्रकूटा की राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण कर इसे लूटा। कर्क (972-75 ई०) इस वंश का अन्तिम राजा था। राष्ट्रकूटों के एक सामन्त चालुक्य तैलय ने राष्ट्रकूट सत्ता का अन्तकर कल्पाणी के 'चालुक्य-वंश' की स्थापना 975 ई० में की। इस प्रकार लगभग दो शताब्दियों के शासन के उपरान्त राष्ट्रकूट वंश का अन्त हो गया। इस तरह राष्ट्रकूट वंश और राजत्व दोनों ही समाप्त हो गया।

राष्ट्रकूटकालीन शासन प्रबंध, सभ्यता-संस्कृतिः

शासन व्यवस्था-

अपने दो शताब्दियों के शासन की अवधि में राष्ट्रकूटों ने दक्षिण भारत में एक विशाल राज्य की स्थापना के अतिरिक्त प्रशासनिक एवं सांस्कृतिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निबाही। इतने बड़े साम्राज्य का अस्तित्व केवल युद्ध और विजय पर निर्भर नहीं था, अपितु सुशासन और प्रजाहित के कार्यों के बल पर टिका था। राजा ही शासन का केन्द्र बिन्दु था और उसके ही पौर था प्रशासनिक प्रबद्धि से साम्राज्य का अस्तित्व और सुचारू संचालन निर्भर करता था। वह राजवंश के व्यक्तियों, विभागीय मंत्रियों और पदाधिकारियों की सहायता से शासन चलाता था। साम्राज्य के अन्तर्गत दो प्रकार की प्रशासनिक इकाइयां थीं। केन्द्र शासित राज्यों पर राजा स्वयं पदाधिकारियों की सहायता से शासन करता था। कुछ क्षेत्रों का प्रशासन अधीनस्थ सामन्तों को सौंप दिया गया था। शासन सुविधा के लिए राष्ट्रकूटों का विशाल साम्राज्य बड़ी तथा छोटी अनेक इकाइयों में विभक्त था। ये सभी इकाइयां केन्द्रीय शासन के निर्देशन एवं नियंत्रण में कार्य करती थी। केन्द्रशासित क्षेत्र राष्ट्र, मुक्ति और ग्रामों में विभक्त थे। इनके प्रधान क्रमशः राष्ट्रपति, विष्यपति और भोगपति होते थे। इनका मुख्य कार्य शान्ति व्यवस्था बनाए रखना एवं राजस्व-वसूली का कार्य देखना था। ग्रामपति ग्राम सभाओं एवं उपसमितियों की सहायता से यही कार्य ग्रामों में करता था। राष्ट्रकूटों ने एक विशाल एवं सुसंगठित स्थायी सेना की व्यवस्था की, जिसकी सहायता से वे एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर सके।

राज्य की आमदनी का मुख्य साधन भूमिकर, नजराना, वन, खान एवं युद्ध से लूट में मिली हुई धनराशि थी। यह धनराशि राजकीय मदों के अतिरिक्त विद्वानों और धार्मिक संस्थाओं को दान देने एवं कल्याणकारी कार्यों में खर्च किया जाता था।

सामाजिक-आर्थिक स्थिति-

राष्ट्रकूट-समाज वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत चार प्रमुख वर्णों में विभक्त था। क्षत्रियों में राजवंश की विशेष स्थिति और प्रतिष्ठा थी। सामान्य क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से नीचे था, परन्तु राजवंश ब्राह्मणों से भी उच्च माना जाता था। निर्धन एवं विद्वान ब्राह्मण कर मुक्त थे। वैश्यों की स्थिति में गिरावट स्पष्ट तौर पर दिखाई देती थी, परन्तु शूद्रों की स्थिति में सुधार हुआ। उसे समय अस्पृश्यता की भावना प्रचलित थी। बाल-विवाह का प्रचलन था। परन्तु सती-प्रथा और विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था। इस काल में सजातीय विवाह सर्वोत्तम माना जाता था, किन्तु अन्तर्जातीय विवाहों का भी प्रचलन था। वह काल सामाजिक परिवर्तन का संक्रान्ति का काल था। वर्णश्रम टूट रहा था और अनेक जातियां-उपजातियां बन रही थीं। संकीर्णता और सदवादिता टूटती जा रही थी। अन्तर्जातीय विवाह, वर्ण के अनुकूल पेशाओं का त्याग आदि सामाजिक परिवर्तन के सूचक थे।

राष्ट्रकूटों की आर्थिक व्यवस्था कृषि, उद्योग एवं व्यापार पर आश्रित थी। कृषि की उत्तम व्यवस्था थी। कपास, ज्वार, चावल, नारियल, और सुपारी प्रमुख उपज थे-वस्त्र-उद्योग विकसित अवस्था में था। बहुमूल्य लकड़ी, वस्त्र, हीरे-जवाहरात इत्यादि का निर्यात होता था। पश्चिम एशियाई देशों से व्यापारिक संबंध अत्यंत विकसित स्थिति में था, परन्तु मुद्रा का प्रचलन नहीं था। शिल्पियों एवं व्यापारियों के संघ आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निबाहते थे।

राष्ट्रकूटों ने शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। अग्रहारों में संस्कृत की उच्च शिक्षा दी जाती थीं। अग्रहारों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी। ये अग्रहार आवासीय थे। अग्रहारों के अतिरिक्त मंदि एवं जैन तथा

बौद्ध बिहार भी शिक्षा के केन्द्र थे। सतलोगों का स्त्री पुरुष मंदिर शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। शिक्षा के विकास के साथ ही संस्कृत, कन्नड़ और मराठी भाषा तथा साहित्य का विकास हुआ। इस युग के प्रमुख विद्वानों में कुमारिल, वाचस्पति, कात्यायन, अंगिरस, हलायुक्ष, अक्लक, विधानन्द, प्रभाचन्द्र, हरिपेण, गुणचन्द्र और सोमदेव का उल्लेख किया जा सकता है। इस समय की प्रमुख रचनायें और कविरहस्य, अष्टासहस्त्री, न्यायकौमुदी-चन्द्रोदय, हरिवंश, आदि पुराण, साहित्यक अभिरूचि का राजा था, जिसने कविराज मार्ग की रचना की।

धार्मिक स्थिति-राष्ट्रकूटों के समय जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म तीनों ही धर्म प्रचलित थे, परन्तु बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी। बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म ज्यादा प्रभावशाली था। अनेक राष्ट्रकूट राजाओं ने जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया। वह धर्म में ब्राह्मण धर्म का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बन गया। ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत विष्णु, शिव, लक्ष्मी, आदित्य और पांडुरंग की पूजा होती थी।

धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति लोगों की आशक्ति एवं श्रद्धा थी। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अस्तित्व के बावजूद सामाजिक वातावरण धार्मिक कट्टरपन एवं संकीर्णता से निष्पक्षता तथा सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। राष्ट्रकूट राजाओं ने विदेशियों के साथ भी अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया। उन्होंने अरब व्यापारियों को व्यापारिक और धार्मिक सुविधाएं प्रदान की थीं।

कलात्मक प्रगति-

कला के क्षेत्र में राष्ट्रकूटों की कोई विशिष्ट तथा मौलिक देन नहीं है; क्योंकि उनका अधिकांश समय युद्धों में ही व्यतीत हुआ, फिर भी उस समय भी कुछ मंदिर[5] बनाए गये थे, जो स्थापत्य-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना पेश करते हैं। अल्तेकर का विचार है कि मौर्यों, गुप्तों, चालुक्यों और पल्लवों की ललित कलाओं के क्षेत्र में अपनी-अपनी विशिष्ट तथा प्रशंसनीय देन रही है, किन्तु राष्ट्रकूट युग के लिए इस प्रकार का कोई दावा नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि मालखेड राजसभा में ललित कलाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।[6] कृष्ण प्रथम के समय एलोरा के कैलाश मंदिर का निर्माण कराया गया। यह मंदिर चट्टानों को काटकर बनवाया गया है। इसकी अद्भुत निर्माण-कुशलता वस्तुतः प्रशंसनीय है। भारत की जितनी कलात्मक कृतियां हैं उनमें यह सबसे अधिक विस्मयकारी है।[7] इस मंदिर की मूर्तियां काफी सजीव तथा मनमोहक है। इस मंदिर की स्थापत्य कृतियों में गजासुर का वध कराते हुए शिव, नृत्य मुद्रा में नटराज, कैलाश पर्वत को उठाते हुए रावण तथा द्वारा पाल विशेष रूप में उल्लेखनीय है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एलीफेण्टा की गुहा तथा कुछ स्थापत्य कृतियों का निर्माण राष्ट्रकूटों के शासन काल में ही हुआ था। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध त्रिमूर्ति है। इसमें शिव के तीन मुख दिखाये गये हैं। उनके मुखों पर नैसर्गिक शक्ति और आध्यात्मिकता विराजमान है। भारतीय देव प्रतिमाओं में यह त्रिमूर्ति सम्भवतः अपनी अनेक विशेषताओं के लिए अद्वितीय कही जायेगी। एलोरा की मूर्तिकला की तकनीक में पूर्णता नहीं है यद्यपि उसकी शैली प्रबल है। एलीफेण्टा के अर्द्धनारीश्वर तथा त्रिमूर्ति या महेश मूर्ति के आलेखन में ईश्वर को तीन रूपों में अंकित किया गया है जो उसके तीन कार्यों को व्यक्त करते हैं: सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार। ग्राउजेट का कथन है कि एक ही देवता की तीन आकृतियों में बिना किसी प्रभाव के एकता उत्पन्न की गई है। सम्पूर्ण विश्व की कला में देवी सिद्धांत का भौतिक प्रतिनिधित्व इतने सशक्त तथा संतुलित रूप में इस स्थल के अलावा और कहीं उपलब्ध नहीं है।

इस शोध प्रबंध के विषय को हम डा० अल्तेकर के निम्नलिखित कथन से समाप्त कर सकते हैं: 'दक्षिण में लगभग 753 ई० से 975 ई० तक राष्ट्रकूट वंश की सर्वोच्चता का काल सम्भवतः इसके इतिहास का सर्वाधिक गौरवमय अध्याय है। अठारहवीं शताब्दी में मराठों के उदय से पहले दक्षिण के किसी अन्य राजवंश ने भारत के इतिहास में ऐसा प्रमुख भाग नहीं लिया। इसके कम से कम तीन शासक, ध्रुव, गोविन्द तृतीय और इन्द्र तृतीय अपने विजय अभियान उतरी भारत के मध्य तक ले गए और उसके सर्वाधिक शक्तिशाली शासकों को पराजित करके उन्होंने उसके इतिहास की धारा ही बदल दी। दक्षिण में भी उनकी सफलताएं अपूर्व थीं और कृष्ण तृतीय अपनी विजय यात्रा में वस्तुतः ही रामेश्वर तक पहुँच गया। उत्तर के प्रतिहार और पालवंश और दक्षिण के पूर्वी चालुक्य और चोलवंश, भारत की सभी महान शक्तियों को उन्होंने जो एक या दूसरे समय पर अपने अधीन किया। निस्सन्देह कभी-कभी उन्होंने हार भी खाई किन्तु कुल मिलाकर अपने शक्तिशाली शत्रुओं के विरुद्ध उनके सैनिक अभियान

हर-बार सफल हुए।

स्थायित्व की दृष्टि से भी राष्ट्रकूट राजवंश का महत्व काफी अधिक है। राष्ट्रकूटों का साम्राज्य 225 वर्षों तक कायम रहा। बहुत कम हिन्दू राजवंशों का गौरव इतने अधिक समय तक बना रहा। इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिणापथ को राष्ट्रकूट राजाओं ने राजनीतिक उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचा दिया था।

शोधकर्त्ता,
प्राचीन इतिहास एवं एशियाई अध्ययन विभाग,
मगध विश्वविद्यालय (बोधगया)

संदर्भ सूची

1. मारकण्डेय पुराण, चेप्टर, 57, V.45.
2. बुल्डाना, डिस्ट्रि० गजेटियर, पृ० 107-08
3. 'सेतु नर्मा मध्यम दक्षिणापथम्'
4. रामायण, अयोध्याकांड,
   दिशामास्थाय केकेयि दक्षिण दंडाकान् प्रति।
   वैजयंमिति ख्यातं पुरं यत्र मिध्विज:।।
5. महाभारत, III, 85, 37. ततो देवहूदे रम्ये कृष्णवेणा जलोद्भवे।
6. Raychaudhuri, Hemchandra. The Geogrephy of the Decan in Early History of Deccan, Oxford, 1960, p.4.
   Wide down, rolling plains with hervest, fantastic tors and logans, luxuirant forests, rivers tumbling over percipices and leaping in wide water-falls, and streams foaming the wild torrents along their rugged rocky beds, combine in one superb panorma the varying aspects of awa and beauty. Gold-bearing rocks and cotton bearing black soil, alluvial tracts and ravins rich in diamond mines, added to the natural wealth of the country as the Singareni coal-mine does at the present day.
7. Ibid, p.6
8. Ibid, pp. 6-7
9. A.P. Madan, New History of the Rastrakutas, New Delhi, Harman Publishing House, 1900, p.
10. देशाम्..... अशेष्सस्य प्रचुर फलयुतम्।
11. ए०पी० मदान, पूर्वोद्धत, पृ०3
12. जी० याजदानी, (सं०) दकन का प्राचीन इतिहास, नई दिल्ली, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दि अर्ली हिस्ट्र ऑफ दि दकन का प्रथम हिन्दी संस्करण, 1977
14.
15. T. Watters, On Yuan Chwang's Travels in India, p. 237.
16. बालमिकी, रामायण, IV, 41, 10.
17. वाण ने समकालीन चीनी यात्री युवान-चवांग के कन्नड़ प्रदेश के क्षेत्र में द्रविण प्रदेश में एक ऐसे जंगल का वर्णन किया है जिसमें हत्यारे दस्युओं को झुंड के झुंड रहते थे और इस अंतिम प्रदेश से महाराष्ट्र के मार्ग में एक बहुत बड़ा जंगल था जिसमें जंगली जानवर और लुटेरे भरे थे।

सहायक ग्रंथ-सूची

अ) मूल आधार ग्रंथ

अभिलेख-

प्रारंभिक राष्ट्रकूट

हिंगनी विरदी अभिलेख, अ०इं०, पृ० 174-77
तीवरखेड राष्ट्रकूट अभिलेख, अ० इं०, पृ० 276-80
उंदकवंतिका ग्रांट ऑफ अभिमन्यु, पृ० 163-66

राष्ट्रकूटवंश का उदय

दशावतार गुफा अभिलेख, एलोरा ए०स०ब्लू०इं०, पृ० 87
एलोरा लेख (दंतिदुर्ग), अ० इं०, पृ० 25
समंगद लेख, इं०हि०क्वा०, पृ० 183

कृष्ण प्रथम

बरोदा अभिलेख, अ०ए०, पृ० 228
भारतीय इतिहास समशोधक मंडल लेख, पृ० 165-80
तेलगांव ताम्र-पत्र, अ०इं०,पृ० 275-82

गोविन्द द्वितीय

अल्लास लेख, अ०इं०, पृ० 208-13
धुधिया लेख (कर्कराज), अ०इं०, पृ० 182.87

राष्ट्रकूटवंश का राजा

राष्ट्रकूटकालीन दौलताबाद लेख, अ०इं०, ix पृ० 193-98
नरेगल लेख, अ०इं०, vi पृ० 162
पतदक्कल अभिलेख, अ०ए०, xi पृ० 125

गोविन्द तृतीय

Begumra Grant of Indra, III, EI, IX, pp. 24
Grant of the time of Indra, III, EI, XXXII, p,. 45-54

Jambgaon plates of Indra, III, EI, XXXVI, pp. 233-38

गोविन्द चतुर्थ

Andura Plates of Govinda IV, EI, XXXVI, pp. 257-72

Kalas Inscription of Govinda IV, EI, XIII, pp. 326-28

Sangil plates of Govinda IV, IA, XII, P. 249.

अमोध्वर्ष तृतीय और कृष्ण तृतीय

Atakur Inscriptions of the time of Krisna III, EI, pp. 167-74

Gunder Inscription of Amoghavarsa III, IA, XII, p.270.

Inscription from Chitaldroog, EC, XI,

Karhad Plates of Krisna III, EI, IV, pp. 278-90.

Kharda Grant of Amoghvarsa III, IA, XII, p.263.

Kolhapur Copper Plates, JBBRAS, X, p.21.

खेट्रिग तथा कर्क द्वितीय

Hulgur Inscription of Khottiga, EI, XXXIV, pp. 61-64

अन्य अभिलेख

खजुरोहो लेख

समंगद लेख

समंगद ताम्रपत्र लेख

सूरत लेख

धुलिया एवं पिम्पेरी लेख

दौलताबाद ताम्र पत्र

वनी डिण्डोरी अभिलेख

रधनपुर अभिलेख

करहद दानपत्र भाग-4

कोल्हापुर ताम्र पत्र

कांकण अभिलेख

ऐहौल शिलालेख

नासिक अभिलेख

मैडावोलु अभिलेख

साहित्यिक स्त्रोतः

वाणभट्, कादम्बरी सं०पी०पीट्रर्सन, बम्बई, 1900

कालिदास, रघुवंश (सं०), एस०पी० पंडित, तीनों खण्ड,

कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तलमृ, बी०एस०एस०, बम्बई, 1869.74

राजेशेखर, कपूर मंजरी, (सं०) कनोव और लेंमन, हाबर्ड ओरिंयटल सेरीज, 1901

राजशेखर, काव्यमिमांसा, जी०ओ०एस० 1916

सोमदेव, यशित्लकचम्पू, (सं०) शिवदत्त और पर्व, के०एम० बम्बई, 1901.3

सोमदेव, भरतनाट्यशास्त्रम्

के०टी०तेलंग (सं०), विशाखदत्त मुद्राराक्षस, वी०एस०एस०, तृतीय संशोधित संस्करण, बम्बई, 1900

कौटिल्य, अर्थशास्त्र

काव्य और महाकाव्यः

महर्षि बाल्मीकि प्रणीत, श्री मद्वाल्मीकीय रामायण, दोनों भाग, आठवां संस्करण, गीताप्रेस गोरखपुर, एन०डी०

महर्षि वेदव्यस प्रणीत, महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर

ब्रह्मपुराण,

मारकण्डेय पुराण, संपादक के०एम०वनर्जी, कलकत्ता, 1862

रीलमदभागवत पुराण, बम्बई, 1905

विष्णु पुराण

तुलसीदास कृत, रामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर

ऐतरेय ब्राह्मण

उत्तर पुराण

मत्स्य पुराण, संपादक, जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता, 1876

अग्नि पुराण, अनुवाद, एम०एन०दत्त, कलकत्ता, 1903-04

Research Paper

Bandana Kumari

Investigate Factor of Mahadalit and Dalit High School Students

The measurement of intelligence did not become popular until emphasis had shifted from the simple reaction-time and sensory-motor tests of Galton to the complex types of tasks of Binet. Galton and Cattlet, who were theoretically oriented, believed that their tests measured the basic units of mental capacity. On the other hand, Binet faced the practical problem of differentiating between defective children and those who were lazy. As we have seen, it eventually became apparent that the sensory-motor tests would not do what was expected of them, i.e., correlate well with academic success. However, the Binet type of test proved immediately useful; and while Binet's procedures did not take hold in this country right away, they eventually became the core of the great testing movement later on. The Binet tests were useful because they succeeded in differentiating between children of various age and grade levels and made possible the prediction of the child's progress in school.

Though Binet's theoretical approach was vague and not formally worked out, it was a global one. He assumed that intelligence was a single general attribute. Most of the people who measured intellectual capacity after Binet were clinicians. They were interested in measures that worked because they were dealing with children or adults in the clinic or school system. The global concept of intelligence seemed to be successful and became firmly established in the succeeding years.

Definitions. Let us look at some of the definitions of intelligence that have been proposed. Freeman (1950) classifies these definitions into four types. The first places its emphasis on the adjustment of adaptation of the person to his total environment or aspects of it. In 1914, for example, Stren wrote, "Intelligence is a general capacity of the individual consciously to adjust his thinking to new requirements."

The second type of definition discussed by Freeman stresses learning ability as the important feature in intelligence. The idea of intelligence being characterized by learning ability or related to is has interested a number of investigators. The problem is complicated by the fact that intelligence scores are not really independent of learning. Nevertheless investigators have correlated rate of learning with intelligence test scores. In virtually all these studies the relationship has been positive. Depending upon the type off material to be learned, the correlations range from 0 to .80. Multiple correlations between intelligence and several learning tasks tend to be higher than the single-order correlations. This sort of work has allowed us to say that, depending upon the material, a positive relationship exists between intelligence and ability to learn. What the true relationship are we cannot legitimately say because of the extreme range of correlations found.

A third type of definition of intelligence has stressed the ability to carry on abstract thinking. Terman's (1921, p.- 128) definition is a good example of this kind of concept. He writes, "An individual is

intelligent in proportion as he is able to carry on abstract thinking." In this connection it is interesting to note that studies comparing intelligence test scores with problem-solving tasks which involve abstract relations, reasoning tasks, and inference situations have correlated little better, on the whole, with intelligence than the simple learning of verbal material and perceptual-motor skills. Our current intelligence tests stress abstract concepts of intelligence.

Finally, there is a class of definitions that attempts to be broader in scope than any of the foregoing ones. These definitions are more comprehensive in the sense that they combine and enlarge the other three types of definitions. For example, Wechsler (1944) states that "Intelligence is the aggregate or global capacity of the individual to act purposefully, to think rationally and to deal effectively with his environment." Stoddard (1943) maintains that "intelligence is the ability to undertake activities that are characterized by (1) difficulty, (2) complexity, (3) abstractness, (4) economy, (5) adaptiveness to a goal, (6) social value, (7) the emergence of originals, and to maintain such activities under conditions that demand a concentration of energy and a resistance to emotional forces."

In examining this sample of definitions which have been published by well-known psychological scholars, several questions arise. In the first place it is clear that the tests we have available do not measure all the aspects that have been attributed to intelligence by these definitions. It has been pointed out again and again by clinicians like Doll (1941), Sarason (1949), Jastak (1934), and others that two feeble-minded children with the same score on the Stanford-Bined may behave quite differently with regard to social effectiveness. It is not always possible to ddecide whether these children should be institutionalized on the basis of the IQ alone. Therefore, the section in Wechsler's definition of intelligence which deals with ability to "deal effectively with his environment" does not apply to the measurements derived from out most useful intelligence tests. This example of the void between definitions of intelligence and its actual measurement can be multiplied many times.

How, then, do most of the definitions of intelligence come into being? In part they are based on a collection of armchair ideas resulting from the observation of people inside and out of the psychological clinic. They also arise from inspection of what intelligence test scores actually predict. In any case they do not really define the nature of the mental organization. They more or less identify what the intelligent person can and cannot do with a variety of problem situations. The definitions are logical and descriptive statements which are often stated in such a way that it is difficult to have any idea of how the kind of intelligence specified can be measured. Examine the definition given by Munn (1946) in his introductory textbook on psychology. He writes, "Intelligence is flexibility or versatility in the use of symbolic process." But what Munn means by the words flexibility and versatility is not made very clear.

When we examine the definitions of intelligence discussed above, we notice that they assume that intelligence is some kind of general attribute more or less of which exists in everyone and which determines how any individual will be able to deal with various kind off problem situations. This global concept has been extremely popular because it has been so successful in a practical sense. Most off our best tests still give us single estimates of intelligence. However, this sort of assumption leaves no room for postulating that a number of independent capacities make up the mental organization and that the same individual may have a high capacity for one type off function but a poor capacity for another. We shall see that this is exactly what has been proposed by some present-day theorists. In the following sections we shall discuss the main theoretical points of view which have been held concerning the nature of intelligence.

Faculty Psychology : We have stated in the historical introduction that, in the eighteenth and nineteenth centuries, considerable interest was awakening in the problems of mental deficiency. The philosophers had already written and speculated a great deal concerning the nature of the intellect. The elemental unit of the mental organization was thought of as sensations which by combination and association were organized into perceptions. These perceptions

could be still further elaborated and generalized into concepts. The function of the intellect was considered to be the building of perceptions out of sensations and the construction of conceptions from perceptions.

To accomplish its abstract function, the mind had at its disposal a number of "faculties" such as memory, judgment, attention, reasoning, imagination, etc. These faculties were thought to be like muscles which could be developed by exercise. For example, if a man exercised his faculty of judgment on one problem, the effect of this practice would be to improve his judgment for any other kind of problem. This elaboration of the idea of mental faculties was called the doctrine of "formal discipline," and it influenced education almost up to the present time.

In the early twentieth century Thorndike and Woodworth did the most to eliminate the doctrine of formal discipline from sophisticated thinking by their experiments on transfer of training. But the conceptions of faculty psychology remained a strong influence on theoretical thinking. This influence was one of the reasons that the sensory-motor tests resisted for a long time the European preference for measuring more complex functions in predicting intelligence. The sensory-motor test appeared to many psychologists as the atom (or basic unit) of the mental faculty through which the process of organization of sensations and perceptions could be studied. The theory of faculties was quite incompatible with the concept of general intelligence which was to follow:

The Two-factor Theory. In 1904 Spearman published his first analysis of intelligence. This work was essentially statistical in nature and was further elaborated and revised in the abilities of man (1927). Spearman believed that all intellectual activity contained some element or factor in common. This G, or general factor, was postulated to be important in every mental act, although some acts were thought to depend upon it more than others. The difference between people in intelligence was a matter of how much G they possessed. This general factor Spearman called "mental energy." The variation in measured intelligence that was not explainable in terms of this general factor was attributed by Spearman to specific factors, or S. There were many different specific factors. Those which occurred in a large number of different acts of a particular type, but not all of them, were called group factors. Not only did individuals differ in the strength of the G factor, and therefore in their amount of intelligence, but they also had different kinds and amounts of S factors. Because of this, there were great individual differences in the patterns of ability. Two people of the same general intellectual level might be found to have very different talents and deficiencies. But the important thing for Spearman was how much of this general factor they had.

Spearman's analysis of intelligence was actually an interpretation of certain observations which anyone can make. They theory grew out of the observation that there are correlations between the various measurements of intellectual performance. If a large series of different kinds of intelligence test items like memory, reasoning, perceiving relationships, etc., were given to many people, all the intercorrelations for this series of tests could be arranged in what is called a "correlation matrix."

The Multifactor Theory. One of the sharpest critics of Splearman's two-factor theory was E. L. Thorndike (1926). Thorndike believed that the intercorrelations studied by Spearman were often too small to test the question of a common factor. Moreover, he disagreed with Spearman in his interpretation of the existing observations. He objected very strongly to the idea of the existence of a characteristic such as general intelligence. Instead of one kind of factor, he maintained that there are a large number of separate characteristics which make up intelligence. He argued that there is no generality to intelligence, but rather communality in the acts that people perform. The common element does not reside in the individual but in the nature of the tasks themselves. People differ in their ability to perform any specific act, that is, in terms of the level of difficulty they can manage. They also differ in the range or number of tasks they can perform. For Thorndike, intelligence was more like a series of skills or talents. Several or many tasks may call for the same kind of ability. The correlations between various tests are the result of the fact that the tests have features in common

with each other even though they are called measures of different things.

At first glance Thorndike's theory appears to be a thoroughly atomistic one. Intelligence is said to be composed of a large number of separate factors or elements. There is no general intelligence but very specific acts. The number of these depends upon how broad or narrow a classification one can or wants to make. However, some tasks have so many elements in common that it is desirable to classify them into groups. We could classify tasks into such categories as arithmetical reasoning, visual perception, word meaning, etc. Despite the atomistic theoretical approach, Thorndike has actually seen fit to classify intellectual activity into three broad types: social intelligence, concrete intelligence, and abstract intelligence. Notice that this is classification of types of tasks and not an analysis of the mental organization itself. For Thorndike the mental organization consists of a multitude of simple intellectual acts.

We shall see later this discrepancy of point of view between Spearman and Thorndike is basically a theoretical one and does not greatly affect what one does in the actual measurement of intelligence. The types of tasks which interested Thorndike are essentially the same as the measures which Spearman threw into his correlation matrix.

We might note that among the other critics of Spearman is G.H. Thompson (1939), who has argued that the intercorrelation between tests are the result of common samplings of independent factors. If the tests incorporate many of these independent factors in common (i.e., the tests are all measuring some of the same factors). They will be highly intercorrelated and it will appear as though they are measuring one general factor. This concept is similar to Thorndike's, but unlike Thorndike, Thompson accepted the practical value of the concept of G.

The Factorial Approach. In about 1927, L.L. Thurstone under took an approach to the study of intelligence which was based upon the analysis of intercorrelations between the various tests of intelligence along the lines of Spearman's earlier work, Using improved techniques of statistical analysis, Thurstone came to vastly different conclusions from Spearman about the nature of intelligence. He published an intelligence test based on the results of his factor analysis and has continued to work along these liens up to the present time. Recently Raymond Cattell (1946) has extended the factor analysis techniques to the study of personality. It is unnecessary to attempt an exposition of the factorial techniques here. This is a subject which is discussed at length by most major textbooks on testing and statistics. In short, the technique seeks to determine and define the minimum number of variables or factors which will account for all or most of the variation in intellectual performance.

The procedure, as in the case of Spearman's analysis, involves the presentation of large batteries of intelligence tests to large numbers of subjects. Ideally these tests should comprise all the possible types of measurements that psychologists could agree are related to intelligence. Tests which correlate highly with other tests are measuring some of the some things while tests which have little or no relationship have nothing in common, consequently, by the appropriate statistical analysis off the correlation matrix, it is possible to extract a number of factors of variables which have nothing in common with each other but which together account for most of the variation in intellectual performance. By inspection of the tests which have the largest amount of any particular factor (high intercorrelations), the factor analyst then attempts to give that variable a name which best describes the function measured.

The series of factors which are extracted from a correlation matrix do not all have the same importance. Some of them account for more of the variation in performance than others. The first factor which is extracted is the one which accounts for the greatest proportion of the total variability. The remaining variation is called the first residual from which a second factor is extracted, then a third, and so on until most or all of the variability is accounted for or until the residuals are not large enough to make further extraction of factors worth while.

In his writings on the subject Thurstone argued that intellectual performance was an expression of a number of factors rather than a common general

factor. For him the goal of intelligence test construction should be the isolation of the primary factors and the construction of tests which measure individually each of these factors. In his earlier work (1935-1938) Thurstone announced a number of factors which he believed made up intellectual (*N*), verbal relation (*V*), memory (*M*), word fluency (*W*), induction (*I*), reasoning (*R*), and deduction (*D*). In later studies there has been some modification of this list. In 1943, for example, Thurstone listed six factors, with induction eliminated altogether, and perceptual and deductive uncertain.

Summary and Overview. For convenience in thinking it is possible to place the three theoretical approaches to the nature of the mental organization on a continuum. At one extreme lies the atomistic view of Thorndike which stresses a large number of mental elements. These separate elements act in combination in any mental act and may seem to be general in nature because of common elements among the various intellectual tasks that people are required to do. At the other extreme is the global concept of Spearman which suggests that some general quality off the mental organization pervades every mental act even though there may be specific abilities which determine the unique quality of a particular individual's performance. And finally, between these two falls Thurstone's view that not one general factor, nor a large number of specific factors, but a small number off independent factors make up the mental process.

All three points of view begin with somewhat different assumptions about the mental organization. Consequently they reason differently about the essentially similar data which they are analyzing. From the same correlational matrix it is possible to arrive at these opposing beliefs since the data themselves do not directly answer the question. Even the tests which Thurston designed to be measures of the independent factors of intelligence are correlated with one another, which suggests that some additional factor or factors are contained in the measures. In an effort to be eclectic it has been proposed by some that Spearman's G corresponds to Thurston's first primary factor. In any case the question of the adequacy of the three theories to explain all the facts remains unsettled.

In discussing the factorial approach to intelligence it might be well to refer to some studies on the relationship of age to the inter-correlation between intellectual factors such as verbal, numerical, and spatial. Garret (1946) presented controversial evidence that in children there appears to be more evidence off a general factor (higher inter-correlations) such as Spearman suggested, than in adulthood. Garrett writes, "The conclusion which I draw from these data is that over-all ability (g) which looms large during the elementary school years becomes progressively less important at the high school and college level, where factor studies have shown it to be negligible or quite small." At the high-school and college levels, abstract intelligence appears to become dismembered into specific components or more independent factors. Later research and critical reviews of Garrett's concept essentially discredit this point of view. Failure to control such factors as task difficulty and differing variability at different age levels probably account for Garrett's finding. The dismemberment concept can probably not be adequately tested for methodological reasons, although it is an interesting attempt to bring together the Spearman and Thurston points of view.

One of the chief limitation in the approaches discussed above concerns the fact that the correlation matrix from which all three theories are derived depends upon what tests are included. Intelligence is what we call certain kinds of activities which we can measure only through certain kinds and sample of behaviour. The tasks one includes to measure these behaviour depend upon many complex considerations, not the least of which is one's cultural frame of reference. The entire argument may tend to become circular, since the types of tests we include depend on our prior notion of what intelligence is. For example, if the correlation matrix contains no tests which depend on speed, then speed will not appear as a factor in our factor analysis. However, if we have decided in advance that speed is one of the variables our tests should measure it, and further it may appear as an important source of variation in our battery of tests.

The factor analysis does not claim that the number

of factors is fixed or even known. This point has not always been made clear. There is no doubt that the adequacy of this type of analysis depends entirely upon the appropriateness of the measures one selects in the first place. We are always dealing with a limited sample of behaviour. This fact has been the primary criticism of factor analysis. The objections do not tend to lie with the statistics but with the raw data themselves. This argument applies to all three of the theoretical approaches. Examination of the inter-correlations will not put into the formula what is not already there. It has been suggested that these limitations reduce all three of the approaches to mere conceptual models on which to pattern our thinking and that the real nature of intelligence cannot be understood by factorial methods. Few people deny, however, that such models are useful, or even at times necessary, for research into the problem of the nature of intelligence.

The Faculty of Social-Science (Psychology)
Magadh University
Bodh-Gaya

Reference

- Bossard, J.H.S. and Boll, E.S. (1955): Personality roles in the family. *Child Development,* 26, 71-76.
- Brembeck, C.S. (1966) *Social foundation of education: A cross Cultural Approach.* New York, John Willey and Sons; Inc. p.202.
- Cautela, J.R. (1959): The factor of Psychological need in occupational choice. *Personnel and Guidance Journal,* 8, 46-48.
- Centers, R. and Cantril, H.(1946): Income satisfaction and income aspiration. *J. Soc. Psychol.,* 41, 64-69.
- Champman, D.W. and Wolman, J. (1939): A social determinant of level of aspiration. *Journal of Abnormal and Social Psychology,* 34, 225-238.
- Child, I.L and M.K. Bacon (1955): Cultural pressures and achievement motivation in P.H. Hochand J. Zubin (eds.) *Psychopathology of Childhood.* New York :Grune and Stratton, pp. 166-176.
- Cattell,R.B. & Halla Beloff (1969): High School personality questionnaire (HSPQ) Published by the Institute for Personlity and Testing, 1602-04 Coronado Drive, Champaign, Illinois, U.S.A.
- Cattell and Dredahl, J.E.A. (1955): A comparison of the personality profile (16 P.F.) of eminent researchers with that of eminent teachers and administrators and of the general population British Journal of Psychology, 46, 248-261.
- Cattel, R.B. (1954): The personality and motivation of research scientists, Wernner-Grin Prize, Essay, New York Academy of Sci.
- Cattell, R.B. (1963): The Personality and motivation of the researcher from measurement of contemporaries and from iography, In C.W. Taylor & F Barron (EDS) Scientific Creativity its Recognition & Dev. N.N.
- Catell, R.B. and Butcher (1968): The prediction of achievement and creativity. N.Y. Bobbs-Merrill.
- Cartledge, C.J. and Kreuser, L.L. (1971): Training First Grade children in creative thinking under quantitative motivation. Journal of Educational Psychology, 54, 295-299.
- Chinoy, E. (1962): The tradition of opportunity and the aspiration of automobile workers. *Amer. J. Social LVIII;* 453-459.

Research Paper

Role of Child And Mother in the Field of Child Development

Dr. Shobha Kumari

Keyword's :-

Children
Education
Family relationship
Father's role
Mother's role

Introduction :-

When the word child comes out of the mouth, boys and girls in the age group of 8-9 years to 15-16 years are in front of you.

You should do some work. Your parents or guardians or teachers do not expect that you will go to the border of the country and fight, fight the war. You are a child, there are many fields of service to work for the country, nobody expects you to fight in war. But complete the work that is in your hands in the best possible way, it is a great service to the country and parents.

You are a student, do the work that your mentor tells you, from time to time without laziness or apathy - this is expected of you. You will remember the story of Acharya Dronacharya. He found a unique way to test his students. The lesson was of concentration. A fake bird was placed on the tree's high cast and the pupil of his eye had to be pierced. Dronacharya asked the disciples many questions; The bird is looking, the eye is visible, the tree is seen, the water is seen, the pond is seen, the cow is seen grazing nearby grass, the sky is visible, the tree is showing nearby, etc. Many questions. The students kept answering, some students even said that the clothes drying in the ashram are also visible or the food made in the dining room is also visible, the chef is also seen. You must have told your teacher that Guru Dronacharya, after getting answers to these questions, failed his four students in the examination. It was the turn of the fifth student to take the exam, he did not answer all the questions - did not accept to see anything. Guru ji got confused and asked, what do you see? The fifth student said - I am seeing the pupil of the eye - only the pupil of the eye, not even the whole eye. Guru ji allowed him to pierce the pupil of the eye, release the arrow. The student obeyed and released the arrow and the second moment the bird was on the earth. Who were these disciples? If you do not know, then ask your Guru.

One lesson you have to learn from this exam today is that of concentration. Take the task in your hand, complete it with all your heart, with full concentration. Your job is to pass the exam of the class in which you are a student with the highest score, after making all the preparations, write the best answer in the exam - this is what your parents and teachers expect from you.

You cannot read for 24 hours or talk about reading, you should not postpone your parents' work or not, it is not a good habit. If you get bored while reading, then the cow can be fed water or the father can be fed food on the farm. Thus, you will not have to do the same thing continuously, indifference will not come. Experienced people say that changing work is rest, you will not get bored by changing work.

Parents told that do not waste time doing some work. You must have also heard the story of Shravan from your grandmother or mother. Shravan made his blind parents sit in Kawad and traveled to all the pilgrimage centers. Shravan considered himself blessed by receiving the blessings of his parents.

You will get pocket money from Dad. You will use it for health-related things - for food or for text. One more good use that can be suggested to you is to help your needy partner, pay his fees. He may be in difficulty.

Sometimes a disabled or handicapped person can meet you on the road - help her. He is also a child like you, son of God. He needs your help. You are expected to help him. His blessings will give you success.

If you have to sit in a bus or buy a ticket or drink water from the aquarium, wait for your turn to come. It should not be so that you do not care about the crippled or thin-skinned fellow, or you push him ahead of the crowd. He ran away from being crippled or disabledcannot. But you are expected to follow the rules, be sympathetic, help him and wait till your turn comes.

Many jubilees, festivals and festivals are celebrated in the school. Whether it is Buddha Jayanti or Tulsi Jayanti, Holi or Diwali, Eidul Fitr or Christmas Day, Krishna Janmashtami or Pongal, Raksha bandhan or Lohri, you should contribute equally enthusiastically on the celebration of all these festivals. This will broaden your field of thinking, you will know the good things of all religions and will make up your mind to follow them. This is the lesson of sensitivity to your peers.

Make sure not to be lazy. Whenever there is any difficulty, do not understand anything, ask your teacher politely, do not hesitate. Seek help from your books at home too, see the dictionary when needed. Whenever there is doubt about the composition of a word, immediately look at the dictionary without laziness and clear the doubt. The word composition seen at such a time is remembered permanently.

Sports have an important place in school activities. It is said that the lesson of cosmetics can be learned more effectively in the playground than in the classroom. Many qualities are developed through sports, the role of sports is very important in the development of social, mental, physical, emotional stability, etc. Muscles become strong, empathy, sensitivity develops, learning sacrifice for others. While some sports require high intelligence, some sports require overall attention.

Some well-endowed schools also have a small zoo or a zoo for boys. You do not have to ridicule these animals, do not tease them, do not suffer. You are expected to be kind to them.

Some schools also have a garden - you do not have to pluck flowers, do not spoil the greenery of the garden by walking in the middle. For students of botany of these gardensgreat utility is the last.

But important is to believe in God, accept his authority. Everything is predetermined by his will, everything happens according to that, will also happen in the future. Thank him that you were born on this earth in human form. Be sympathetic to the Dalits, the victims, they are also part of God. By having sympathy, kindness and love towards them, they will be satisfied, give blessings; In turn, you are becoming the blessed character of the Almighty God.

Just, if you have taken care of certain things mentioned above in your behavior, then you will always be dear to your parents and dear students of your teachers.

Even what was said was only for children. But the biggest role of the mothers is to assess the development of the child properly. It is said that "the father dies and the mother dies". This statement means that children are closer to their mother. The role of the mother is always to look after the nature of the children and pay attention to her habits. If it is missed somewhere, then there is no chance to handle it later.

Abstract :-

Children are society's most critical foundation and backbone who shape its future progress and that of all humanity. By considering the utmost importance of child in the society, this chapter explains and systematizes what is the prominent role of family in childcare for child development.

An elaborate discussion on the factors co-ordinating child development is attempted, including

the biological factors, physical environment, culture, group membership, personal experience. An attempt is also made to present that parents play an important role in shaping up good behavioural patterns of their children. Further, how maternal employment affects child development and previous researches on the roles of mother, father and siblings in child development are addressed. Family solidarity and family disintegration that play a major role in bringing out positive or negative outcome of children are addressed. In particular, how divorce affects a child's behaviour and its consequences particularly child's violent behaviour is discussed in detail with the help of previous researches on this topic. Finally discussed is that how child abuse and neglect negatively affect the child development.

Conclusion :-

From all what was said so far, we may conclude that the education in the premises of a family life, has a double meaning: Firstly, it must be seen through the perspective of its contribution to the overall child raising up and education, which is crucial to his/her proper formation of children's personality and further on, his/her preparation for leading an independent life.

On the other hand, the focus must be put on the family as whole, and the role of children which must be based on their approach and contribution concerning family problems, which should be dealt with, and finally solved by them. Offering education support to children from their parents, concerning issues such as homework, would help children to create an everyday routine of learning.

This approach as such should be stimulated by the parents themselves, by praising, vaunting and rewarding the children regarding the way they perform on this task.

This approach as a value would raise within the children the sense of respecting the other family members. Using this education and bringing up methods while raising children, may be considered as one of the best known examples towards a positive overall approach to the educative and formational function with the children, who later on become successful grown up citizens.

Offering educational support to them, from their parents, concerning issues such as preparing their homework, on the other hand creates the so called habits of every day routine of action to the learning process, which makes the parents vaunt and praise them, creating and strengthening this way better mutual communication between the parents and children. And again, rewarding and praising the child, is a real stimulator towards abetter mutual respect and closeness between all members as a compact family

Department of Home Science,
L. N. Mithila University,
Darbhanga, Bihar

Reference

- Aikins, J. W., Howes, C. and Hamilton, C. (2009) Attachment stability and the emergence of unre-solved representations during adolescence, Attachment & Human Development, 11(5): 491-512.
- Ainsworth, M. D. S. (1989) Attachments beyond infancy, American Psychologist, 44(4): 709–716.
- Allgood, S. M., Beckert, T. E. and Peterson, C. (2012) The role of father involvement in the perceived psychological well-being of young adult daughters: a retrospective study, North American Journal of Psychology, 14(1): 95–110.
- Amato, P. R. (2005) The impact of family formation change on the cognitive, social, and emotional well-being of the next generation, The Future of Children, 15(2): 75–96.
- Anderssen, N., Amlie, C. and Ytteroy, E. A. (2002) Outcomes for children with lesbian or gay parents: a review of studies from 1978 to 2000, Scandinavian Journal of Psychology, 43: 335–351.
- Attar-Schwartz, S., Tan, J. P., Buchanan, A., Flouri, E. and Griggs, J. (2009) Grandparenting and adolescent adjustment in two-parent biological, lone-parent, and step-families, Journal of Family Psychology, 23(1): 67–75.
- Atwool, N. (2006) Attachment and resilience: implications for children in care, Child Care in Practice, 12(4): 315–330.
- Audet, K. and Mare, L. L. (2010) Mitigating effects of the adoptive caregiving environment on inattention/overactivity in children adopted from Romanian orphanages, International Journal of Behavioural Development, 35(2): 107–115.

शोध-पत्र

डॉ. रंजु कुमारी

मनरेगा और पंचायती राज की भूमिका का विश्लेषण

देश की करीब 70 फीसदी आबादी गाँवों में रहती है। ग्रामीण का पलायन रोकने और उन्हें गाँव में ही रोगजगार मुहैया कराने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से विभिन्न योजनाएँ चलाई जा रही हैं। यूपीए सरकार ने इस दिशा में दो कदम आगे बढ़ते हुए हर व्यक्ति को रोजगार मुहैया कराने की चुनौती स्वीकार की। चूँकि ग्रामीण विकास के लिए ग्रामीण भारत से गरीबी और भुखमरी हटाना है। ग्रामीण क्षेत्रों में गाँव और शहर के अंतराल को पाटने खाद्य-सुरक्षा प्रदान करने और जनता का मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए सामाजिक और आर्थिक आधार पर लोगों को सुदृढ़ कराना जरूरी है, इसलिए सरकार की ओर से एक नई पहल की गई।

यूपीए सरकार ने विकसित एवं विकासशील देशों की स्थिति की समीक्षा की और तय किया कि वह देश के हर नागरिक को रोजगार उपलब्ध कराएगी। बेरोजगारी विकास में किसी न किसी रूप में बाधक बनती है। न्यूनतम साझा कार्यक्रम की तरह सरकार की ओर से ऐसे प्रावधान बनाए गए कि यदि किसी भी व्यक्ति को रोजगार नहीं मिलता है तो उसे बेरोजगारी भत्ता देना सरकार की जिम्मेदारी होगी। इसी जिम्मेदारी की उपज है राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना (एन.आर.ई.जी.ए.) यानी 'नरेगा'। इस योजना का नाम दो अक्टूबर 2009 से महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना कर दिया गया। हालांकि पूर्ववर्ती सरकारों की ओर से भी ग्रामीणों को रोजगार मुहैया कराने के लिए विभिन्न प्रयास किए जा चुके हैं। इसके तहत अब तक सरल मैनपावर (आर.एम.पी.) (1960-1961) क्रेश स्कीम फॉर रूरल एम्प्लायमेंट (सी.आर.ए.एफ.ई.) (1971-1972), नमूना सघन ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (पी.आई.आर.पी.) (1972) लघु कृषक विकास एजेंसी (एस.एफ.डी.ए.) सीमांत कृषक एवं कृषि श्रमिक योजना (एस.एफ.ए.एल.) आदि कार्यक्रम चलाए जा चुके हैं। समय और जनता की जरूरत के हिसाब से योजनाओं को परिभाषित कर नए रूप में लोगों के सामने पेश किया गया। वर्ष 1977 में काम के बदले अनाज योजना शुरू की गई। अस्सी के दशक में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आर.ई.पी.) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम शुरू किए। इसी तरह जवाहर रोजगार योजना (जे.आर.वाई.) (1993-1994) रोजगार आश्वासन योजना को मिलाकर वर्ष 1990-2000 में जवाहर ग्राम समृद्धि योजना को मिलाकर वर्ष 1990-2000 में जवाहर ग्राम समृद्धि योजना शुरू की गई। 2000-2001 में इस कार्यक्रम को सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना तथा 2005 में राष्ट्रीय काम के बदले अनाज योजना कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया। इन योजनाओं के बाद भी हर व्यक्ति रोजगार से नहीं जुड़ पाया।

वर्ष 2005 में यूपीए सरकार ने राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना अधिनियम पारित किया। इसे 2 फरवरी 2006 को देश के सबसे पिछड़े 200 जिलों में शुरू किया गया। बचे हुए अन्य जिलों में अर्थात् सम्पूर्ण भारत में 1 अप्रैल, 2008 से लागू किया गया। इस अधिनियम के तहत हीं महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना का संचालन हो रहा है जबकि स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना के जरिए स्वरोजगार प्रदान किया जा रहा है।

एन.आर.ई.जी.ए यानी जिसे ज्यादातर इलाके में नरेगा के नाम से प्रसिद्धि मिली है। इस कानून को 7 सितम्बर

2005 को अधिसूचित किया गया। इसमें व्यवस्था की गई कि रोजगार माँगने वालों के लिए रोजगार की व्यवस्था करना सरकार की कानूनी जिम्मेदारी है। इस तरह देखा जाय तो इस अधिनियम के बाद देश के हर नागरिक को रोजगार की गारंटी मिल गई। इस योजना में किसी प्रकार की खामियाँ न रहने पाए इसलिए इसे चरणवार लागू किया गया। पहले देश के 200 जिलों में इसे लागू कर स्थितियों एवं भविष्य में सामने आने वाली अड़चनों को दूर किया गया। योजना अपने उद्देश्य में सफल होती दिखी तो इसे अलग-अलग चरणों में पूरे देश में लागू किया गया है। यूपीए सरकार मनरेगा में समय के अनुसार विभिन्न योजनाओं को शामिल करती जा रही है इससे योजना पूरी होती नजर आ रही है। वर्ष 2006-07 में 620.09 करोड़ वेतन दिया गया जबकि करीब 90.50 करोड़ मानव दिवस रोजगार उपलब्ध कराए गए। इस योजना के तहत करीब 8 लाख ऐसे कार्य हाथ में लिए गए जिनका लाभ टिकाऊ संपदा का निर्माण करना था इनमें 54 फीसदी कार्यों का संबंध जल संरक्षण और वाटर हार्वेस्टिंग से है।

पंचायत की जिम्मेदारी बढ़ी:- नरेगा के लिए परिवार का कोई भी व्यस्क सदस्य आवेदन कर सकता है इसके लिए उसे लिखित अथवा मौखिक तौर पर स्थानीय ग्राम पंचायत में अपना पंजीकरण कराना होता है। ये पंयीजन पाँच साल के लिए होता है। समुचित जाँच के बाद आवेदन करने वाले को जॉब कार्ड मिलता है। जॉब कार्ड में परिवार के सभी व्यस्क सदस्यों के फोटो लगे होते हैं। एक फोटोयुक्त जॉब कार्ड आवेदक को नि:शुल्क दिया जाता है। इसके लिए किसी भी प्रकार की फीस जमा नहीं करनी पड़ती। आवेदक को मात्र सात दिन में कार्ड मिल जाता है। जॉब कार्ड मिल जाने के बाद ग्राम पंचायत में लिखित अथवा मौखिक में कार्य के लिए आवेदन किया जा सकता है। आवेदक को यह बताना होता है कि उसे कब और किस अवधि में रोजगार चाहिए। एक बार के आवेदन में उसे न्यूनतम 15 दिन का रोजगार जरूर दिया जाता है। ग्राम पंचायत की यह जिम्मेदारी है कि वह काम के लिए आवेदन मिलने पर आवेदक को तारीख सहित पावती रसीद जारी करे, क्योंकि रसीद पर अंकित तिथि के अनुरूप हीं उसे 15 दिन में रोजगार मुहैया कराया जाता है। 15 दिन के अंदर आवेदक को रोजगार नहीं मिलता है तो उसे दैनिक मजदूरी के हिसाब से बेरोजगारी भत्ता देना होगा। बेरोजगारी भत्ता का हिसाब सम्बन्धित राज्य निर्धारित करती है जो किसी भी हाल में 60 रुपये प्रतिदिन से कम नहीं रह सकती है। इस योजना में सामूहिक रुप से भी आवेदन किया जा सकता है। इस तरह देखा जाये तो रोजगार उपलब्ध कराने की प्रमुख जिम्मेदारी बढ़ गई है वह पहले से ज्यादा सशक्त हो गई है। अब ग्राम पंचायत को अपने गाँव के मजदूरों को काम दिलाने के लिए दूसरों का मुँह नहीं ताकना पड़ता। साथ हीं यह भी फायदा हुआ है कि ग्राम पंचायत प्रस्ताव पारित करके ज्यादा से ज्यादा विकास कार्य कर सकती है।

क्रियान्वयन की तरकीब

योजना के तहत कार्य का प्रस्ताव ग्राम सभा तैयार करती है। ग्राम पंचायत की यह जिम्मेदारी होती है कि वह यह सुनिश्चित करे कि जिस व्यक्ति को कार्य दिया जा रहा है वह वयस्क है या नहीं। जॉब कार्ड जारी करने की जिम्मेदारी ग्राम पंचायत की है। आवेदकों के बीच रोजगार बाँटने, उन्हें मजदूरी भुगतान करने आदि की निगरानी ग्राम पंचायत करती है।

क्षेत्र पंचायत की भूमिका

ग्राम पंचायत स्तर से आने वाले प्रस्ताव का क्षेत्र पंचायत अनुमोदन करती है। इसके बाद यह प्रस्ताव जिला पंचायत को भेजा जाता है जिला पंचायत की ओर से स्वीकृति मिलते हीं काम शुरू हो जाता है। क्षेत्र पंचायत अपने इलाके में हो रहे कार्यों की मॉनिटरिंग करती है।

जिला पंचायत की भूमिका

सभी परियोजनाओं को अंतिम रूप देने का जिम्मा जिला पंचायत का है। परियोजना की निगरानी की जिम्मेदारी ग्राम पंचायत क्षेत्र पंचायत के साथ हीं जिला पंचायत की भी है।

प्रशासकीय ढाँचा

प्रखण्ड स्तर पर योजना की निगरानी के लिए एक अधिकारी की नियुक्ति की गई है जो बी.डी.ओ स्तर का है। इसे कार्यक्रम अधिकारी कहा जाता है। श्रमिक किसी भी प्रकार की समस्या होने पर कार्यक्रम अधिकारी से शिकायत कर सकते हैं। कार्यक्रम अधिकारी ही ग्राम पंचायत से ब्लॉक तक आने वाली परियोजनाओं को तैयार करता है। रोजगार की डिमांड और रोजगार के अवसर के बीच समन्वय की जिम्मेवारी कार्यक्रम अधिकारी की है। इसके साथ हीं यदि किसी व्यक्ति को रोजगार नहीं मिल

पाता है तो उसे बेरोजगारी भत्ता देने की जिम्मेदारी इसी कार्यक्रम अधिकारी की है। वह परियोजनाओं की निगरानी शिकायतों का निबटारा नियमित तौर पर सामाजिक लेखा परीक्षा आदि के लिए जिम्मेदार है।

जिला पंचायत स्तर

हर जिले में जिला स्तर पर भी एक अधिकारी नियुक्त किया गया है जिसे जिला समन्वयक कहा जाता है। इस पद की जिम्मेदारी राज्य सरकार सुनिश्चित करती है। जिला पंचायत के मुख्य कार्यकारी अधिकारी, जिला कलेक्टर अथवा इस रैंक के किसी भी अधिकारी को जिला कार्यक्रम समन्वयक की जिम्मेदारी देने का प्रावधान है। जिला कार्यक्रम समन्वयक की जिम्मेदारी है कि वह योजना में होनेवाली किसी भी समस्या का समाधान करे। वह इस कार्यक्रम में शामिल विभिन्न एजेंसियों में समन्वयक स्थापित करता है। ब्लॉक स्तर से आनेवाली शिकायतों के विस्तारण के लिए भी वह जिम्मेदार है। विभिन्न स्थानों पर होने वाले कार्यों की निगरानी की भी जिम्मेदारी जिला कार्यक्रम समन्वयक की होती है। इसके अलावा अब ब्लॉक एवं ग्राम पंचायत स्तर पर भी विभिन्न तरह की व्यवस्था बनाई गई है। निगरानी के लिए अलग-अलग लोगों को जिम्मेदारी सौंपी गई है।

योजना का असर

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना के लागू होने के बाद ग्रामीण इलाके में मजदूरों को सबसे अधिक फायदा हुआ है। उन्हें सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी मिलने लगी है। नरेगा के कार्यान्वयन के बाद कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी भी बढ़ी है। परिवर्तनशील मंहगाई भत्ते मे वृद्धि के आधार पर सरकार साल में दो बार मजदूरी तय करती है। बिहार में अकुशल मजदूरों के लिए मजदूरी दर 277 रुपये, अर्धकुशल मजदूरों के लिए मजदूरी दर 289 रुपये जबकि कुशल मजदूरों को 352 रुपये तथा अतिकुशल मजदूरों को 429 रुपये रोजाना दिये जाते हैं। वहीं पर्यवेक्षकीय या लिपिकीय काम करने वाले मजदूरों के लिए 7955 रुपये महीन तय है।

राष्ट्रीय स्तर पर मनरेगा के तहत मिलने वाली मजदूरों की रोज की मजदूरी को 182 रुपये से बढ़ाकर 202 रुपये कर दिया है। इससे 5 करोड़ गरीब परिवार को ायदा हो रहा है। उन्हें 100 दिन के हिसाब से साल में 20200 रुपये मिल रहे हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि नरेगा के जरिये पंचायती राज व्यवस्था और मजबूत हुई है। इस योजना के जरिये तीनों स्तर पर जिम्मेदारी भी बाँटी गई है और काम भी। पंचायतों को विभिन्न तरह से विकास कार्य कराने के लिए किसी दूसरे मद से पैसे का इंतजाम नहीं करना पड़ रहा है और गाँवों का विकास भी हो रहा है। चूँकि यह योजना पूरी तरह से पंचायती राज पर केन्द्रित है इसलिए हर तरु योजना के क्रियान्वयन को नया आयाम मिल रहा है। अब गाँव के नागरिकों की जुबां पर मनरेगा का नाम सुनने में आता है। उन्हें विश्वास है कि मनरेगा के जरिये वे कम से कम दो वक्त की रोटी का इंतजाम जरूर कर सकते हैं। मनरेगा में मजदूरी निर्धारित हो जाने से पंचायत स्तर पर चलनेवाले लघु उद्योग, दिहाड़ी, मजदूरी एवं पंचायती राज व्यवस्था के तहत दूसरे योजनाओं में चलने वाले कामों में भी लोगों को वाजिव मजदूरी मिल रही है।

उच्च माध्यमिक शिक्षिका, अर्थशास्त्र विभाग
इंटर विद्यालय रोह, नवादा (बिहार)

सन्दर्भ सूची

1. करूक्षेत्र, दिसम्बर 2009, पृष्ठ सं0- 14
2. दत्त सुन्दरतम, भारतीय अर्थव्यवस्था, पृष्ठ सं0- 418
3. प्रतियोगिता दर्पण, भारतीय अर्थव्यवस्था, पृष्ठ सं0- 176
4. डॉ. पी.सी. वर्मा, बिहार की अर्थव्यवस्था, पृष्ठ सं0- 385
5. प्रतियोगिता दर्पण, अगस्त 2010, पृष्ठ सं0- 95
6. कुरूक्षेत्र, जनवरी 2010, पृष्ठ सं0- 211

शोध-पत्र

नई व्यापारिक नीति और भारतीय निर्यात का विश्लेषण

डॉ. चन्द्रमणि प्रसाद

1991 से भारत की व्यापारिक नीति में आमूल परिवर्तन किये गये जिससे भारतीय आयात एवं निर्यात का स्वरूप ही बदल गया है। अन्य देशों की तरह भारत में भी आर्थिक विकास को विश्व व्यापार, सहायता, समझौता इत्यादि प्रभावित करते रहे हैं। भारत जैसे विकासशील देश में तो विश्व व्यापार का विशिष्ट महत्व है जिसे नियमित एवं युक्तिसंगत बनाने एवं सही दिशा देने हेतु एक समुचित व्यापारिक नीति अत्यन्त आवश्यक होती है। एतदर्थ भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यात प्रोत्साहन को व्यापारिक नीति अपनायी जाती रही है।

स्वतंत्र्योत्तर भारत को व्यापारिक नीति को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है (क) आर्थिक सुधार 1991 के पूर्व की विदेश व्यापार नीति और (ख) आर्थिक सुधारेत्तर विदेश व्यापार नीति।

आजादी के पूर्व भारत में स्वतंत्र व्यापारिक नीति अपनाया गया था जिसमें विभेदात्मक संरक्षण नीति प्रमुख थी। यह नीति भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए काफी अहितकर थी जिसमें व्यापारिक असंतुलन और भुगतान असंतुलन काफी बढ़ गया था और भारतीय अर्थव्यवस्था चरमरा गयी थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने नई आयात नीति घोषित की जिसका मुख्य लक्ष्य भारत में स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना था। इस दृष्टि से भारत सरकार ने अनेक द्विपक्षीय और बहुपक्षीय समझौते किए। इसमें प्रशुल्क एवं व्यापार पर सामान्य समझौता (गैट समझौता) 1947 विशेष रूप से महत्वपूर्ण एवं चर्चित रहा है।

प्रो. भगवती के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था को व्यापारिक स्थिति कुल मिलाकर 1991 तक संतोषप्रद नहीं रही। कई बार समय-समय पर भारत सरकार विदेश व्यापार नीति घोषित करती रही किन्तु हमारा भुगतान संतुलन एवं व्यापार संतुलन प्रतिकूल ही बना रहा। विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा दोनों प्रभावित होाती रही।

प्रथम चरण के आर्थिक सुधार एवं वैश्वीकृत भारत में निर्यात व्यापार

1991 में जब तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. नरसिंह राव के शासनकाल में तत्कालीन वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन ने आर्थिक सुधारों का कार्यक्रम घोषित किया और भारतीय अर्थव्यवस्था को उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की नई नीति घोषित की तो हमारे विदेशी व्यापार की दिशा, दशा और संरचना ही बदल गयी। उसके तहत तत्कालीन भारत सरकार ने 1992-97 के लिए पंचवर्षीय आयात-निर्यात नीति घोषित की। पुनः NDA सरकार ने आवश्यक संशोधन कर 1997-2002 के लिए नई व्यापारिक नीति घोषित की। यहीं से भारत में निर्यात व्यापार में अहम् बदलाव आया। पुनः इसमें संशोधन कर भारत सरकार ने 1 अप्रैल 2002 को 2002-2007 के लिए नई व्यापारिक नीति घोषित की। फिर संयुक्त प्रगतिशील गठबंघन सरकार ने 2004-2009 के लिए नई नीति घोषित की। पुनः निर्यात को गति प्रदान कर वैश्विक व्यापार में भारत की हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए पाँच वर्षों के लिए (2005-20) के लिए बहुप्रतीक्षित विदेश व्यापार नीति को घोषणा सरकार ने 1 अप्रैल 2015 को की है।

द्वितीय चरण के आर्थिक सुधार एवं वैश्वीकृत भारतीय निर्यात व्यापार

दूसरे चरण के आर्थिक सुधार के दौर में घोषित नई आयात-निर्यात के कई निर्धारित लक्ष्य है यथा -

(1) भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था से एकीकृत बढ़ती बाजार सुविधाओं से लाभान्वित करना

(2) भारतीय उपभोक्ताओं को बेहतर गुणवत्ता वाली वस्तुएँ उचित कीमतों पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराना

(3) आधारभूत लागतों में भारी कमी

(4) आयात-निर्यात योजनाओं में लोचपूर्णता प्रदान करना

(5)विश्वास पर आधारित व्यवस्था की ओर अग्रसर होना।

नई आयात-निर्यात नीति 2002-07

31 मार्च 2002 को राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार द्वारा घोषित नई आयात-निर्यात नीति ने केवल वर्ष 2002-03 के लिए वरन दसवीं पंचवर्षीय योजना के तदनुरूपी अगले पाँच वर्षों की समस्त अवधि के लिए भी निर्यात सम्बर्द्धन उपायों की गति निर्धारित की। इस नीति में भारतीय निर्यातों को निरन्तर विकास पथ पर अग्रसर करने के लिए कई दूरगामी प्रयास किये गये।

राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार के पूर्व वाणिज्य मंत्री स्व. मोरासली मारन ने जो 2002-07 के लिए नई आयात-निर्यात नीति 2002-07 की थी वह काफी महत्वपूर्ण थी। इस नीति के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था में मात्र औद्योगिक, तकनीक, पूँजीगत मशीन और खनिजों का ही वरन विश्वस्तरीय उपभोग पदार्थों का आयात भी सुलभ बनाया गया था।

विशेषताएँ

इस नीति को निम्नांकित विशेषताएँ थीं

(1) संवेदनशील वस्तुओं को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं के निर्यात पर लगे मात्रात्मक प्रतिबंध को समाप्त कर विशेष आर्थिक क्षेत्रों, कृषि निर्यात क्षेत्रों, कुटीर एवं लघु उद्योगों, रत्न आभूषणों उद्योगों को प्रोत्साहित करने पर जोर दिया गया।

(2) विश्व व्यापार में भारत की सहभागिता 1 प्रतिशत सुनिश्चित करने का संकल्प लेना।

(3) कृषि माल के निर्यात सम्बर्द्धन के समुचित उपाय का प्रावधान फल-फूल, सब्जी, दुग्ध पदार्थ औषधीय फसलों के निर्यात बढ़ाने हेतु निर्यातकों को परिवहन सहायता की व्यवस्था करना।

(4) नये उद्यमियों को बिना जाँच के ही बैंक गारंटी के आधार पर लाइसेंस प्रदान करना।

व्यापार सम्बर्द्धन के उपाय

निरन्तर अन्तर्विभागीय समन्वय के फलस्वरूप व्यापार सम्वर्द्धन के लिए निम्नलिखित व्यापार सुविधाकारी उपाय किये गये हैं:-

(1) आयातों के लिए नया 8 अंक वस्तु वर्गीकरण अपनाया गया है।

(2) सभी क्षेत्रीय कार्यालयों में उसी दिन लाइसेंसिंग की शुरुआत की गई है।

(3) इलेक्ट्रानिक सौदों के लिए डिजिटल हस्ताक्षरों की शुरुआत की जा रही है।

(4) ई.ई. एफ. सी. खाते में 100 प्रतिशत धारणा की अनुमति दी जाती है।

(5) शुल्क वापसी की ब्रांड दर के निर्धारण हेतु आवेदन का निपटान 15 दिन के भीतर किया जाता है।

(6) डी.जी.एफ.टी. ने अपनी सभी 33 कार्यालयों को कम्प्यूटरीकृत कर दिया है।

(7) निर्यात एवं आयात परेषणों की आवाजाही के लिए सीमा शुल्क द्वारा गोदियों के द्वारों पर 24 घंटे कार्य किया जा रहा है।

(8) पत्तन न्यासों द्वारा निजी पायलटों को पैनल पर लिया जा रहा है और वे पायलकर्म करने के लिए उपलब्ध हैं।

इस नीति से भारत के आयात-निर्यात की प्रवृत्ति, संरचना, दशा और दिशा सभी में उल्लेखनीय परिवर्तन भी परिलक्षित होने लगे। अर्थशास्त्रियों द्वारा इसकी सराहना भी की जाने लगी।

नई आयात-निर्यात नीति 2004-2009

2004 के मई में अचानक भारत में सत्ता परिवर्तन हो गया और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार की जगह संयुक्त प्रगतिशीलता गठबंधन की सरकार आयी जिसमें 1991 से जारी आर्थिक सुधारों के समर्थकों और घोर विरोधियों ने आपस में मिलकर सरकार बनायी, जिसमें भारत की आयात निर्यात नीति 2002-07 को बदल दिया गया और इसके स्थान पर 2004-09 नीति घोषित की गयी जिसमें कई संशोधन किए गए।

नीति के मुख्य उद्देश्यः-

(1) इस नीति का मुख्य उद्देश्य आपसी विश्वास और पारदर्शिता का माहौल बनाते हुए नियंत्रण को कम करना।

(2) आयात-निर्यात प्रक्रिया को यथा संभव सरल बनाना।

(3) रोजगार के अतिरिक्त अवसर सृजित करने के लिए विशेष क्षेत्रों को पहचान करना।

(4) निर्यात उत्पादों में प्रयुक्त कच्चे माल पर लगने वाले सभी प्रकार के कर और शुल्क को समाप्त करना।

(5) भारत को विश्व-व्यापार केन्द्र के रूप में विकसित करना।

(6) नए बाजार की खोज करना।

(7) व्यापार बोर्ड की भूमिका को नए सिरे से परिभाषित करना।

(8) आयात को प्रतिबंधों से मुक्त करना।

(9) विदेशी व्यापार में शामिल पूरी श्रृंखला के ढाँचागत ने वर्क उन्नत करना।

(10) विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों के अनुकूल व्यापार के द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय समझौता करना।

नई व्यापारिक नीति की व्यूह रचना

नीति के उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वर्ष 2004-09 के लिए निम्नांकित व्यूह रचनार्थ अपनायी गयी है-

(1) वैधानिक प्रारूप तैयार कर नीति को अमली जामा पहनाना।

(2) 5 वर्षों में वैश्विक व्यापार में भारत की अंशदारी को दोगुना करना।

(3) कृषि क्षेत्र के लिए विशेष कृषि उपज योजना स्थापित की गयी है।

(4) चमड़ा और जूतों के बारे में भी नई नीति में कई आयात शुल्क की रियायतें घोषित की गई।

(5) व्यापार बोर्ड को नई नीति में स्पष्ट एवं अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी गई।

(6) आयातित वस्तु का नीति के प्रावधानों के तहत निर्यात किया जा सकता है।

(7) निर्यात उन्नयन परिषद् को स्थापित कर उसे मजबूत बनाया गया।

(8) हैण्डलूम क्षेत्र में निर्यात बढ़ाने हेतु इस नीति में इसके निर्यात बढ़ाने हेतु MAIeMDA योजना के अधीन कोष की व्यवस्था की गई है।

(9) कीमती रत्न और जेवर के सम्बंध में नई नीति में स्पष्ट किया गया है कि 18 कैरेट से उपर के सोने का नई योजना के तहत आयात किया जाएगा।

इस प्रकार इस नीति के सहारे वैश्वीकृत निर्यात व्यापार का प्रत्यक्ष लाभ ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मिलेगा तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था से आयात-निर्यात को प्रोत्साहन मिल सकेगा।

मूल्यांकन

अतः यह कहा जा सकता है कि नई विदेश नीति 2004-09 तथा विदेश व्यापार नीति 2015 कई दृष्टि से महत्वपूर्ण और पारदर्शी है। अगर यह नीति पूरी ईमानदारी, निष्ठा, सक्रियता एवं पारदर्शिता से लागू की गयी तो निश्चित रूप से भारत के निर्यात व्यापार के लिए मील का पत्थर सिद्ध होगी, तथा विश्व व्यापार संगठन के नकारात्मक प्रभावों विशेषकर 'ग्रीन बॉक्स', 'ब्लू बॉक्स' और 'अम्बर बॉक्स' के अधीन विवादास्पद सब्सिडी से सम्बंधित प्रावधानों के बावजूद भारतीय विदेश व्यापार इस वैश्वीकृत आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान हासिल कर सकेगा तथा विदेशी प्रतिस्पर्द्धा में सफल हो सकेगा।

दिसम्बर 2005 में सम्पन्न विश्व व्यापार संगठन के मंत्रीस्तरीय सम्मेलन में इस नीति का आधार वाणिज्य मंत्री कमलनाथ के प्रतिनिधित्व में मानकर भारत ने मजबूती के साथ अपना पक्ष रखा जो काफी हद तक भारत सहित दुनिया के कई विकासशील देशों के लिए लाभकारी होगा, क्योंकि हांगकांग सम्मेलन के पारित मसौदे ने 2010 तक निर्यात विशेषकर कृषि निर्यात सब्सिडी समाप्त करने तथा सबसे गरीब देशों की वस्तुओं के लिए तटकर मुक्त और कोटा मुक्त प्रावधानों की भी घोषणा की गई थी। भारत के विकासशील एवं कम विकसित देशों के हितों की रक्षा हेतु उठाये गए कदमों की व्यापक सराहना हुई और विश्व व्यापार संगठन की मूलभूत बुराईयों के कारण विकसित एवं गरीब देशों के बीच असंतुलित विदेशी व्यापार की विसंगतियों को समाप्त करने हेतु पुरी दृढ़ता से प्रतिनिधित्व करने का सर्वत्र समर्थन भी किया गया है

किन्तु अनेक अच्छाईयों के बावजूद यह व्यापार नीति कागज पर जितनी अच्छी लगती है शायद व्यावहारिक तौर पर उतनी प्रभाव नहीं हो सकती, क्योंकि विशेषज्ञों की यह आम शिकायत है कि यह विश्व व्यापार संगठन के दबाव

में उसके विवादास्पद, प्रावधानों को नजरअंदाज करते हुए बनी है। 'अम्बर बॉक्स', 'ग्रीन बॉक्स' और 'ब्लू बॉक्स' की छत्र छाया में मिलने वाली सब्सिडी जो विकसित और विकासशील देशों के बीच गहरी खाई पैदा की हैं से लड़ने में यह नीति सफल नहीं हो सकेगी। वस्तुत: यह नीति पूर्ववर्ती राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार द्वारा घोषित नीति से कोई भिन्न नहीं है, क्योंकि अभी भी हमारा व्यापार घाटा काफी बढ़ा हुआ है। अभी हमारे व्यापार की दिशा और दशा में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। तभी हम विश्व व्यापार में अग्रणी भूमिका निभा सकेंगे और दूसरे चरण के आर्थिक सुधार को सफलता के सोपान पर पहुँच सकेंगे और आर्थिक विकास दर की अपेक्षित वृद्धि दर हासिल कर सकेंगे।

उच्च माध्यमिक शिक्षक, अर्थशास्त्र विभाग
प्रोजेक्ट कन्या इण्टर विद्यालय,
नवादा (बिहार)

संदर्भ सूची

1. वाणिज्य वित्त मंत्रालय, वार्षिक प्रतिवेदन, भारत सरकार 2002
2. वाणिज्य मंत्रालय, भारत सरकार, 2004 से 2008
3. नई व्यापार नीति 2004-2009 भारत सरकार
4. आर्थिक समीक्षा (2008), 2001-02 से 2007-08, भारत सरकार
5. वार्षिक बजट (2008), 2001-02 से 2008-2009, भारत सरकार
6. प्रतियोगिता दर्पण का, भारतीय अर्थव्यवस्था 2018-2019

राष्ट्र निर्माता सच्चिदानन्द सिन्हा : वैधानिक एवं प्रशासनिक कार्यों का ऐतिहासिक अवलोकन

डॉ॰ समरेन्द्र नाथ विश्वास

सच्चिदानन्द सिन्हा आधुनिक बिहार प्रान्त के ही नहीं अपितु आधुनिक भारत के निर्माताओं में अग्रणी थे। आधुनिक भारत के इतिहास में सच्चिदानन्द सिन्हा का स्थान अप्रतिम है। वे एक महान पत्रकार, शिक्षाविद्, उच्च कोटि के विधायक-सांसद एवं प्रशासक भी थे। अपनी प्रतिभा संपन्नता, विलक्षण कार्यक्षमता, दूरदृष्टि, ओजस्वी वाक्शक्ति से वर्षों तक बिहार के सामाजिक और सार्वजनिक जीवन को वे प्रभावित करते रहे। अपने बहुआयामी क्रियाकलापों के कारण वे एक व्यक्ति नहीं बल्कि, अपने आप में एक संस्था थे। उनके ज्ञान एवं अनुभव का लोहा पूरा देश मानता था। खासतौर पर 'बिहार के बंगाल से पृथक्करण आन्दोलन' की वे आत्मा थे और बिहार एवं उड़ीसा प्रान्त का गठन उनके अथक प्रयासों का ही नतीजा था।

सच्चिदानन्द सिन्हा का जन्म 1871 ई॰ में बिहार के आरा शहर में हुआ। अपनी शिक्षा उन्होंने पटना, कलकत्ता एवं लंदन में पूरी की। वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के शीर्ष नेताओं यथा दादाभाई नौरोजी, डब्लू.सी. बनर्जी एवं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सान्निध्य में आए। लेकिन विशेष रूप से राजनीति की ओर उनका झुकाव इंग्लैंड प्रवास के दौरान ही देखने को मिलता है। इंग्लैण्ड में वैरिस्ट्री की पढ़ाई के दिनों में ही वे 'ब्रिटिश कमिटी ऑफ दी इंडियन नेशनल काँग्रेस' के सक्रिय सदस्य बन बैठे। 1892 ई॰ में दादा भाई नौरोजी ने इंग्लैंड के हाउस ऑफ कॉमन्स के लिए जब चुनाव लड़ा उस चुनाव में उन्होने नौरोजी के पक्ष में जमकर प्रचार कार्य किया।[1]

1893 ई॰ में सच्चिदानन्द सिन्हा भारत वापस लौटे इस समय भारत नई अँगड़ाईयाँ लेने को उध्यत था। वह जमाना ऐसा था जब देश की राजनीति हिलोरे ले रही थी। 1896 ई॰ में उन्होंने इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत शुरू की, जहाँ वे 1906 ई॰ तक रहे। इस दौरान इलाहाबाद में वे मोतीलाल नेहरू, सर तेज बहादुर सप्रू तथा मदन मोहन मालवीय के निकट सम्पर्क में आये।[2]

1896 ई॰ में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में इलाहाबाद के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए। इलाहाबाद में काँग्रेस के पन्द्रहवें अधिवेशन में उन्होंने प्रशासन से न्याय विभाग को अलग करने के प्रस्ताव का समर्थन किया। 1899 ई॰ में लखनऊ काँग्रेस सम्मेलन में प्रभावशाली भाषण देकर उन्होंने भारतीय राजनीति में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया।[3]

1900 ई॰ में लाहौर में काँग्रेस के 16वें अधिवेशन में सच्चिदानन्द सिन्हा भी शरीक हुए। इस अधिवेशन में उन्होंने प्रशासन से न्याय विभाग को अलग करने का प्रस्ताव स्वयं पेश किया। सन् 1901 में पार्टी के 17वें अधिवेशन (कलकत्ता) में उन्होंने पुलिस में सुधार के लिए प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का मुख्य बिन्दु था कि पुलिस विभाग में अधिकाधिक संख्या में शिक्षित भारतीय नागरिकों की नियुक्ति की जाए ताकि पुलिस की दक्षता बढ़ सके। सन् 1902 में अहमदाबाद में तथा 1905 ई॰ में बनारस में काँग्रेस के 20वें अधिवेशन में पुनः इसी मुद्दे पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने का भार भी उन्हे ही दिया गया था।[4]

1906 ई॰ में पटना लौटने पर सच्चिदानन्द सिन्हा ने बिहार की जीर्णावस्था पर ध्यान दिया। उस समय तक बिहार, बंगाल और उड़ीसा एक ही प्रान्त था तथा बिहारियों

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

की बड़ी दुर्दशा थी। सच्चिदानन्द सिन्हा ने अग्रदूत के रूप में उसमें काम किया और उन्हीं के अथक प्रयास का फल हुआ कि 12 दिसम्बर 1911 ई॰ को दिल्ली दरबार ने यह फैसला लिया कि बिहार को बंगाल से अलग एक प्रान्त का दर्जा दिया जाए।[5]

1906 ई॰ में राजेन्द्र प्रसाद के पहल पर 'बिहारी स्टूडेंट कॉंफ्रेंस' का गठन हुआ जिसमें सच्चिदान्द सिन्हा ने पूरी तरह सहयोग किया। इसके वार्षिक सम्मेलन का आयोजन बिहार के विभिन्न शहरों में होता रहा, इन सम्मेलनों में किसी न किसी रूप में उनकी भागीदारी सुनिश्चित थी।[6]

1908 ई॰ में सोनपुर मेले में सच्चिदान्द सिन्हा, मजहरूल हक, हसन इमाम, दीपनारायण सिंह आदि के सहयोग से खान बहादुर सरफराज हुसैन की अध्यक्षता में बिहार के काँग्रेसियों ने 'बिहार प्रदेश काँग्रेस कमिटी' का गठन किया। कमिटी के अध्यक्ष हसन इमाम और कोषाध्यक्ष सच्चिदानन्द सिन्हा बनाये गये।[7]

सच्चिदानन्द सिन्हा की अध्यक्षता में बिहार प्रान्तीय सम्मेलन की दूसरी बैठक 9-10 अप्रैल 1909 ई॰ को भागलपुर में सम्पन्न हुई। इस सम्मेलन में उन्होंने अपने लम्बे अध्यक्षीय भाषण में भारत के राजनीतिक वातावरण की चर्चा करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता को मजबूत करने पर बल दिया। उन्होंने इस दिशा में मुस्लिम नेता अली इमाम के योगदानों की प्रशंसा की।[8]

केन्द्रीय विधान परिषद् में सांसद बनने के पूर्व सच्चिदानन्द सिन्हा अनेक संघर्षों, झंझावतों को झेलते हुए अपनी जीवन यात्रा को इस मुकाम तक पहुँचाया। सर्वप्रथम 1910 ई॰ में 'भारत सरकार अधिनियम 1909' के तहत या यों कहें मार्ले-मिंटो सुधार के अन्तर्गत पहला चुनाव हुआ, जिसमें सच्चिदानन्द सिन्हा चार महाराजाओं को हराकर बंगाल विधान परिषद की ओर से केन्द्रीय विधान परिषद में प्रतिनिधित्व करने के लिए निर्वाचित हुए। उनके लिए यह एक बड़ी बात थी, क्योंकि वे चार महाराजाओं को हराकर केन्द्रीय विधान परिषद के सदस्य बने। वे चार महाराजा थे- दरभंगा के रामेश्वर सिंह, गिद्धौर के रावणेश्वर सिंह, कासिम बाजार के मणीन्द्र चन्द्र नन्दी तथा प्रद्योत कुमार टैगोर।[9]

सच्चिदानन्द सिन्हा पूरे तीन साल की अवधि तक इस पद पर रहे और इस तीन साल की अवधि में केन्द्रीय परिषद के सदस्यों तथा भारत के प्रमुख लोगों के साथ तालमेल और समन्वय के साथ काम किया। सच्चिदानन्द सिन्हा ने प्रामाणिक तथ्यों तथा आँकड़ों से युक्त, तर्कपूर्ण, भाषणों और वक्तव्यों से तत्कालीन सभी नेताओं को प्रभावित किया। फलस्वरूप उन्हें बहुत प्रसिद्धि मिली।[10]

1913 ई॰ में सच्चिदानन्द सिन्हा ने आगरा एवं अवध प्रोविन्सियल कॉंफ्रेंस की अध्यक्षता की। इसी वर्ष उन्हें पटना विश्वविद्यालय कमिटी (नाथन कमिटी) का सदस्य मनोनित किया गया। 1914 ई॰ में उन्होंने काँग्रेस पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में यूरोप के देशों का दौरा किया। काँग्रेस के 30वें बम्बई अधिवेशन के अवसर पर 1915 ई॰ में शिष्ट मंडल की सेवाओं पर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की गई।[11]

1913 से लेकर 1918 की अवधि तक जब सच्चिदानन्द सिन्हा बिहार-उड़ीसा विधान परिषद के प्रतिनिधित्व कर रहे थे, उस समय बिहार एवं उड़ीसा विधान परिषद द्वारा कुछ महत्वपूर्ण अधिनियम पारित किये गये जिनमें प्रमुख थे - बिहार एवं उड़ीसा राजस्व परिषद अधिनियम (1913), उड़ीसा टेनेन्सी अधिनियम (1913), छोटानागपुर ग्रामीण पुलिस अधिनियम (1914), बिहार एवं उड़ीसा पारघाट (संशोधन) अधिनियम (1914), झरिया जलापूर्ति अधिनियम (1914), बिहार एवं उड़ीसा लोक मांग वसूली अधिनियम (1914), पटना प्रशासन अधिनियम (1915), बिहार एवं उड़ीसा उत्पाद अधिनियम (1915), बिहार एवं उड़ीसा उपकर (संशोधन) अधिनियम (1916), बिहार एवं उड़ीसा चिकित्सा अधिनियम (1916), बिहार एवं उड़ीसा विकेंद्रीकरण अधिनियम (1916), बिहार एवं उड़ीसा साधारण खंड अधिनियम (1917), चम्पारण भूमि संबंधी अधिनियम (1918), पटना विश्वविद्यालय (संशोधन) अधिनियम (1918) आदि।[12] यह वह समय था जिस समय किसी को नौकरी मिलना बहुत ही कठिन था। सिन्हा ने इस संबंध में सरकार को अनेक सुझाव दिये। फलतः सरकार ने एक रॉयल कमीशन का गठन किया, जिसका उद्देश्य राज्य में अधिकाधिक नौकरी देने के लिए पदों का सृजन करना था। इन अधिनियमों के निर्माण में उनके द्वारा दिये गये अमूल्य सुझावों को नकारा नहीं जा सकता।

सच्चिदानन्द सिन्हा दिसम्बर 1919 ई॰ में पुनः इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य निर्वाचित हुए। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार होने तक वे यहाँ सदस्य बने रहे। 1921 ई॰ में प्रान्तों में द्वैध शासन के अन्तर्गत जब चुनाव हो रहे

थे इसमें वे केन्द्रीय विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और वे केन्द्रीय विधान सभा के प्रथम उपाध्यक्ष निर्वाचित किये गये। लॉर्ड एस.पी. सिन्हा की प्रेरणा से मई 1921 ई॰ में, जो उस समय बिहार प्रान्त के गवर्नर थे, वे गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य निर्वाचित हुए। फलस्वरूप उन्होंने केन्द्रीय विधान सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इसी वर्ष जुलाई महीने में उन्हें बिहार एवं उड़ीसा प्रान्त के लेजिस्लेटिव कौंसिल का अध्यक्ष भी नियुक्त किया गया। 1927 में उन्होंने पुनः यूरोप के देशों का सघन दौरा किया और अगस्त महीने में जेनेवा में आयोजित इन्टरनेशनल प्रेस काँफ्रेंस में भारत का प्रतिनिधित्व किया। उसी वर्ष अक्टूबर महीने में उन्होंने लन्दन में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन को द्वैध शासन के कार्यपक्ष पर सम्बोधित किया।[13]

गवर्नर की कार्यकारिणी सदस्य के रूप में नियुक्त किये जाने के बाद सच्चिदानन्द सिन्हा को वित्त और न्याय विभाग का प्रभारी (मंत्री) बनाया गया। वे इस पद पर पाँच वर्षों तक अर्थात् 1921 ई॰ से 1926 ई॰ तक आसीन रहे और अपने कार्यकाल में बिहार को दी जाने वाली सहायता राशि जो अपर्याप्त थी, उसमें काफी वृद्धि की। वित्त मंत्री के रूप में उन्होने अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया।[14]

सच्चिदानन्द सिन्हा के जिम्मे जेल प्रशासन भी था। राजनीतिक बन्दियों के साथ व्यवहार को लेकर सरकार के साथ उनके मतभेद उभरे। वे नहीं चाहते थे कि जिन लोगों ने असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर अपनी गिरफ्तारी दी थी उनके कमर में रस्सा बांधा जाए या उनके हाथों में हथकड़ियां लगायी जाए। इस समय इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस एक अंग्रेज अधिकारी था। उनके छुट्टी पर जाने के बाद सर होर्मुशजी बनातवाला इस पद पर बहाल हुए। वह जोर जबर्दस्ती में विश्वास रखने वाला व्यक्ति था। उसने राजनीतिक बन्दियों के साथ साधारण अपराधी जैसा व्यवहार करना चाहा। सच्चिदानन्द सिन्हा ने उसके व्यवहार को पसन्द नहीं किया। उन्होंने गवर्नर हेनरी व्हीलर से बात की। उन्होंने लोथियन कमिटी के सामने जेलों के ऊपर लोकप्रिय नियंत्रण को स्थापित करनेकी वकालत की। निःसंदेह जेल प्रशासन में उन्होंने कई सुधार लाये। 1926 ई॰ में उन्होंने वित्त विभाग को अवकाश प्राप्त करने से पूर्व छोड़ दिया।15

प्रथम भारतीय वित्त मंत्री के रूप में उन्होंने जिस प्रकार कार्य किया उनकी सर्वज्ञ प्रशंसा हुई। 'पब्लिक पर्श' के अधीक्षक के रूप में वित्तीय अनुशासन और नियंत्रण का उन्होंने सदैव ख्याल रखा तथा उस अवधि में प्रान्त के वित्तीय स्वास्थ्य के सुधार के निमित्त भारत सरकार के वित्त सदस्य सर जी.एफ. विल्सन के समक्ष जब सन् 1910 ई॰ में बजट पर वाद-विवाद हुआ था उसमें उन्होंने अपनी पुरजोर आवाज उठाई। उन्होंने कहा था-'माई लॉर्ड, प्रान्तीय वित्त का प्रबंधन बिल्कुल मनमाने ढंग से होता है।' उनकी इन्हीं बातों पर सहमती बनी। निःसंदेह सच्चिदानन्द सिन्हा के प्रयास का ही यह फल हुआ कि प्रान्तों का जो हिस्सा एक तिहाई मिलता था, उसे दो तिहाई किया जा सका।[16]

सच्चिदानन्द सिन्हा के जीवन में एक ऐसी महत्वपूर्ण अभूतपूर्व और असाधारण घटना हुई जो न तो किसी अन्य देश में और न ही इस देश की संसदीय प्रणाली में कहीं देखने में आती है। वह घटना थी कि उन्होंने विधान परिषद की अध्यक्षता और गवर्नर की कार्यप्रणाली परिषद के सदस्यता के दायित्वों और कर्त्तव्यों का निर्वाह एक साथ अपनी अद्‌भुत कार्यशैली, क्षमता और विवेक तथा अद्वितीय व्यक्तिगत गुणों के कारण करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। फलस्वरूप पक्ष-विपक्ष दोनों का विश्वास और सम्मान उन्हें मिलता रहा।[17] 1930 ई॰ में उन्हें 'उड़ीसा वाउन्डरी कमीशन' का सदस्य बनाया गया।

सच्चिदानन्द सिन्हा एक योग्य सांसद, विधायक के साथ-साथ एक कुशल प्रशासक भी थे। इसकी बानगी हमें कुलपति के रूप में देखने को मिलती है, जब 1936 ई॰ में उन्हें पटना विश्वविद्यालय का वायस चांसलर नियुक्त किया गया था। इस पद पर वे नौ वर्षों तक कार्य करते रहे।[18] कुलपति के रूप में बिताये उनका कार्यकाल पटना विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्ण काल कहा जाता है। उनके कार्यकाल के दौरान नयी-नयी वृत्तियाँ (फेलोशिप) देने की व्यवस्था की शुरुआत हुई। वाणिज्य विभाग की स्थापना, तकनीकी शिक्षा की पढ़ाई तथा हिन्दी और उर्दू के मौलिक साहित्य के सृजन की योजना का आरंभ भी उन्हीं के कार्यकाल के दौरान आरम्भ किया गया।[19] 1937 ई॰ में उन्हें पटना विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्र से बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली के लिए चुना गया। 1946 ई॰ में वे पुनः बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली के लिए पटना विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्र से चुने गये। इसी वर्ष वे भारतीय संविधान निर्मात्री सभा में बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुए।[20]

सच्चिदानन्द सिन्हा को राजनीति की अच्छी समझ थी। वे मूलत: नरमपंथी नेता थे। गाँधी जी की राजनीति और आन्दोलनों से वह प्राय: दूर ही रहे। सच्चिदानन्द सिन्हा, अली, इमाम, गणेश दत्त सिंह इत्यादि ने उस समय बिहार के शिक्षित मध्यम वर्ग को नई चेतना देकर एक ऐसा समूह तैयार किया, जिससे परवर्ती राजनीतिक आन्दोलनों के लिए कृत संकल्प और सुयोग्य नेतृत्व मिल सका। जब कंस्टिट्यूएंट एसेम्बली भारत का संविधान बनाने बैठीं, तो उसके सबसे वयस्क सदस्य होने के नाते वे ही ऐसेम्बली के सर्वप्रथम अध्यक्ष बने और उन्हीं के सभापतित्व में एक तरह से उनके अनुज राजेन्द्र प्रसाद स्थायी अध्यक्ष चुने गये।''[21]

20 नवम्बर, 1946 ई॰ को संविधान-सभा का विधिवत उद्घाटन लोकसभा भवन के केन्द्रीय हॉल में हुआ। यह एक ऐतिहासिक अवसर था। देश का भावी संविधान बनाने के लिए जनता के प्रतिनिधि पहली बार एकत्रित हुए थे। इसकी पहली बैठक में 207 सदस्यों ने भाग लिया। इस अवसर पर सर्वप्रथम काँग्रेस के अध्यक्ष, आचार्य जे॰ बी॰ कृपलानी ने डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा से संविधान सभा के अस्थायी अध्यक्ष की कुर्सी को सुशोभित करने का आग्रह किया। उन्होंने कहा ''सच्चिदानन्द सिन्हा 1910 ई॰ से लेकर 1920 ई॰ तक केन्द्रीय विधायिका परिषद के सदस्य थे। उन्होंने केन्द्रीय विधान सभा में सदस्य के रूप में 1921 ई॰ में प्रवेश किया और उसके उपाध्यक्ष चुने गये। उसी समय बिहार में द्वैध शासन के अन्तर्गत बिहार एवं उड़ीसा प्रान्त के एग्जेक्यूटिव कौंसिलर बनाये गये और उन्हें वित्त विभाग सौंपा गया। जहाँ तक मुझे याद है सच्चिदानन्द सिन्हा पहले भारतीय थे जिन्हें किसी प्रान्त के वित्त मंत्री के रूप में कार्य करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। शिक्षा के प्रति उन्हें विशेष लगाव है और उन्होंने पटना विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में आठ वर्षों तक काम किया है। इन बातों से सबसे उपर हम लोगों के बीच वे सबसे पुराने काँग्रेस कर्मी हैं।''[22]

संविधान सभा के अंतिम दिन 24 जनवरी 1950 ई॰ को संविधान सभा की तीन प्रतियाँ सभा पटल पर रखी गयी। सभा के अध्यक्ष ने सभी सदस्यों से प्रार्थना की कि वे एक-एक करके तीनों प्रतियों पर हस्ताक्षर करें। लेकिन अफसोस की बात थी कि जब संविधान की प्रतियों पर हस्ताक्षर करना था तो उस समय सच्चिदानन्द सिन्हा अपने पटना आवास पर काफी बीमार थे, दिल्ली जाना संभव नहीं था। अतएव संविधान सभा के एक विशेष अधिकारी आर॰ स्वामीनाथन को उनका हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिए राजेन्द्र प्रसाद द्वारा संविधान की मूल प्रति के साथ चार्ट्ड विमान द्वारा पटना भेजा गया।

जगदीश चन्द्र माथुर ने लिखा है कि ''जब राजेन्द्र बाबू स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में पहले-पहल पटना पहुँचे और उन्होंने सिन्हा साहब के चरण छूकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया। जो लोग उस समय उपस्थित थे, उनकी आँखों के सामने भीष्म पितामह का चित्र खिंच गया।''[23]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सच्चिदानन्द सिन्हा भारत-विख्यात विधानशास्त्री[24] तो थे ही, साथ ही साथ वे एक उच्च कोटि के सांसद, योग्य विधायक एवं एक अनुभवी प्रशासक भी थे। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय शासन प्रणाली के विधानों और कानूनों का विशद् ज्ञान और देश के इतिहास व संस्कृति की उनकी गहरी समझ से काँग्रेस के नेतृत्व में उनका अलग एवं विशिष्ट स्थान बना।[25] उनकी यही पहचान अन्तत्वोगत्वा उन्हें सांसद, विधायक, मंत्री, प्रशासक के साथ-साथ संविधान सभा के अस्थायी चेयरमैन के पद तक पहुँचाया। वे अस्सी वसंत को पारकर 6 मार्च 1950 को इस संसार से विदा हुए, लेकिन उन्होंने अपने पीछे सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक जीवन की एक ऐसी जीवन्त रेखा छोड़ी है, जिसे दिग् दिगंत हर कोई भारतवासी स्मरण करता रहेगा।

इतिहास विभाग,
मगध विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र : बिहार : इतिहास एवं संस्कृति ल्यूसेंट पब्लिकेशन, पटना, 2008, पृ॰ 280
2. शंकर दयाल सिंह : ''आधुनिक भारत-निर्माताओं में एक : डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा'', के.के. दत्त (सम्पादित) - डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, श्रीमती राधिका सिन्हा इन्स्टीच्यूट एवं सच्चिदानन्द

सिन्हा लाइब्रेरी, पटना, 1972, पृ॰ 32
3. प्रशान्त गौरव; बिहार का राजनीतिक इतिहास, पटना, 2006, पृ॰ 67
4. राम शोभित सिंह; राष्ट्र शिरोमणी सच्चिदानन्द सिन्हा, नोयडा, 2009, पृ॰ 49
5. शंकर दयाल सिंह; पूर्वोद्धृत
6. बद्रीनारायण सिन्हा, प्रेसिडेंसियल एड्रेसेज डेलिवर्ड एट दि बिहारी स्टूडेन्ट्स कॉंफ्रेंस (1906-1923), पार्ट, 1931, पृ॰-3-4.
7. जे.सी. झा; ''एस्पेक्ट्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ पटना कॉलेज", केयामुद्दीन अहमद (सम्पादित), पटना थ्रू द एजेज, 1988, पटना, पृ॰ 25-26
8. द हिन्दुस्तान रिव्यू, मई-जून, 1909
9. एन.एम.पी. श्रीवास्तव, बिहार में राष्ट्रीयता का विकास, पटना, 1998, पृ॰-13.
10. रामशोभित सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰-46.
11. वही, पृ॰ 50
12. ब्रज कुमार पाण्डेय एवं चित्तरंजन चौधरी, बिहार विधान परिषद का इतिहास (1912-1950), बिहार विधान परिषद सचिवालय, पटना, 2012, पृ॰-22.
13. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत, पृ॰ 282
14. कृष्ण कुमार सिंह, ''डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा : ए कस्टोडियन ऑफ पब्लिक पर्श एण्ड एन इकोनोमिक थींकर", के.के. दत्त सम्पादित, डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, पटना, 1972, पृ॰-62.
15. रामशोभित प्रसाद सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰-47.
16. कृष्ण कुमार सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰-61.
17. रामशोभित प्रसाद सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰-48.
18. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत
19. रामशोभित प्रसाद सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰-39.
20. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत
21. जगदीश चन्द्र माथुर; ''सच्चिदानन्द सिन्हा : एक जन्मजात चक्रवर्ती'', के॰ के॰ दत्त सम्पादित, डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, पृ॰ 10
22. कांस्टीच्यूयेन्ट एसेम्बली डिवेट्स, जिल्द-1, दिनांक-09 दिसम्बर, 1946, भारत सरकार, नई दिल्ली
23. जगदीश चन्द्र माथुर,पूर्वोद्धृत
24. शिवपूजन सहाय; ''श्री सच्चिदानन्द सिन्हा'' के॰ के॰ दत्त सम्पादित; डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, श्रीमती राधिका सिन्हा इन्स्टीच्यूट एवं श्री सच्चिदानन्द सिन्हा लाइब्रेरी, पटना, 1972, पृ॰ 1
25. हेमन्त, बिहारनामा, बिहार विधान परिषद् सचिवालय, पटना, 2012, पृ॰-29.

रामायण में वर्णित राक्षस संस्कृति

डॉ. संजय कुमार

रामायण संस्कृत साहित्य का 'आदिकाव्य' हैं, और इसके रचयिता वाल्मीकि 'आदि कवि' हैं। रामायण अत्यन्त लोकप्रिय काव्य है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया गया है। वर्तमान में रामायण में 24,000 श्लोक है जो सात काण्डों में विभक्त है। बाल काण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड। रामायण की कथा इतनी प्रचलित है कि इसका वर्णन करना जरूरी नहीं है। रामायण में राम का रावण के साथ युद्ध प्रमुख घटना है। जिसमें सुग्रीव और उसके साथी ने राम की तरफ से युद्ध किया था। इससे स्पष्ट है कि रामायण में तीन तरह की संस्कृति आर्य, राक्षस और वानर संस्कृति का परिचय मिलता है।

रामायण में राक्षसों और वानरों के बारे में कतिपय ऐसी बातें कही गई हैं जो यथार्थ में संभव नहीं प्रतीत होती है। जैसे वानरों की पूंछ रावण के दस सिर इत्यादि। रामायण के वर्णनों से इतना तो स्पष्ट है कि जातीय तथा सांस्कृतिक दृष्टि से वानर और राक्षस न केवल आर्यों से भिन्न थे अपितु परस्पर भी बहुत विरोधी थे।

राक्षस : रामायण के राक्षस संभवतः समुद्र तट पर रहने वाली एक जाति थी। वाल्मीकि रामायण के अनुसार धन-वैभव में परिपूर्ण होने के बावजूद राक्षस भारत की आदिम जातियाँ थी। आर्यों के सहयोग अथवा विरोध के कारण दिव्य अथवा दुष्टयोनियां बन गई।[1] इन्हें भारत की मूल द्रविड़ जातियां माना जा सकता है। इन जातियों की अपनी पृथक संस्कृति और राज्य व्यवस्था थी। वैदिक काल में भी दक्षिण भारत में मूल अनार्य जातियों का ही प्रभुत्व बना हुआ था। महर्षि अगस्त्य पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विध्य पर्वत को पार करके दक्षिण भारत में अपने आश्रम की स्थापना की। इसके बाद आर्य-अनार्यों के बीच आक्रमण-प्रत्याक्रमण का सिलसिला शुरु हुआ था। रामायण में उसका बहुत ही सुन्दर, रोचक और प्रामाणिक झांकी वाल्मीकि ने प्रस्तुत की है।

राक्षसों की शाखाएँ : रामायण में राक्षसों के तीन शाखाओं का पता चलता है। इन तीनों शाखाओं का अपना अलग-अलग वंश था। पहली शाखा-विराध-शाखा थी। वह दण्डकारण्य के उत्तरी भाग में रहती थी। इसका प्रधान-विराध नामक राक्षस था। विराध भयानक आकृति वाला था तथा इसका वध राम-लक्षण के हाथों हआ।[2] राक्षसों की दूसरी शाखा दनु की संतति होने के कारण दानवों के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा का प्रधान विचित्र आकृति वाला कबंध नामक राक्षस था, जिसको लक्ष्मण ने मारकर गड्ढे में डालकर जला दिया।[3] तीसरी शाखा जो सबसे अधिक क्रूर और शक्तिशाली थी ''राक्षस'' के नाम से जानी जाती थी। इस शाखा के अंतर्गत लंका के निवासी आते थे जो पुलस्त्य और दिति के वंशज रावण के अधीन थे। रामायण के सुन्दरकाण्ड में लंका के राक्षसों का बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है।

राक्षसों की उत्पत्ति : वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में राक्षसों की उत्पत्ति के विषय में विवरण मिलता है। महर्षि अगस्त्य के वचन को सुनकर भगवान् राम को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने मुनि से कहा कि मुनिवर राक्षस कुल की उत्पत्ति तो विश्रवा से ही मानी जाती है। किन्तु इस समय आप दूसरे कुल से भी राक्षसों के प्रादुर्भाव की बात

करते है। अगर दूसरे कुल से राक्षसों की उत्पत्ति हुई है तो उसके पूर्वज कौन थे? उस बलशाली पुरुष का नाम क्या था? भगवान् विष्णु ने किस अपराध हेतु उन्हें मारा।[4] इस पर अगस्त्य ऋषि ने कहा-'जल से प्रकट हुए कमल से उत्पन्न प्रजापति ब्रह्मजी ने पूर्व काल में समुद्र गत जल की सृष्ट करके उसकी रक्षा के लिए अनेक प्रकार के जल-जन्तुओं को उत्पन्न किया वे जन्तु भूख-प्यास भय से पीड़ित हो, अब हम क्या करें ऐसी बातें करते हुए अपने जन्मदाता ब्रह्मजी के पास गए। प्रजापति ने कहा - जल जन्तुओं तुम यत्न पूर्वक इस जल की रक्षा करों। वे सब जन्तु भूखे-प्यासे थे। उनमें से कुछ ने कहा-हम इस जल की रक्षा करेंगे और दूसरे ने कहा कि हम इसका यक्षण (पूजन) करेंगे तब प्रजापति ने कहा तुमसे जिन लोगों ने रक्षा करने की बात कही है वे राक्षस नाम से प्रसिद्ध हो और जिन्होंने यक्षण करना स्वीकार किया हे वे यक्ष नाम से विख्यात हों। इस प्रकार वे जीव-राक्षस और यक्ष इन दो जातियों में विभक्त हो गए।[5]

कहा जाता है कि लंका का निर्माण विश्वकर्मा ने मूलतः देवों के निवास के लिए किया था। इसमें रक्षा के लिए प्राकृतिक तथा कृत्रिम अद्‌भुत उपाय सुलभ थे अतएव यह अपने युग की सर्वाधिक सुदृढ़ एवं सुरक्षित राजधानी थी। किसी कारणवश देवगण लंका में आकर नहीं बसे, अतएव विश्वकर्मा के सुझाव पर सुकेश के पुत्रों के नेतृत्व में राक्षस आकर रहने लगे। इन लोगों ने बड़े अत्याचार किए तथा देवों से द्वेष भी करने लगे परिणामस्वरूप विष्णु के नेतृत्व में देवों ने लंका पर आक्रमण किए जिसमें न केवल राक्षसों की पराजय हुई अपितु उन्हें लंका से भागकर रसातल में छिपना पड़ा। इस सूनी लंका को तप के प्रभाव से लोकपाल बने यक्षों के स्वामी कुबेर ने अपने पिता विश्रवा की आज्ञा से फिर से बसाया।

कुछ समय बाद राक्षस सुमाली की पुत्री कैकसी ने पिता की प्रेरणा से महर्षि पुलस्त्य के पुत्र मुनि विश्रवा का वरण किया और उनसे रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण तथा शूर्पणखा नाम की सन्तान प्राप्त की। रावण और उसके भाइयों ने असाधारण तप करके ब्रह्मदेव से अवैध वरदान प्राप्त किए और एक बार फिर राक्षसों के गौरव को सुप्रतिष्ठित किया। रावण ने लंका को यक्षों से खाली करवाया और उसे फिर से राक्षसों की राजधानी बनाया।[6]

राक्षसों का रंग रूप-आर्य श्वेत वर्ण के थे वहीं राक्षस काले, गहरे नीले थे। वाल्मीकि रामायण में उन्हें - मापराशिप्रतीकाशं (उड़द के ढ़ेर के समान) कहीं नीलजीमूतवर्णाम् (नीले बादल की सी आभा वाला तो कहीं काले काजल के पर्वत के रंग के तरह का कहा गया है।

रामायण में उन्हें 'महाकाय' भीमकाय' महाश्य (बड़े मुंह के) महादष्ट्रं महाग्रीव महोदर कहा गया है। कभी-कभी तो अंगों की इस विशालता के कारण महर्षि वाल्मीकि राक्षसों को विभिन्न पशुओं के अंगों वालों के रूप में वर्णन किया है। छोटे आकार वाली लम्बे आकार वाली कुबड़ी, टेढ़े शरीर वाली लम्बें कानों और ललाट वाली, लम्बे पेट और पयोधरों वाली लम्बे होंठों वाली राक्षसियों का वर्णन किया गया है।[7] घोड़ों, ऊँटों और गधों जैसे मुखों वाली भयंकर आकृतियों वाली, शूल और मुद्‌गर को हाथों में धारण करने वाली, क्रोधी स्वभाव वाली, और झगड़ालू राक्षसियों को हनुमान जी ने देखा। सुन्दरकाण्ड में सीता का पहरा देने वाली राक्षसियों के विषय में जो जानकारी महर्षि वाल्मीकि देते है उससे लगता है कि रंग, रूप और शारीरिक बनावट की भिन्नता के कारण आर्य जाति उन्हें भिन्न मानती थी वहीं राक्षस स्वयं भी अपने आप को भिन्न मानते थे।

राक्षसों का भोजन : राक्षसों का भोजन घोर तामसी था। वे मांस और मदिरा के प्रेमी थे। सुन्दरकांड में रावण के अन्तः पुर में हनुमान ने नाना प्रकार के पशु-पक्षियों के पकाएं हुए मांस को देखा।[8]

राक्षसों के भोजन में भले ही मांस की प्रधानता थी फिर भी वे अन्न का भोजन भी करते थे।[9] कुशल रसोइए उनका भोजन बनाते थे। मांस की तरह राक्षस शराब के भी प्रेमी थे।[10] रावण के अन्तःपुर का एक खण्ड ''पानभूमि'' के नाम से प्रसिद्ध था जिसमें हनुमान ने पीकर मदहोश हुई स्त्रियों और उनके स्वामी रावण को देखा।

राक्षसों का धर्म : राक्षसों के धर्म के विषय में उलझी जानकारी प्राप्त होती है। वह आर्य और अनार्य दोनों ही परम्परा के धर्मों का पालन करते थे। एक तरफ और राक्षसों को वेद वेदांग का ज्ञाता, मंत्रों का विद्यिवत पाठ करने वाला स्वाध्याय परायण श्रेष्ठ यज्ञ-यज्ञादि करने वाला यथावसर विधिपूर्वक राज्याभिषेक, अन्त्येष्टि, विवाह जैसे संस्कारों को करते हैं।[11] वहीं दूसरी तरफ अनिष्टकारी आभिचारिक क्रियाओं में संलग्न दिखाया गया है। ''मायावी''

राक्षस का सामान्य परिचय है और वह अपने लौकिक तथा धार्मिक व्यवहार में माया का आश्रय लेता हुआ बताया गया है। अनेक स्थलों पर राक्षसों के लिए ''निकुंभिला नाम आता है। उत्तरकाण्ड में लंका में निकुभिला नाम का एक महावन था।[12] जहां राक्षस वीर अपनी आभिचरिक साधनाएं करते थे। राम, लक्ष्मण और समस्त वानर सेना को माता-सीता के वध द्वारा मोह में डालकर इन्द्रजीत हवन से अग्नि को सन्तुष्ट कर दर्धर्ष तथा निश्चित विजय दिलाने वाला आकाशचारी रथ प्राप्त करने की कामना से निकुंभिला के चैत्य में गया था।

उत्तरकाण्ड में लिङ्गपूजा का चलन दिखाई पड़ता है। रावण उत्तरकाण्ड में लिङ्ग पूजा करता हुआ दिखाई देता है।[13] यह सर्वविदित है कि लिङ्ग पूजा वैदिक काल से पूर्व सिन्धु घाटी-सभ्यता के समय से चली आ रही है। राक्षस भी लिङ्ग की पूजा करते थे।

अंत में निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि राक्षस की संस्कृति आर्य संस्कृति से भिन्न एवं परस्पर विरोधी थी। आर्य सामाजिक दृष्टि से पितृ-सत्तात्मक समाज को मानते थे जिसमें वंश परम्परा पिता-पुत्र के क्रम से चलती थीं और परिवार के सबसे वृद्ध सदस्य को परिवार का मुखिया माना जाता था वहीं राक्षस मातृ-सतात्मक व्यवस्था में रहते थे। रावण विश्रवों की संतान थे लेकिन राक्षसी कैकसी के पुत्र होने के कारण राक्षस ही कहलाएं। आर्यों के वर्ण विभाजन की तरह राक्षस समाज में भी कोई विभाजन था या नहीं इस पर कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है। सामान्यत: राक्षसों के दो प्रकार रामाण में मिलते है :- ब्रह्मराक्षस तथा यातुधान। इसमें ब्रह्म राक्षस वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता तथा श्रेष्ठ यज्ञों द्वारा भजन करने वाले कहे गए हैं। तथा यातुधान मंत्रों का जाप करते तथा स्वाध्याय में तत्पर बताये गए हैं।[15] आर्य संस्कृति में चार पुरुषार्थ मानते हैं, वहीं राक्षस के जीवन में ''काम'' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है बाकि धर्म को भी काम की प्राप्ति का साधन मानते हैं। सुन्दरकांड में अशोक वाटिका में राक्षसियां बार-बार सीता को यह उपदेश देती है कि स्त्रियों का यौवन क्षण भंगुर है, इसलिए समय रहते अधिक से अधिक उसका उपभोग कर लेना चाहिए।**16** यही बात रावण स्वयं भी सीता को यही उपदेश देते हुए कहते हैं। इस तरह राक्षस संस्कृति एक विपरीत और विरोधी संस्कृति थी।

संस्कृत विभाग,
अकबरपुर, नवादा, बिहार

सन्दर्भ सूची

1. चितामणि विनायक वैद्य-द रिडिल ऑफ द रामायण - पृ.-94
2. आचार्य - चतुरसेन - वैदिक संस्कृति आसुरी प्रभाव, पृ.-130
3. वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड सत्र 4-14
4. श्रुत्वागस्त्येरितं वाक्यं रामो विस्मयमागत:।
   कथमासीद् तु लड़कायां सम्भवो रक्षसां पुरा।।
   पुलस्त्यवंशदुद्भूता राक्षसा इति न: श्रुतम्।
   इदानीमन्यतश्चापि संभव: कीर्तितस्त्वयो।।
   वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग - 3
5. ऐतरेय ब्राह्मण, 7-4-18
6. वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड-सर्ग-9-11
7. लम्बकर्णललाटां च लम्बोदरपयोधराम्।
   लम्बोष्ठी चिबुकोष्ठीं च लम्बास्यां लम्बजानुकाम्।7
   ह्रस्वां दीर्घां च कुब्जां च विकटां वामनां तथा
   करालां भुग्नवक्त्रां च पिङ्गाक्षीं विकृताननाम्। 8
   विकृता: पिङ्गला: काली: क्रोधना: कलइप्रिया:।
   कालायसमहाशूलकूटमुदगरधारिणी।। 9
   वराहमृगशार्दूलमहिषाजशिवा मुखा:।
   गजोष्ट्रहयपादाश्च निखातशिरसोऽपरा:।। 10
   एकहस्तैकपादाश्च खरकर्ण्यश्वकर्णिका:।
   गोकर्णीर्हस्ति कर्णीश्च हरिकर्णी स्तथापरा 3 ।। 11
   अतिनासाश्च काश्चिच्च तिर्यक्श्वासा अनासिका:।
   गजसंनिभनासाश्च ललाटोच्छवासनासिका:।। 12
   हस्तिपादा महापादा गोपादा: पादचूलिका: ।
   अतिमात्रशिरोग्रीवा अतिमात्रकुचोदरी ।। 13
   अतिमात्रास्यनेत्राश्च दीर्घजिह्वाननास्था।
   अजामुखीर्हस्तिमुखीर्गोमुखी: सूकरी मुखी:। 14
   सुन्दर काण्ड सप्तदश: सर्ग
   7 - 14 श्लोक
8. मृगाणां महिषणां च बराहाणां च भागश:।
   तत्र न्यस्तानि मांसानि पानभूभौ ददर्श स:।
   शैक्ष्मेषु च विशालेषु भाजनेष्वप्यभ-क्षितान्

दशर्श कपिशार्दूलो मयूरान् कुक्कटास्तथा।
वराहवार्ध्राणसकान्दधिसौवर्चलायुतान्।
शल्यान्मृगमयूरांश्च हनुमानन्ववैवक्ष
कृकलान् विविधांश्छागांच्छाशकानर्धभक्षितान्।
महिषानेकशल्यांश्च मेषांश्च कृतनिष्ठितान्।।
सुन्दरकाण्ड, एकादश सर्ग
श्लोक - 14-17

9. राशिमन्नस्य भक्षितम्, युद्धकाण्ड 60/32
10 सुरा चानीयतां क्षिप्रं सर्वशोकविनाशिनी।
मानुषं मांसमासाद्य नृत्यामोऽथ निकुम्भिलाम्।
सुन्दरकाण्ड चतुर्विदशः सर्ग, श्लोक - 46
11. प्रज्वाल्य तत्र चैवाग्निमकरोत् पाणि संग्रम्।
उत्तरकाण्ड 12/20, युद्धकाण्ड 112/12-16
युद्धकाण्ड - 111/104
ततो मदिनिष्यन्दैः ...करिष्याम्युदकं तेषां हतानां सर्वरक्षसाम्।
अरण्यकाण्ड-35/5
12. ततो निकुंभिला नाम लकांयां तु महावनम्।
13. यत्र यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिंङ्ग तत्र तत्र स्म नीयते।
उत्तरकाण्ड - 31/42
14. षडङ्गवेदिविदुषांक्रतुप्रवरयाजिनाम्
शुश्राव ब्रह्मद्योषान् सविरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्।
युद्धकाण्ड 18/2
15. शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै।
स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः।
सुन्दरकाण्ड - 4/13
16. जानीमहे यथा भीरू स्त्रीणां यौवनमध्रुवम्।
यावन्न ते व्यतिक्रामेत्तावत् सुखमवाप्नुहि।
सुन्दरकाण्ड 24/34-35
17. पिब विहर रमस्व, भुक्ष्व भोगान्।
सुन्दरकाण्ड 20/35

शोध-पत्र

सांख्य दर्शन में पुरुष

डॉ. रश्मि कुमारी

सांख्य दर्शन आस्तिक दर्शन की परम्परा में सबसे प्राचीन दर्शन है। महर्षि कपिल को सांख्य दर्शन का प्रतिष्ठापक आचार्य माना जाता है। उन्होंने ''सांख्य सूत्र' नामक ग्रन्थ रचना की थी। महर्षि कपिल द्वारा प्रवर्त्तित इस दर्शन का नाम सांख्य दर्शन क्यों पड़ा? इस विषय में दो दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार ''सांख्य शब्द संख्या से सम्बन्धित है। इस दर्शन का नाम ''सांख्य दर्शन इसलिए पड़ा क्योंकि इसमें सर्वप्रथम तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गई है। सांख्य प्रवचनभाष्य से ज्ञात होता है कि इसमें चौबीस तत्वों (प्रकृति, महत्, अहंकार एकादश इन्द्रिय पंचतन्तमात्रा एवं पंच महाभूत) का विवेचन होने के कारण इसे सांख्य दर्शन कहते है। इन चौबीस तत्त्वों के साथ पुरुष को शामिल करने से तत्त्वों की संख्या 25 हो जाती है। उसी तरह द्वितीय दृष्टिकोण यह है कि ''सम्यक ज्ञान' का निवेचन होने के कारण कपिल के दर्शन को सांख्य दर्शन कहा जाता है। ये विचारक 'सम' पूर्वक ''ख्याञ्'' धातु से सांख्य शब्द की व्यत्पत्ति दिखाकर इसका अर्थ 'सम्यक् ख्यान् (सम्यक् ज्ञान) कहते हैं।

सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। जिसमें दो स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष तत्त्व स्वीकार किए गए है। ये हैं - पुरुष और प्रकृति। पुरुष सांख्य दर्शन का आत्मतत्त्व है जो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भिन्न है एवं चैतन्य स्वरूप हैं। सांख्य दर्शन की मान्यता है कि पुरुष के कैवल्यार्थ ही प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है। सांख्य दर्शन पुरुष के विषय पर इस तरह विचार करता है।

पुरुष का स्वरूप : सांख्य दर्शन में पुरुष का स्वरूप प्रकृति के सर्वथा विपरीत माना गया है। चूँकि यह प्रकृति को त्रिगुणात्मक अविवेकी विषय ज्ञेय अविविक्त, सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मी या परिणामी मानता है। प्रकृति का विरुद्ध-धर्मी होने के कारण पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी विषयी ज्ञाता विविक्त विशेष चेतन और अपरिणामी है।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्य अचेतनं प्रसव धर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।[1]

सांख्यकारिका के उपरोक्त कारिका में पुरुष की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई गई हैं।-

त्रिगुणातीत : त्रिगुण से रहित पुरुष को कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष सुख दुःख एवं मोह, इन तीनों गुणों से रहित है।

विवेकी : विवेकवान होना पुरुष का स्वरूप है पुरुष स्वतन्त्र रूप से कार्य कर ने की क्षमता वाला होता है।

विषय : विषय का अर्थ 'ग्राह्य' है। चेतन होने से वह विवेकी एवं विषयी अर्थात् शब्दादि विषयों का उपभोक्ता होता है। अतः वह किसी का विकार तो है नहीं किसी तत्व को उत्पन्न करने की क्षमता भी उसमें नहीं है। क्योंकि उत्पादक या प्रेरक तत्व रजो गुण का लेश तक नहीं होता।

पुरुष वस्तुतः बद्ध एवं मुक्त उभयरूप से व्यावृत्त होता है अर्थात् उसमें स्वरूपगत भेद नहीं होता।[2] वह व्यक्त एवं शान्त चित्त का निर्विकार द्रव्य है। पुरुष की साक्षिता बुद्धि से उसके साक्षात् सम्बन्ध के कारण है। वह बुद्धि का ही साक्षी होता है अन्य का दृष्टामात्र। इसके अतिरिक्त पुरुष स्वरूपतः नित्यमुक्त है। दुःख रूप बन्धन वस्तुतः चित्त का होता है पुरुष का नहीं। पुरुष उदासीन है। उसकी यह उदासीनता उसका अकर्तृत्व भाव है। काम संकल्प विचिकित्सा, श्रद्धा आदि क्रियाएँ मन बुद्धि एवं अहंकार

की है पुरुष की नहीं है। पुरुष में कर्तृत्व की जो प्रतीति होती है उसका कारण अग्नि एवं लौह पिण्ड या जल एवं सूर्य के समान बुद्धि और पुम्ष का उपराग है।[3] जिसमें प्रसव रूप धर्म ही उसे ही प्रसवधर्मी कहते हैं। पुरुष प्रसव अर्थात् परिणाम से रहित है। उसमें किसी भी सरूप अथवा विरूप परिणाम की स्थिति न होने से अप्रवधर्मी रूप विशेषता है।

तस्माच्य विपर्यसात सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टत्वमकर्तृ भावश्च।।[4]

पुरुष का स्वरूप इस कारिका में भी बताया गया है। उस त्रिगुणादि धर्मो से विपरीत होने के कारण इस पुरुष का साक्षित्व कैवल्य, माध्यस्थ दृष्टत्व और अकर्तृत्व भी सिद्ध होता है।

साक्षित्व - पुरुष विषय रूप नहीं हैं, इसलिए वह साक्षी है जिसे विषय दिखाया जाए वह साक्षी कहलाता है। उसी तरह पुरुष त्रिगुणरहित है जिससे उसका केवलीभाव सिद्ध होता है। सत्त्व, रजस, और तमस, प्रकाशादि धर्मो के कारण परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। पुरुष सत्वादि गुणों से पृथक् है। पुरुष मध्यस्थ या उदासीन है। सुखी व्यक्ति सुख से तृप्त होने पर सुख का पक्षपाती हो जाता है, किन्तु पुरुष सुख दु:खदि से रहित होने के कारण ''मध्यस्थ या उदासीन है। पुरुष द्रष्टा है क्योंकि वह चिन्मात्र है। अपनी चैतन्य शक्ति के सहभाव के कारण वह सुख-दुख और मोह स्वभाव वाले सत्वादि गुणों के परिणामों को सन्निधिमात्र से ग्रहण करता है। पुरुष में कर्तृत्व नहीं है क्योंकि वह प्रसवधर्मी नहीं है, प्रस्पन्दन और परिणामस्वरूप क्रियाएं प्रसवधर्म कहलाती है। पुरुष निष्क्रिय है।

पुरुष की अनेकता

सांख्य, न्याय वैशेषिक जैन, मीमांसकों के समान आत्माओं (पुरुषों) का अनेकता के सिद्धांत मानते हैं। सांख्य-सिद्धांत के अनुसार जितने जीव पुरुष है। उनका अपना जन्म एक दूसरे की अपेक्षा किए बिना ही होता है। एक ही मृत्यु से सबका भरण भी हो जाता। यह नहीं प्रत्येक प्राणी के बाह्याभ्यन्तर उभयविधकरण भी भिन्न-भिन्न ही होते है। इनकी वचन आदान विहरण उत्सर्ग एवं आनन्दात्मक प्रवृत्तियों भी एक साथ नही होती है।[6]

जन्म मरण करणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रकृतेश्न।
पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव।।[7]

अर्थात् जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था एक साथ प्रवृत्ति का अभाव तथा गुणों के भेद के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है।

1. जन्म मरण करणानां प्रतिनियिमात्-सांख्य दर्शन के अनुसार संसार में प्रत्येक पुरुष का जन्म मरण और करण (इन्द्रियां) प्रतिनियत हैं। विभिन्न पुरुष के जन्य मृत्यु में अन्तर दिखाई देता है। विभिन्न पुरुषों की इन्द्रियों में भेद प्रतीत होता है। एक पुरुष के अन्धा या बहरा होने से सभी पुरुषों के अंधा या बहरा होने का प्रसंग उपस्थित नहीं होता।

2. अयुगपत्प्रवृत्ते : सांख्य दर्शन के अनुसार संसार में युगपत् प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती है। विश्व में प्रत्येक व्यक्ति के क्रिया कलापों में विभिन्नता दिखाई देती है। हम देखते हैं कि जब एक व्यक्ति सोता है तब दूसरा व्यक्ति कार्य करता रहता है। एक व्यक्ति हंसता है तब दूसरा व्यक्ति रोता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न कर्म प्रवृति परिलक्षित होती है। यदि सभी जीवों में एक ही पुरुष होता तो एक व्यक्ति द्वारा कोई कार्य करने पर सभी लोग उसी कार्य में रत दिखाई देते। किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि पुरुष एक नहीं है। वह अनेक है।

3 त्रैगुण्यपिर्यात : संसार के सभी जीवों में विभिन्न स्तर दिखाई देते हैं और उनमें गुण की दृष्टि से भेद प्रतीत होता है। देवताओं का स्तर सभी जीवों में सर्वोच्च है। इसके बाद मानव जाति का स्तर है। अन्त में पशु-पक्षियों तथा अन्य जीवों का स्तर है। पुन: यद्यपि सभी जीवों में सत्व, रजस, एवं तमस् तीनों गुण पाए जाते हैं तथापि प्रत्येक जीवों में तीनों गुणों में विभिन्नता पायी जाती है। देवताओं में सत्त्व गुण की अधिकता होती है। मनुष्यों में रजोगुण की तथा अन्य जीवों में तमोगुण की बहुलता पायी जाती है। किन्तु मानव-योनि के विभिन्न जीवों में भी तीनों गुणों का भेद दृष्टिगोचर होता है। किसी में सत्त्व गुण की प्रधानता है तो किसी अन्य में रजस् अथवा तमस् की। यदि सभी जीवों में एक ही पुरुष व्याप्त होता है तो उनकी एक ही कोटि होती और उनमें कोई गुणों की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष एक नहीं अनेक है।

पुरुष के अस्तित्व में प्रमाण :

सांख्य दर्शन युक्तियों के आधार पर पुरुष के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए निम्नलिखित कारिका प्रस्तुत करता है।

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्यादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च।।[8]

पुरुष की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियाँ प्राप्त होती है जिसमें पहली है–

1. संघातपरार्थत्वात : अर्थात् संघात पदार्थ दूसरों के लिए होता है, अपने लिए नहीं। जैसे लोक में शयन आसन रथ आदि पदार्थ हैं वे अन्य के लिए होते है अपने लिए नहीं उसी तरह हमारा यह भौतिक शरीर भी संघात रूप होने से परार्थ (दूसरों) के लिए होना चाहिए। अत: जिस पर दूसरे के लिए शरीर है वहीं पुरुष है। अत: पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।

2. त्रिगुणादिविपर्ययात् : पुरुष की सिद्धि में दूसरी युक्ति त्रिगुणादि का विपर्यय (अभाव) होने के कारण भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। भाव यह है कि बाह्म एवं आन्तरिक व्यक्त जगत् तथा प्रधान (अव्यक्त) ये सभी त्रिगुणात्मक है, अविवेकी विषय सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मी है। यदि यहाँ इतना ही संसार होता और उसके अतिरिक्त पुरुषत्व नहीं होता तो किस की अपेक्षा के कारण व्यक्त और अव्यक्त में उपर्युक्त त्रैगुण्यादि होते हैं? इससे (व्यक्त अव्यक्त) से सर्वथा अलग (विपरीत) पुरुषतत्व है। इससे पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है!

3. अधिष्ठानात् : पुरुष की सिद्धि में तीसरी युक्ति है अधिष्ठान से भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। सांख्य के अनुसार विश्व के सभी भौतिक पदार्थ अचेतन हैं। अचेतन में कोई क्रिया तभी सम्पन्न हो सकती है जब कोई चेतन तत्त्व उनका नियमन एवं नियंत्रण करे। जैसे सारथी से अधिष्ठित होने पर ही रथ चलता है। वैसे जड़ प्रकृति एवं उसके विकार चेतन तत्त्व से नियमित एवं नियंत्रित होने पर ही सृष्टि रचना कर सकते है अथवा शरीर चेतन तत्त्व से अधिष्ठित होने पर ही कोई क्रिया कर सकती है। इस प्रकार प्रकृति एवं उसे विकारों के अधिष्ठाता, की दृष्टि से पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।

4. भोक्तृभावात् : सांख्य दर्शन भोक्तृभावत्व से भोक्ता पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करता है। प्रकृति एवं उसके समस्त विकार भोग्य हैं, अत: इनका कोई भोक्ता भी होना चाहिए। जिस प्रकार भोजन का देखकर उसके किसी भोक्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार प्रकृति एवं उसके सभी विकारों का कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए। यह भोक्ता ही पुरुष हैं क्योंकि भोक्ता के अभाव में भोग्य पदार्थों की कोई सार्थकता नहीं होती है!

5. कैवल्यार्थप्रवृत्ते : यह पांचवीं युक्ति इस बात पर बल देती है कि पुरुष मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय एवं देह से भिन्न है सांख्य दर्शन के अनुसार संसार में कैवल्य के लिए प्रवृत्ति दिखाई देती है। कैवल्य मोक्ष है जिसमें त्रिविध दु:खों की आत्यान्तिक निवृति है। संसार में कुछ व्यक्ति कैवल्य हेतु प्रयासरत दिखाई देते हैं। वे तपश्चर्या, साधना आदि में रत रहते है। इस पद्धति में वे अपनी शरीर को भी कष्ट देते हैं। वे इन्द्रियों मन-बुद्धि आदि को भी नियंत्रित करने का दुष्कर कार्य करते हुए देखे जाते है। अत: स्पष्ट है कि वह तत्त्व जिसके कैवल्य हेतु वे प्रयासरत देखे जाते हैं, शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भिन्न हैं। सांख्य दर्शन इस चेतन आत्म तत्त्व को पुरुष कहता है।

पीएच.डी. (दर्शनशास्त्र),
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

सन्दर्भ सूची

1. सांख्याकारिका - 11
2. व्यावृत्तोभयरूप:। सांख्य सूत्र 1-160
3. सांख्य सूत्र 1-163, 164
4. सांख्यकारिका - 19
5. सांख्य तत्त्व कौमुदी प्र. का. 19 पृ. 219
6. सांख्य सूत्र 1-149
7. सांख्यकारिका - 18
8. सांख्यकारिका - 17

Research Paper

Dr. Jitendra Kumar

Condition of Peasants in India in the First Half of 20th Century: A Study

In this paper, an attempt has been made to study the condition of peasants during 1910-40 in Bihar, the first phase of agrarian mobilization in Bihar during the first half of the twentieth century and especially during 1930s and 1940s, the role of the Bihar Pradesh Kishan Sabha (BPKS) in this phase of mobilization, the response of major political party the congress towards this phase of mobilization.

In 1917, Mahatma Gandhi was the first man who started a movement against the English plants who realized from the farmers of Champaran (tax like sanbosi) and also started a system through which they threatened the so called peasants and farmers to produce indigo to their three kathas of land. The system was binding to them to produce indigo at last of three kathas of land per bigha. Gandhiji mobilized the farmers against this serious system and at last became successful in this mission.[1]

Like wise this is colonial Bihar, the agricultural lands were divided into the categories zirat, ryoti and bakast. Zirat lands which usually formed only a small part of a landlord's property, were homestead lands in which no other rights could accure. Ryoti lands which generally comprised the major parts of a landlord's property were those in which a tenant had acquired __ or occupy rights. Finally, bakast lands were lands in which the landlord held direct control over cultivation but in which in certain circumstances, short-term tenants or share-croppers could acquire occupancy status. [2]

Under the Bihar Tenancy Act, 1937 rent was reduced by 25 percent, but for purpose of commulation into caste, it was pitched at the high rate of 9/20 of the produce. The peasants received rights to transfer these holdings without prior comment of the zamindar and on the payment of a greatly reduced fee. Zamindars were restrained from selling the entire holding of a peasant' for non-payment of rent, but could still sell that part necessary to realize arrears. [3]

The majority of high caste household (including kayasthas) as well as upper status Muslims, were small landlords and rich peasants, a group which in North Bihar comprised about 10 percent of the population. The most numerous of the middle peasants were the Thirs or Yadav, the largest caste group in all distinct of Bihar followed by the traditional cultivating castes of Kurmis and Koeries.

Following Gandhiji's intervention in the Champaran struggle in 1917 political workers spread to other indigo plantation areas, e.g. in Bhagalpur and Purnia. Thereafter during the non-cooperation movement in 1921, a number of congress workers spread to the villages asking the landlords and sometimes the peasants to participate in the movement and for the collection of funds people like Swami Sahajanand joined the congress during this movement. Adivasis were involved through the incorporation of Tana Bhagats in this movement due to the reason that Jharkhand, etc. and parcel of Bihar".[4]

The economic crisis in 1929 dealt a tremendous blow to the peasants, Tensions mounted in the

following years and the Kisan Sabha spreads quickly under the table leadership of Swami Shahjanand. During the civil disobedience movement in 1932, all congress committees were declared illegal. As a result, village level workers by congress workers practically stopped, and the congress lost its holds over the Kisan Sabha. The apathy which was shown by the congress during the civil Disobedience movement compelled Swami SahjanandSaraswati to detect from the congress and due to the very reason Swami Sahjanand did not join the movement in 1932. He now became the undisputed leader of the peasantry in Bihar.

The landlord; now afraid of the increasing consciousness and organizational strength of the peasantry tried to disrupt the Kisan Sabha; They created a parallel organizations in the name of the united party and introduced a bill for the amendment of the Bihar Tenancy Act. This was severely opposed by the Kisan Sabha. Meetings in pretest were conducted all over the province. Compassion of the number of the meetings conducted in different districts, in which Swami Sahjanand was present, indicated a little the relatives __ of the Kisan Sabha in different areas.[5]

District	No. of meetings	Districts	No. of meetings
Patna	88	Darbhanga	38
Gaya	38	Saran	17
Shahabad	39	Champaran	02
Monghyr	59	Bhagalpur	22
Muzaffarpur	43	Purnea	13

Sources:- Report of provincial Kisan Sabha, Bihar, November 1929 to November 1935.

"In 1934 All India Congress socialist party was formed. The party incorporated the Kisan Sabha in November 1935 in the provincial Kisan Conference at Hajipur the resolution included abolition of our zamindari system.

Resistance developed among the tenants against the government and also against the Congress which was supporting the problems of the big landlords. Firs they tried processes of social reforms among themselves, through caste associations. But soon they were in confrontations with the zamindars. The latter were standing in their way of dealing with the increasing pauperization and marginalization by the exerting rent in addition to the revenue which the state demanded. Thus right from the beginning, the mobilization of peasants had a combined anti-government, anti-landlords character.

There were contradictory process at work in Bihari Society from the entire decade of the twentieth century the resistance of the dominant classes to basic restructuring of our social _____ and their leadership of economic and political reform movements that depended on successful mobilization of lower caste, middle and poor peasants.

The differentiated number of the agrarian poor was evident by 1930s. Sporadic clashes between agricultural labourers and the landlords over questions of homestead tenancy and social oppression received wide attention. The anti-BPKS section was quick to utilized in the formed some agricultural labours organizations is an attempt to weaken the Kisan movement.

BPKS leaders like Sahjanand at first is possible to improve this condition along with the bigger Kisans through the Kisan movement that was going on such an impression, however did not last long, and by about 1944, Sahjanand was fully aware that the BPKS had failed to look after the interests of this proper section. After such a realization it was quite natural that the radical activities would cause to treat all the agricultural classes in the same bracket and would take up the causes of agricultural labourers separately.

The interaction between a capitalist and settlement and social structure that was much too primitive gave rise to agrarian conflicts from the very beginning of colonial rule. Tension increases sharply in the twentieth century for a multiplicity of reactions. By the 1930s they crystallized into an organized and wide spread movement by the BPKS.[6]

The BPKS during its short life has undergone various experiences in programme formulation, organization layout and interaction with various political parties, while remaining the most important political force is Bihar. It was successful in bringing down the old and unsuitable settlement after the

country won freedom.

The mobilization articulated itself though the BPKS. However, the BPKS, though powerful and fairly widespread, was spontaneous effervescent and largely outside the control of the politics. The congressman, the socialists and the communists repeatedly tried to lift the movement which remained what it was an expressions of the urge of the relatively better off tenants to find ways of avoiding depredations by zamindars, and of the poor peasant its own obliteration.

At all times the BPKS-the organized form of Kisan movement had difficulties in defining who was a Kishan until 1936, all programme defined a peasant as anyone whose primary source of livelihood was agriculture. The definition was wide enough to include not merely tenants but also independent ryots and even petty landlords. The programme of the BPKS was clear that "only a handful of princes, big fendal chief and wealthy individuals are landlords.

By 1941, Sahjanand was writing that the agrarian problem could not be solved without solving the problems of agricultural labourers, and was arguing that BPKS should also reach the poorest section among the agrarian population. But inspite of his best intentions this did not happen in his life time, and Sahjanand admitted in 1944, with his characteristicbluntless, the BPKS was unable to get all peasants together and that the middle and the big cultivations in reality, were using the BPKS for their own benefits.

During the period of 1930-47, the BPKS changed its policies and programme radically. According its positions on the spectrum of political organizations also shifted. At began as an integral part of the nationalist movement led by the congress. A large number of congressmen took a bad in its formation. In ten years, however, the landed interest of many congress leaders became dissatisfied with its activities and they started attacking it. Simultaneously, a section of the young congressmen alienated increasingly.[7]

They formed the congress socialist party in the middle of the 1930s. During the ears preceding the Second World War, the congress socialist leaders supported the moderate Gandhi. Gandhi, then, was confrontation with the radical nationalists led by Subhas Chandra Bose.

The fiery peasant nationalism of SahjanandSaraswati brought his near to Bose. Sahjanand helped Bose to organize an anti-compromise conference at the Ramgarh venue of the congress session in 1940. The Second World soon severed this relationship because Bose formed the Indian National Army in allians with the Japanese. Sahjanand coming increasingly close to the communists took for a while the pro-soviet people's war line.

Many Kisan Sabha activists went agong with the forward block. Some congressmen, led by the veteran Andhra peasant leader, left the BPKS to form the Kisan Congress; in the wake of the congress led quit India Movement some congress socialists became more radicalized. Soon after the war, even the communists and Sahjanand started falling apart. The result was that, by the end of the 1940s, the peasant organizations in Bihar were split between the congressmen, the socialists, Ranga-iles, Forward Block, swami-ites and the CPI dominated Kisan Sabha.

The zamindar peasant struggler was at its peak, and peasants continued resisting landlords violence in almost every part of the province mostly on their own, unaided by any peasant organizations.[8]

As long as the BPKS was active, caste organization could not raise its head but class struggle was in vogue due to the existence of have not present in the society. Sahjanand had denounced the Bhumiharmahasabha which was active in grabing the lands of the weaken section of the society."

"Rahul Sankrityan advised Jagjivan Ram to stop taking up issues relating to agricultural labourers as a whole and instead set up caste organizations to carry out social reform as was done in the other states by Dr. Bhim Rao Ambedkar and periar. He also advised Jagjivan Ram to start education programme for the down tredden castes under the banner of BPKS, but Jagjivan Ram totally denied to do so because he was staunch congressman and was a great believer of Gandhian non-violence.

After the Second World War was over, interest

in the problems of agricultural labourers increased. The post was increase in the prices of consumer goods had worsened their condition. The impending zamindari abolition had driven the apprehensive zamindars to erictagricultural labourers from their house sites. Along with tenants, agricultural labourers too, bought the anti-eviction struggle in this period. Following the tripartilelabour conference in 1943, minimum wages legislation was proposed.

With the population growth outstripping the increase in agricultural production, and in the absence of alternative employment, opportunities thecomelition for land became acute. By the 1930s land was to searce that in some areas landlords were able to rent out the cultivation lands which had formally been used for tanks, roads and burning ghats. The absence of a system of primogeniture helped heighten the demand for lands, and dispute involving bakast holding became common.

With the abolition of our permanent settlement, the stale replaced the landlords as the direct recipient of the rental yield. Thus the finances of what had been a chronically impoverished state were placed on an improved fooling.

The essential conservation of the BPKS is demonstrated by the fact that during the late 1930s, at the time of its greatest influence, it displayed a consistently negative approach to the interest and aspirations of the poor peasantry. In the 1940s, in the blind years of his death, Swami Sahjanand took a more radical line and focused alternation on the plight of the poor peasantry. Yet, by this time Sahjanand commanded very little support, and it appears that one reason for this latter day radiculation was his wish to re-establishes his influence.[9]

"A major reason why Swami Sahjanand attracted little support in his final years was that, under the influence of the communist party of Indis, he had supported the British during the quit India movement of 1942. Indeed, the attitudes of this revolt taken by the various leaders of the BPKS illustrated perfectly that they were not champions of last radicalism. Some joined Sami Sahjanand in opposing the revolt because they thought nothing should be done to hamper the peoples war against fascism and in difference of the sovietunions. Others notably Jaiprakash Narain and Ramanand Mishra acted upon their commitment to one nationalist movement and participate vigorously.

Sahjanand and Sabha-ites became suspect when they began to dissociate themselves from Gandhi whose emphasis on non-violence appeared to them more and more designed to defend the landlord classes. By 1934, Sahjanand was thinking seriously, in terms of class struggle as the only method to liberate the oppressed masses from the man folded slavery and subjugations". Moreover, he cleanly in tented to emphasis agraries struggles.

By the late 1930s, the condition of the cultivations of Bihar had dramatically deteriorated. In north Bihar the depression lasting for about eight years, pushed down the prices of staples craps by 40 to 50 percent while the cast of essential consumer items like kerosene and cotton did not decline. Moreover in the preceding two decades, the high prices of food grains had been associated with increase in cash rents many tenants survived only by incurring hopelessly high debts, while some were deprived of their holding through rent suits. In south Bihar, the situation of tenants was worse.

"An open cleavage between the BPKS and the Bihar congress became inevitable after the assumption of office by a congress ministry in 1937. The new government was led by Sri Krishna Singh whose large majority was over-whelming dominated by members belonging to the right-wing.

The Bihar congress ministry, ministry on keeping together its coalition of small zamindars and rich peasants took the position of a neutral party, in negotiating with zamindars to find a formula on tenancy reform that would ameliorate some of the distress of the peasantry. Predictably the congress – zamindars compromise fell far short of the BPKS demands.

Between 1936 to 1939, the BPKS leaders launched book bakasht struggles, in several distinct during which disposed tenants forcibly attempted to regain their land. In north Bihar, Kisanactivicts formed a substantial minority of the membership in the district congress committees of Champaran, Muzaffarpur, Darbhanga and Monghyr, many of them were drawn from among shudra caste groups with united.

During the late 1930s, a new awareness among the poor peasantry became apparent. Once obligations were started to restore newly resumed lands to occupancy tenants, poor tenants, citing provisions of the Bengal tenancy Act, which they had never invoked, began to claim possession of the lands that had been held as Bakasht by landlords over a long periods. The most important area of agitation was in the padri circle of the Darbhanga Raj. Koiries and Joalas who had been kept under the iron wheel of Hindu society struggled against the very centre of Maithili Brahmans dominance to regain occupancy rights on Bakasht lands.

The people struggle at Barahia Tal in the furtile beet of southern mongliyr and adjoining Patna district was also rich in symbolism. It is remembered nice that now Barahiya Tal is state under the Monghyr district. The original owness had been deprived of the lands though. "rent suits and by main force of physical strength. The zamindars were mainly Bhumihars learned by a few Rajputs and Marwaris, while many of the tenants were Dhanuks of lower shudra state status. Starting in 1936 Karyanand Sharma, the secretary of the Monghyr districts Kisan Sabha began to organize the tenants who had been reduced to share croppers and shifted from plot to plot.[10]

"Meanwhile, the Bihar ministry resigned in October 1939 as part of the official congress policy of non-cooperation in the war effort. At the same time Sahjanand was attempting to create united left alternatives to Gandhian leadership. The CSP, putting the nationalist movement above left unity, deserted Sahjanandas faction leaders and set up its own Kisan Sabha in 1941. Attempts to find allies in the forward block, led by Subhash Bose ironically led to defections from the BPKS to the forward block which also formed a Kisan Sabha. Finally in 1942, the remaining congressmen left the Kisan Sabha and setup the Kisan congress.

The result was that the communist party of India (CPI) and its workers became the dominant group in the BPKS organization. Sahjanand himself became converted to their peoples war line in the early 1940s. He agreed to suspend the agitation so that the government could not have to divert its energies from prosecuting the war to contend with local stribes.

The BPKS became isolated from the nationalist movement precisely at the time when unprecedented violence erupted in Bihar after the arrest of all prominent congress leaders in Aug 1942. Spurred on by the socialist heroes like Jai Prakash Narayan (who went undergroup after two jail escapes), students took the leads in assaults on local police stations and government property, including on widespread sabotage to cut communications. They were supported in rural areas by the upper caste, small zamindars and rich peasants who were backbone of the congress. But as the movement wore on, the poor and low caste leusantry launched Subaltorn rebellion that look advantage for grain looking. [11]

When the congress government came to power by elections it desired to ban on communist party which was advent to lend to lend a violent movement to ameliorate the conditions of the depressed poor peasants. In addition to banning the CPI, imposing the public safety Act, promise to improve the condition of agrarian classes. Due to the widespread agrarian mobilization, the Bihar government was the first in the country to move a zamindari abolition Bill in 1947 which, ultimately, was vanished by the central govt. in 1956. It was also the first enact a privileged immediately to the minimum wages Act passed by the government of India in 1948 by fixing minimum wages in few district.[12]

The agrarian problems of Bihar make apparent the variations in intensity and magnitude of peasant movement from area to area. There variations owed much to the varying nature of the problems afflicting the peasant of different districts, and owing to such variations of particularistic nature, the provincial organizations relying, largely on the generalization of agrarian grievances, failed to duly appreciate the significance of local issues. In order to build up a powerful peasant movement it was essential to organize peasants of each particular district or area around the grievances peculiar to that area. However, both Bihar provincial kisansabha and the congress failed to organize peasants on these lines, and what

they could do was to take up the agrarian issues afflicting the peasants in general at the provincial level. Naturally, these organization could forge a strong base for a peasant movement, only in those areas where the general agrarian grievances were prominent, but they could not do the same in the areas where the local peasant problems were more dominant and did not stand in conformity with those at the provincial level. In nutral we can definitely say that the peasants movements were, from the very beginning started to get its benefit against those who were the owner of the large estates. At the end we can say that by 1941 Sahjanand was in opinion that without solving the problems of agricultural labourers the agrarian problems cannot be solved.

Assistant Professor & Head,
Department of History
Anugrah Narayan Smarak College,
Nabinagar, Aurangabad
Magadh University, Bodh Gaya, Bihar

References:

1. Mishra Girish, Agrarian problem of permanent settlement, people publishing house, New Delhi, 1978, P. 107.
2. Ojha, G. Land problems and land reforms, S Chand & sons, New Delhi, 1999, P.126.
3. Das, Arvind, N (2d), Agrarian Movements in India, Studies on the 20th century Bihar, Frankcass, London, 1980, P.56.
4. SahjanandSaraswati, Presidential Address, 8th session of the All India Kisan Sabha, Benwada, 4-15 March, 1944, p.4
5. Srinivas, M.N. Caste in Modern India and other Essays, Bombay, 1962, p.138
6. SahjanandSaraswati, Presidential Address, 9th session of the Bihar Provincial Kisan Conference, Sherghati, Gaya., 04-05 April, 1942, pp.128-129
7. Sankrityayan, Rahul, DimagiGulami (Hindi) Allahabad, 1937, p.57
8. Kisan Enquiry Committee, Report of the Bihar Kisan Enquiry Committee, File no. vii, Nehru Museum and Library, New Delhi, 1937, p.2, 56
9. Government of Bihar, Fortnightly Report (1) For August, National Archives of India, p.38
10. Hemmingham, Peasant Movement in Colonial India, North Bihar, p.167
11. Hemmingham, p. 111
12. Gupta, Rakesh, Bihar Peasantry and the Kisan Sabha, pp.4, Delhi, 1982, pp.79-80

Research Paper

Good Governance: Its Meaning, Growth and Needs in Modern Development Perspective

Dr. Ravi Kant Pandey

Whereas development aims at creating a suitable and enabling environment for promoting long, healthy and creative lives, governance aims to ensure these objectives through the exercise of economic, political and administrative authority. Its aim should be to establish friendly as well as cooperative relationship between the government and the people. In the simplest term, governance relates to the effective management of the affairs of a country at all levels. It guarantees its territorial integrity, and secure the safety and over all welfare of its people. Governance, when looked at a wider context, encompasses not just government, but state, society and good government. The government has to decide what good is to be done and again it the government's responsibility how to implements the decided policies in the interest of the people allowing them to participate in implementation of the policies and prigrammes. The democracy and development and good governance have been considered to be interrelated goals, each supporting the others. Democracy is the component of good governance. Good governance and administrative reforms became a part of the package the reforms, which were being promoted. The link between the governance and development were made in a number of publications of the World Bank in the late 1980s including 'Governance and Development', 1992 and the state in a Changing World', 1997. (Joseph, 2001.). Good governance is a process as well as institutions and mechanism and exercise of power and authority in pursuit of a society's present and future welfare. Thus good governance contains wide range of issues touching every aspect of human life for better living. It is pertinent to recognize the fact that the governance, in the era of globalization, privatization and decentralization, has to extend beyond the traditional bureaucratic attitudes and accept the values of transparency, accountability, efficiency and equity. Institutions of governance are of crucial importance as these determine the manner in which human development is viewed by the society. Good governance, today has achieved universal support and its application has become the important issue for the democratic state where people are regarded supreme over administration.

. The term governance received global application support with the emergence of democratic rule, new public policies and concept of welfarism. The Commission on Global Governance defines it: "The governance is sum of many ways individuals and institutions, public and private manage their common affairs. It is a continuing process through which conflicting or diverse interests may be accommodated and cooperative action taken". It further says that "governance is the creation of structure or an order, which cannot be extremely imposed, but is the result of interaction of multiplicity of governing and each other influencing actors." Stoker, 1998).

Thus, the governance refers to the 'governability' of a polity or capacity of a political system to govern efficiently and to provide the necessary political

conditions for socio-economic development. Governance is the exercise of political, economic and administrative authority in the management of multiple affairs. It comprises of several processes and institutions through which citizens articulate their interests and exercise their legal rights and obligations. In early times, governance was concerned only with the state, and society was only a beneficiary. Beginning from 1990, this notion has undergone a change and society is assuming a centre stage in the scheme of governance.

Good governance has direct relevance with development. Development is a multidimensional concept, which has several objectives and components. It stands for change towards betterment. Its overall goal is welfare of the people and improving the quality of life. Whereas the governance is one of the components of development, it stands for people's welfare having share in exercise of power. The root of development administration may be discerned in the concept of good governance, which puts emphasis on welfare state ensuring conditions of good life. Good governance emerged with the marked objective to be "a great modernizer, a nation builder and an instrument of socio-economic transformation" A good governance also implies that the bureaucracy must work as a developed system "above Sala model of Riggs, exploitative model of Karl Marx and despotic model of Max Weber, Harold Laski, Robert Merton etc, It must win credibility in the eyes of people regarding its actions and decisions."[1] The term development administration, a cosmopolitan socio-political and economic, is basically associated with the democratic and socialistic principles. It got considerable amount of strength with the rise of 'welfare state' that is a country in which the welfare of members of the community is underwritten by means of state run social services. The development administration appeared with the objective to provide economic relief to the people belonging to the deprived, suppressed, exploited and neglected sections of the people. It has involved a number of government officials on the one hand and opened wide scope for people's participation in self-governing institutions on the other. For the success of democracy, good governances is an essential requirement. Governance is considered for equity, poverty alleviation and enhancement of quality of life of all citizens. According to Webster's International Dictionary (1986), it is the "act or process of governing especially authoritative direction and control". Governance also refers to the manner in which power is exercised in the management of a country's resources for economic, political and social development at all levels. The term governance is used now-a-days in different contexts such as Corporate Governance, Local Governance, E-Governance etc.

Good governance defines an ideal which is difficult to achieve in its totality. Good governance is a journey towards better and ideal life that can never end. The journey towards success or towards good is an unending process. It is dynamic in character and it never stops or makes a halt. Hence it may never be claimed that hundred per cent good governance has been achieved. However, it ensures sustainable human development. Good governance is the ideal towards that we have to move.

A working definition of governance could be 'process', systems and structures that guide the social, economic and political relationships'. Governance, therefore, is larger than government. In fact, it is the focal point for instituting 'good governance', as all other institutions function within the overall institutional framework provided by the government. Good governance is more than a mere word that implies efficient public administration. It is the process of building and enduring bridges between the state and the society at large through effective and people-oriented mechanism of administration. (Ibid.).

According to World Bank and UNDP, there are three different, *albeit* interconnected, spheres of government. That is Political, economic and administrative. Governance relates to a country or society as a whole. It is about processes as well as institutions and mechanism, and exercise of power and authority (World Bank) in pursuit of a society's present and future welfare (UNESCO) and is derived from the interests of the citizens.

The phrase 'good governance' is epitomized by the World Bank as it has been mentioned above. The World Bank emphasized on predictable, open, and enlighten policy making and a bureaucracy imbued with a professional ethos , acting in furtherance of public good, the rule of Law, transparent processes, and a strong civil society participating in public affairs. It was felt that the poor governance is arbitrary in policy making; its bureaucracy is unaccountable, legal systems are either unjust or unenforceable. There is also ample possibility of mass corruption on large scale. Good governance does not enjoy uniformity in meaning. International organization like the World Bank associates good governance primarily with capacity building and the exercise of political power need for efficient and effective management of concrete national programmes, whether the political system is democratic or not. (Bratton and Donald, 1999, 264-265). Dunn says that good governance implies a high level of organizational effectiveness without any choice as to its ideological premise. To Jeffries, good governance is equivalent to purposive and development-oriented administration, which is committed to improvement of quality of life of the people without being necessarily democratic in style. (Jeffries, 1992).Despite such criticism of the concept and meaning of good governance the scholars in support of its goodness advance the argument that good governance implies presence of Rule of Law safeguards of human rights, existence of honest and efficient government, accountability transparency, and openness. (Etounga, 1993).

In this way, the terms 'governance' and 'good governance' have recently come to occupy an important place in development literature and also in the concerns and considerations of major international donors. Good governance always refers to the task of running the government in an effective manner. It is qualitatively and conceptually superior to a mere good government. A government cannot be good until its governance is good. Governance has wider prospective and it includes the exercise of political authority and control over society and how that affects the management of a country's economic and social resources for development. From this perspective, governance entails the institutional capacity of public organizations to furnish public and other goods to the citizens in an effective, transparent, impartial and accountable manner. Thus, the issue of economic and political governance is inseparable and together they underpin sustainable development.[2]

The concept of good government contains the right to legitimate and accountable government, promotion of society where the rule of law and fundamental human rights are respected, ensuring a socially and economically equitable society. A government in discharge of its sovereign functions, has to discharge many constitutional obligations and in discharge of these obligations it should be capable of enabling, enhancing and developing the power of the state for sustainable development. It is essentially a package to strengthen the institutions of government and civil society with the objective of making governments more accountable, open and transparent as well as democratic and participatory.[2] For good governance, there should be a government, no doubt, which is stable and truly representative and which accelerates the economic growth and development and ensures the welfare of all sections of the society. Openness and opportunity for public participation have emerged as a universal principle of good governance.[3] The interested groups should be provided with opportunities to observe and contribute in the policy-making in the state where availability of relevant information would give them a chance to advance their ideas in the policy making process.

Gradually certain principles of good governance have been evolved. One of the most important principles is transparency that has become the code word today. It is transparency through which its liability is to be tested. Another great feature of good governance is people's participation in policy making and programmes implementation at various levels including grass-root level. It has rightly been said that unless democratic principles had the basic foundation at the lowest village level, their functioning at a particular higher level might not ensure full welfare benefits to the people. A genuine and moral political

structure requires not merely an absolute authority to enact laws but it must have political legitimacy. The political institutions should not merely be constituted in accordance with the provision of formal law but the basic element must be that of creation of effective and informed political institutions.[4]

Thus, it is very much obvious that the term good governance which was first coned by the World Bank and latter conceptual development was made in it by different thinkers, provided it stable and important place in the field of administration and state politics. God governance has wide perspective covering all aspects of human life and affecting every sphere of the society. It put emphasis on creation of new society where there is no discrimination, no inequality, no suffering, no poverty and no partiality. The government is good that ensures people's welfare ensuring that the people's concept regarding development and administration has been honoured. A developed society in the real sense is that one where each sections of people has the equal opportunity to share the fruits of development and have their convent about types of development. It has become the prime duty as well as responsibility of the government to rule over the people not only for maintaining law and order, but for ensuring their all-round development. The fruits of democracy must be distributed in the manner where there is no one or no group is deprived of the fruits. While framing or formulating the polices the government must take people in good faith and must see that such policies and programmes are equally benefited to all. The governance, today, is related to people's welfare. In that way, the responsibility of the government has multiplied manifold.

Assistant Professor
Dept. of Political science
K.S.T. Collage Salempur, Sohsarai
Bhirsharif, Nalanda

End-Notes

1. World Bank, *Can Africa claim the 21st Century,* World Bank, Washington, D.C., 2000, p. 60.
2. Chakrabarty B., 2007, *Reinventing Public Administration: The Indian Express,* Orient Longman, Dew Delhi, pp. 68-82.
3. Ibid. pp. 75-76.
4. Ibid.

References

1. Asmermom, K. Borgman and R. Hoppe, 1995, "Good governance, Decentralization and Democratization in Post-Colonial State", *Indian Journal of Public Administration (IJPA)* Vol. 41, No. 4, (Oct.-Dec.).
2. Bratton, Michael and R. Donald, , 1992, "The Institutional Bases of Governance in Africa", in Goran Hyden and Michael Britton (Eds.), *Governance and Politics in Afri*ca, Lynne Rienner Publishers, London.
3. Frederickson George, 1993, *Ethics and Public Administration,* Jossey-Bass, San Francisco,
4. Chaitali Paul, 2003, "Good governance: Issue of Responsiveness, and Decentralization, Alka Dhameja, Ed., *Contemporary Debate in Public administration,* Prentice Hall, New Delhi,
5. Etounga, Manguella, A., 1993, *Democratization and Good Governance in Africa,* (Summary of a lecture presented at the good Governance Lectures), Ministry of Foreign Affairs, the Hague (June)
6. Jeffries, Richard, 1992, "Urban Population Attitudes towards the Economic Recovery Programme and PNDC Government in Chana", *Journal of African Affairs*, Vol. 91, 207-226.
7. Stoker, Gerry, 1998, "Governance as Theory: Five Proportions", *International social Science Journal,* Vol. 155, March, 14-28.
8. World Bank, *Governance and Development*, 1992, *The World bank and Participation* (1994),*The World Bank Experience* (1994), *The State in Changing World* (1997),

शोध-पत्र

बौद्ध धर्म में प्रतिबिम्बित बोधिसत्त्व की अवधारणा

डा. रिंकु पांडेय

बोधिसत्त्व शब्द 'बोधि' तथा 'सत्त्व' इन दो शब्दों के योग से बना है। वैदिक साहित्य में भी 'बोधि' शब्द का व्याख्यान किया गया है, जिसका अर्थ 'ज्ञान' है। पालि वाङ्मय में इस शब्द का व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है।[1] इस शब्द का प्रयोग बुद्ध द्वारा प्राप्त विशिष्ट ज्ञान या परम ज्ञान के अर्थ में हुआ है। पालि शब्दकोश अभिधानप्पदीपिका के निर्वचन से यह प्रकट होता है कि यह शब्द सर्वज्ञता के ज्ञान के अर्थ में है तथा सीलिंग का है। पालि की प्रमुख अट्ठकथा के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित है-

सब्बे धम्मे सब्बाकारणे बुसति एतेनाति सब्बसुत्ताणंबोधि।[2] अर्थात् सर्वज्ञता का जो ज्ञान है वही बोधि है। यहीं एक अन्य व्याख्यान निम्न रूप में है-

बोधि बुच्चति चतुसु मग्गेसुमाणन्ति एतेनाति अरियमग्गो बोधि।

आधुनिक शब्दकोषकारों एवं बौद्धविद्या के अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी इस शब्द के विविध निर्वचन किये हैं। कुछ के अनुसार जिस धातु से बोधि शब्द निष्पन्न है उसका अर्थ किसी बात की गहराई तक जाना, सुपरिचित होना, प्रबुद्ध होना तथा जागरणशील होना आदि है।[3] कतिपय आधुनिक विद्वान इसका प्रयोग जागरणशीलता या प्रबुद्धता के अर्थ में ही प्रतिपादित करना चाहते हैं। कुछ अन्य ने इसे धर्म कार्य के सन्दर्भ में व्याख्यात करना चाहा है।

बोधि का अर्थ लोकोत्तर भाव है जिसे बुद्ध ने अधिगत किया था तथा जिसे बोधिसत्त्व प्राप्त करना चाहता है। इसी के द्योतनार्थ बुद्धज्ञान सर्वज्ञता आदि अभिव्यक्तियों का भी प्रयोग बौद्ध साहित्य में किया गया है।

'बोधिसत्त्व' शब्द में परवती पद 'सत्त्व' भी संस्कृत भाषा का शब्द है। इसका प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल में ऋग्वेद में प्राप्त होता है। वहाँ इसका प्रयोग 'योद्धा' या 'बल सम्पन्न योद्धा' के तात्पर्य में है। आधुनिक कोश के अनुसार भी सत्त्व का अर्थ सुदृढ़ अस्तित्व वाला है।

पालि वाङ्मय में संस्कृत के बोधिसत्त्व का समानार्थ शब्द बोधिसत्त है। सामान्यत: यहाँ बोधि या बुद्धत्व अवाप्ति के निमित्त प्राणी ही बोधिसत्त है। स्वभावत: यह अर्थ गौतम बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व उस अवस्था के संदर्भ में है जब वे बोधि की प्राप्ति के उद्योगरत थे। बोधिसत्त्व वह प्राणी है जो पंडित या ज्ञान से सम्पन्न हो तथा जिसने बोधि संख्यात चार मार्गों में अपने मन को लगा दिया है। महायान के संस्कृत ग्रंथों में भी इन शब्द के विविध निर्वचन प्राप्त होते हैं। प्रज्ञापारमिता शतसाहस्त्रिका की एक व्याख्या के अनुसार बोधिसत्त्व से ऐसा व्यक्तित्व अभिप्रेत है, जिसमें बोधि भी हो और सत्त्व भी हो। समाधिराजसूत्र में बोधि सत्त्व वह है जो प्राणियों को उद्बोधित करे अर्थात् दु:खसागर से उन्हें बाहर निकालने के उद्देश्य से ज्ञान प्रदान करें।

''बोधिति सत्त्वान् इति बोधिसत्त्व' प्रज्ञापारमिता शतसाहस्त्रिका की व्याख्या तथा बोधिचर्यावतार आदि में बोधिसत्त्व वह है जिसका सुदृढ़ संकल्प या अभिप्राय बोधि की ओर उन्मुख हो। मध्यमकावतार के अनुसार बोधिसत्त्व वे प्राणी हैं जिनके लिए भविष्य में बोधि की प्राप्ति नियत है। ''बोधिसत्त्व बोधिनियत सत्त्व:'' महायानसूत्रालंकार में उसका अन्वाख्यान 'बोधो स्पृहावान् सत्त्व: बोधिसत्त्व:' रूप में करते हुए कहा गया है कि षट् पारमिताओं की प्रतिपति तथा महाबोधि के प्रणीधान पूर्वक बोधि में स्पृहा रखने वाले

सत्त्व बोधिसत्त्व कहलाता है। आगे इस शब्द की अनेक प्रकार की व्याख्या करते हुए यहां यह भी कहा गया है कि सुतत्व, समहार्थ, समहार्थ, सर्वार्थ, नित्य तथा उपाय, इन पांच विशेषणों से सम्बन्धित बोधिवाले व्यक्ति को बोधिसत्त्व कहते हैं।[4]

बौद्ध विद्या के आधुनिक विद्वानों ने भी बोधिसत्त्व के शब्दार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से उपस्थित किये हैं। कुछ विशिष्ट मतों का उल्लेख यहां दृष्टव्य है -

एक विद्वान के अनुसार बोधि से संवलित प्राणी या सत्त्व ही बोधिसत्त्व है अथवा जिस प्राणी में सार या सत्त्व के रूप में बोधि विद्यमान हो वैसे प्राणी ही बोधिसत्त्व है। इस अर्थ में महायानी विचारधारा में प्रत्येक प्राणी बोधिसत्त्व कहला सकता है, क्योंकि महायान में सिद्धान्त: 'बोधिचित्त' जो कि धर्मकाय या भूत तथा आदि से अभिन्न है, प्रत्येक सत्त्व में विद्यमान है।[5]

बौद्ध धर्म में बोधिसत्त्वबोधिसत्त्व सुदृढ़ संकल्प से युक्त वह व्यक्तित्व है जिसका लक्ष्य 'बोधि' की प्राप्ति है। बोधि की प्राप्ति वह अन्य प्राणियों के कल्याण के लिए करना चाहता है। इसके हेतु वह नाना प्रकार के कष्टों को स्वयं सहन करता है। वह वैसा प्रदीप है जो स्वयं गलकर, जलकर दूसरों को प्रकाश देता है। परार्थ साधन में ही वह निरन्तर लगा रहता है। परम कारुणिक बुद्ध के चरित में ही इसके बीज निहित है। भगवान बुद्ध सर्वज्ञ थे। उन्हें तथ्य का ज्ञान था कि जीव दु:ख से आते हैं किन्तु सम्बोधि प्राप्ति के अनन्तर उन्हें भी कुछ अन्य आत्मसंतुष्ट साधकों की भांति सद्य: प्राप्त ज्ञान का प्रकाश जन सामान्य के कल्याण के निमित्त बिखेरने में विचिकित्सा हुई थी किन्तु इस प्रकार की स्थिति बहुत समय तक कायम न रही अगले ही क्षण स्वयं करुणा की जीवंत मूर्ति बुद्ध के हृदय में परहित की कामना उत्पन्न हुई और उन्होंने जीवों के कल्याण के निमित्त अमृत दुन्दुभी बजाने का संकल्प किया।[6]

कुछ लोगों की तो यह मान्यता भी है कि ''बुद्धत्व' एवं चक्रवर्ती की धारणाओं सहित बोधिसत्त्व की धारणा भारत में गौतम बुद्ध के आर्विभाव से भी पूर्व विद्यमान थी। जब सिद्धार्थ माया देवी के गर्भ में प्रविष्ट हुए उसी समय एक ऋषि ने यह भविष्यवाणी की थी कि शुद्धोधन का पुत्र या तो चक्रवर्ती सम्राट होगा या ''बुद्ध''।[7] एक ने कहा वे वह गन्धर्व है न यक्ष है, अपितु एक बुद्ध है। इसका तात्पर्य यही था कि एक अवसर पर ब्राह्मण द्वारा बुद्ध से प्रश्न करने पर उसके उत्तर में स्वयं बुद्ध ने यह स्वीकार किया था जिनका उद्देश्य अग्रलिखित पंक्ति में है।[8] धम्मपद में निम्नलिखित सुप्रसिद्ध उपदेश है–

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तं परियोदपनं एत बुद्धानं शासनं।।[9]

इसमें उल्लिखित बुद्धानं शब्द यह स्पष्ट कर देता है कि शिक्षाएँ किसी एक बुद्ध की न होकर सभी बुद्धों की है। इसी प्रकार आमगंधसूत्त को कस्सप नामक एक पूर्ववर्ती बुद्ध का उपदेश स्वीकार करना गौतम बुद्ध से पूर्व ही बुद्धत्व के सिद्धांतों की स्थिति का समर्थन ही है।[10] पुग्गलपञ्जति में बुद्ध ऐसे पुद्गल का अभिधान माना गया है जो कि लोक में विलुप्त हो चूके धम्म का पुर्नप्रकाशन कर इसे उद्घोषित करता है।[11] गौतम बुद्ध तथा अन्य बुद्धों की इस भवोत्पति होने पर उनके महाभिनिष्क्रमण काल से संबोधि प्राप्त तक की स्थिति का द्योतन बोधिसत्त्व शब्द द्वारा किया जाता है।[12]

यहां पर उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ऊपर निर्दिष्ट रूप में यह दूसरी पद्धति से 'बोधिसत्त्व' या 'बुद्धत्व' के आदर्श की स्थिति को बौद्धधर्म के प्राचीनतम स्वरूप में भले ही प्रदर्शित कर दिया जया किन्तु यथार्थत: सामान्य जन के लिए बुद्ध होना आपातत: शक्य नहीं था। इस काल के बौद्ध धर्म के स्वरूप के प्रतिचित्रक संकलनों के अनुसार अर्हत्पद में उत्थित होकर निर्वाण लाभ करना अर्थात् दु:ख का उपशम करना ही मुक्त पुरुष का सर्वमान्य लक्षण हो सकता था। दूसरे शब्दों में व्यक्कि क्लेश का उच्छेद ही प्राचीन बौद्धों में मानव जीवन का परम पुरुषार्थ था। दस संयोजनों का प्रहाण कर लेने पर वह ओहितभार, 'कतकरणीय' हो जाता था। रागादि मलों का उच्छेद कर यह क्लेश-बंधनों से पूर्णतया विनिर्मुक्त हो जाता था। उसका चित्त संसार से विमुक्त और मन निर्विषयी होता था। स्पष्ट है कि 'अर्हत्' अपनी ही उन्नति के लिए यत्नवान होता था।

यहाँ पर यह प्रदर्शित करना अभिप्रत है कि 'बोधिसत्त्व-यान' का पूर्व रूप पालि त्रिपिटक के प्राचीनतम अंशों में किस रूप में है तथा परवर्ती अंशों में क्रमश: रूपान्तरत होते हुए किस प्रकार महायान में एक सुव्यवस्थित आदर्श के रुप में परिणत होता है। 'बोधिसत्त्व' शब्द के प्राचीनतम प्रयोग पालि त्रिपिटक के अत्यन्त प्राचीन माने

जाने वाले 'दीर्घनिकाय', 'मंज्झिमनिकाय तथा संयुक्त निकाय', 'खुद्दकनिकाय' आदि में प्राप्त होते हैं। स्पष्टत: यहाँ इस शब्द का प्रयोग गौतम बुद्ध के पूर्वजन्मों या इसी भव में बुद्धत्त्व की प्राप्ति से पूर्व की अवस्था को सूचित करने के लिए हुआ है। केवल गौतम बुद्ध ही नहीं अपितु इनसे पूर्ववर्ती 6 अन्य बुद्धों को भी उनके पूर्वभवों में बोधिसत्त्व कहा गया है। वहां बुद्धों के संख्या सीमित है। महापदानुसुत्त के अनुसार गौतम बुद्ध से पूर्व विपस्सी, सिखी, विस्वभू, कुकुच्छन्द, कोर्णागमन तथा कस्सप थे 6 बुद्ध हुए हैं।

बुद्ध के 'बुद्धत्त्व' का समारम्भ निश्चित हो उनके द्वारा सम्बोधि प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही होता है। इससे पूर्व उनकी संज्ञा बोधिस्त्व ही है। स्वयं भगवान बुद्ध ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। यह संभव है कि अपने उपदेशों में उन्होंने अपने पूर्व भवों के जो उल्लेख यदा कदा लोगों के सम्मुख किये हैं उनमें कोई अन्तनिर्हित आशय या विशिष्ट धारणा विद्यमान रही हो। सुत्तपिटक में संकलित महागोविन्द, महासुदस्सन तथा महादेवसुत जैसे जातक प्रकृतिक सुत्तों द्वारा इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। इस काल के संकलनों में बोधिसत्त्व शब्द का तात्पर्य बुद्ध के अनभिसम्बुद्ध दशा से समन्वित व्यक्तित्व मात्र था। बोधिसत्त्व की साधना में जिन पारमिताओं की साधना अत्यन्त अनिवार्य है तथा जिनका क्रमबद्ध वर्णन परवर्ती पालि संकलनों एवं महायान के सूत्रों में हुआ है, उसका सुस्पष्ट उल्लेख सुत्तपिटक के चार निकायों, विनय पिटक तथा अभिधम्मपिटक में प्राप्त नहीं होता। यहाँ सम्बोधि प्राप्ति से पूर्व की स्थिति को द्योतित करने के सीमित अर्थ में ही बुद्ध ने स्वयं को बोधिसत्त्व कहा है, जो सम्भवत: बोधिसत्त्व शब्द का इस प्राचीनतम अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग कहा जा सकता है। निम्नलिखित वाक्य मंज्झिमनिकाय में अनेको बार देखने को प्राप्त होता है –

''मयूहं वि सो ब्राह्मण पुब्बेव सुम्बोधा अनभिसम्बुद्धस्स बोधिसत्तस्संव सतो एतदहोसि।''[13]

महागोविन्द तथा महासुदस्सन जैसे कुछ अन्य सुत्तों में भी बुद्ध ने परवर्ती जातक कथाओं जैसी शैली में अपने पूर्व भवों का उल्लेख किया है। किन्तु यहाँ भी स्मरणीय है कि एतत्कालीन संकलनों में इन छिटपुट उल्लेखों में ही बुद्ध के पूर्व जन्मों का विवरण है। अन्यत्र उनकी जीवनी का प्रारम्भ महाभिनिष्क्रमण काल से ही माना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल तक बुद्ध के पूर्व जन्म के कथानकों या बोधिसत्त्व के रुप में उनकी साधना की चर्चाओं को बुद्धधर्म में बहुत महत्त्व प्राप्त नहीं था। यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्ध के उपदेशों का नौ अंगों के रूप में विषय की दृष्टि से जो प्राचीन वर्गीकरण है उसी के एक अंग जातक का प्रतिनिधित्व करनेवाले सूत्र प्रथम चार निकायों में अत्यन्त अल्प है। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इस समय बोधिसत्त्व द्वारा पारमिताओं की पूर्णता के कथानकों का या दूसरे शब्दों में जातक कथानकों का स्वतंत्र रूप से अस्तित्व नहीं था।

बोधिसत्त्व की साधना का लक्ष्य 'बुद्धत्त्व' है । प्रारम्भिक बौद्धधर्म में 'बुद्धत्व' एक दुर्लभ एवं असाधारण आदर्श है। उसका समर्थन अनेक तथ्यों द्वारा किया जा सकता है। महायान में प्राय: प्राणी मात्र या कम से कम मनुष्य मात्र में बुद्धबीज के अस्तित्व को मानने के साथ-साथ बुद्धों की बहुत बड़ी संख्या भी निर्दिष्ट की गई। किन्तु प्राचीन निकायों में इनकी संख्या अत्यन्त सीमित है। दीघनिकाय के महापदानसुत्त में गौतमबुद्ध के पूर्व के 6 बुद्धों का उल्लेख है जो बुद्धत्व की दुर्लभता के समर्थन में सुदृढ़ प्रमाण माना जा सकता है। निकायों में चित्रित बुद्ध यद्यपि मानव ही हैं फिर भी उनकी कल्पना यहाँ एक सर्वज्ञ अतिमानवीय विभूतियों से समन्वित तथा साधारण जन द्वारा आस्वाद्य श्रामण्य फल में प्रतिष्ठित महामानव के रूप में थी। यह भी मान्यता थी कि बुद्ध का आर्विभाव सहस्त्रों कल्पों की कालावधि में कभी एक आध बार ही होता है। इससे बुद्धत्व की दुर्लभता स्पष्ट हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन बौद्ध धर्म में बुद्धत्व का आदर्श प्रत्येक जीवन के लिए था ही नहीं। यह किसी विशिष्ट उच्चाधिकारी के लिए ही था। सर्वमान्य की आध्यात्मिक साधना का चरम लक्ष्य अर्हत्व ही था। यदाकदा 'प्रत्येक बुद्ध' तक की अवाप्ति को साधना का लक्ष्य मानने के संकेत भी प्राप्त होते हैं किन्तु इस काल में 6 पूर्व बुद्धों एवं गौतम बुद्ध को छोड़ अन्य किसी के द्वारा 'सम्यक् सम्बुद्ध' को अपना आदर्श बनाने के संकेत नहीं मिलते। इन निकायों में ऐसा कोई भी उदाहरण या उद्धरण नहीं मिलता जहाँ बुद्ध का कोई भी श्रावक कभी इस आदर्श की प्राप्ति के लिए यत्नवान हुआ हो। साथ ही इस साहित्य में इस बात के भी कोई संकेत नहीं प्राप्त होते कि भगवान् बुद्ध या उनके अत्यन्त निकटवर्ती प्रधान स्थविरों ने अपने अनुयायियों को बुद्ध की चर्चा या साधना का अनुसरण का उनके द्वारा

बोधिमण्डल में अधिगत अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने का उपदेश दिया हो। वे तो मात्र अर्हत्व की बात करते हैं।

असिस्टेंट प्रोफेसर
सेंट फ्रांसिस डी सेल्स कॉलेज,
हिब्बागोडी, बेंगलुरु, कर्नाटक

सन्दर्भ सूची

1. दीघनिकाय, 3, पृ. 237
2. चरियापिटक अट्ठकाय, छट्ठ संगायन संस्कार, वर्मा, पृ. 18
3. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 685
4. डी.टी. सुजुकी, एस्पेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म, पृ. 302
5. महायान सूत्रलंकार, पृ. 166
6. महावग्ग्, विनयपिटक
7. जातक, 151 तथा 56
8. अंगुत्तर, 11, पृ. 38
9. धम्मपद 5, 183 नेति, पृ. 43
10. सुत्तनिपात, 10–239
11. पुग्गल पञ्चति, पृ. 29
12. इनसाइकलोपिडिया, पृ. 165, पृ. 119
13. मज्झिन निकाय, पृ. 165, पृ. 119

डॉ. साधना कुशवाहा

आधुनिक भारत में : महिला आन्दोलन

भारत की दौलत से पुर्तगाली अमीर बने थे। इस बात ने यूरोप की अन्य जातियों को भी भारत से व्यापार के लिए प्रेरित किया और उनमें परस्पर होड़ लग गई। अंग्रेज सबसे चालाक और कूटनीतिज्ञ थे इसलिए वह भारत में अपने पैर जमाने में अपेक्षाकृत अधिक सफल हुए।

भारत के ऐश्वर्य की कहानी ने 15वीं शताब्दी में यूरोपवासियों के मन में सोने की चिड़िया को हथियाने का स्वप्न जगा दिया था।

सन् 1757 में प्लासी के मैदान में भारत की पहली हार हुई। प्लासी और बक्सर की लड़ाई में नवाब की हार से अंग्रेज का व्यापारिक मानदंड, राजदण्ड बन गया।

पूर्वी भारत ने अंग्रेजों के हाथों कठपुतली बनना स्वीकार नहीं किया, जिससे यहाँ-वहाँ जन-विद्रोह फूट पड़े। यद्यपि वे विद्रोह बाद में अँगेजों द्वारा निर्ममता से दबा दिए गए, पर वे अंग्रेजों के लिए समय-समय पर सिरदर्द बने रहे। कई जगह तो उन्हें नाकों चने चबवाए गए। कुछ प्रसिद्ध विद्रोह हुए जो जंगल महल का जमींदार विद्रोह, संन्यासी विद्रोह, चुआड़ों का विद्रोह, बहावी विद्रोह, बैकरपुर का प्रथम सैनिक विद्रोह, कितूर बुंदेला विद्रोह, संथाल विद्रोह और आगे चलकर कूका विद्रोह।

1757 से 1857 तक पूरी सदी का इतिहास इन विद्रोहों से भरा पड़ा है जिससे 1857 के संगठित विद्रोह का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सन्यासी विद्रोह की सूत्रधार देवी चौधरानी

उस समय के लेफ्टिनेंट ब्रेनन की एक रिपोर्ट से पता चलता है कि भवानी पाठक की विद्रोही गतिविधियों के पीछे देवी चौधरानी का प्रमुख हाथ था। उनके अधीन अनेक वेतनभोगी बंकरदाज थे, जिनके रख-रखाव के लिए देवी चौधरानी, भवानी पाठक से लूट के धन का हिस्सा लेती थी। भवानी पाठक के मारे जाने के बाद भी देवी चौधरानी ने हार नहीं मानी और वह बराबर लड़ती रही। बंकिम चंद्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनंद मठ' में सन्यासी विद्रोह की गतिविधियों का अच्छा दिग्दर्शन है। लगभग 20 वर्षों तक चलते रहे आजादी की लड़ाई के इस प्राथमिक संघर्ष में सन्यासी विद्रोह की एकमात्र सशक्त महिला नेता के रूप में चौधरानी का नाम अमर है, अन्त तक वह अंग्रेजों के हाथ नहीं आई।

रानी साहब कौर

रानी साहब कौर बारी दोआब के राजा जयमल सिंह की पत्नी थी। जिन दिनों लार्ड बेलेजली अपनी कूटनीति का जाल फैला रहा था, पंजाब की छोटी-छोटी रियासतें अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए अपनी सेनाओं का पुर्नगठन कर रही थीं। सन् 1799 में अंग्रेज सेनापति सर टोंमस ने जींद पर आक्रमण किया। इसके बाद वह पंजाब की अन्य रियासतों पर अधिकार करता, इसके पूर्व रानी साहब कौर ने मध्यस्थता करके सर टॉमस की सिक्खों से सुलह करा दी, पर भाई साहब सिंह को उसके साथियों ने अपनी बहन रानी साहब कौर के विरुद्ध भड़का दिया और रानी कौर को बंदी बना दिया गया, लेकिन मौका पाकर वह बहादुर, रानी कैद से भाग निकली। अंतिम दिनों में उन्होंने अपने पति जयमल सिंह के साथ भवानीगढ़ किले की कैद में बिताए।

रानी शिरोमणि

चुआड़ लोग आदिवासी किसान थे जिन्हें जमींदार विद्वेष से नीच जाति की संज्ञा में चुआड़ कहते थे। वीर भूम, बांकुरा के दक्षिण-पश्चिम का यह अंचल अंग्रेजी राज से पहले 'जुगल महाल' कहलाता था। कुछ वर्ष पूर्व यही हुआ पहला विद्रोह, जमींदारों का विद्रोह था, यह दूसरा विद्रोह चुआड़ 'पाइको' या सिपाहियों द्वारा बड़े पैमाने पर किया गया था, इसलिए कि किसान की संगठित शक्ति पाइकों को हराकर उनकी जगह बाहर से पुलिस लाई गई थी। चुआड़ो की पुश्तैनी जमीनें छीनकर पूर्व विद्रोही जमींदारों को दे दी गई थी, कि ये शान्त रहे। बेकार बैठे किसानों ने एक बड़ा हमला करके 124 गाँव लूटकर जमींदारों से जमीनें छीन ली। चुआड़ों ने दुर्ग-निर्माण कर शक्ति बढ़ा ली। लगान देना बन्द कर दिया। अंचल की प्रधान रानी शिरोमणि थीं। 6 अप्रैल 1799 को रानी शिरोमणि को जमींदारी के कर्णगढ़ और आवासगढ़, दोनों किलों पर अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया, गिरफ्तार कर रानी शिरोमणि को मिदनापुर लाया गया, यह खबर मिलते ही विद्रोहियों की विशाल भीड़ ने अंग्रेजों को आ घेरा। खाद्य सामग्री के अभाव में सरकारी सेना किले खाली कर गई, अंग्रेजों की हार हुई।

भीमाबाई

इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई होल्कर की दत्तक पुत्री, तुकोजी राव के पुत्र यशवंत राय की पुत्री भीमाबाई थी। 1817 में महीदपुर में अंग्रेजों से लड़ाई हुई, जिसमें होलकर सेना की हार हुई, पर भीमाबाई ने धीरज नहीं छोड़ा, साहस जुटाकर उन्होंने पुनः सेना का संगठन किया और जंगलों, पहाड़ों के मध्य अपना सैनिक शिविर बनाया। उन्होंने छापामार युद्ध के जरिए अंग्रेजों के खजाने व अन्य सामग्री लूटने लगीं। इस छापामार युद्ध से सर मालकम के कान खड़े हो गए। वह एक बहुत बड़ी सेना लेकर भीमाबाई को खोजने निकला और एक दिन रानी को जंगल में एक अंगरक्षक के साथ घुड़सवारी करते देख, घेर लिया गया। घेरा पूरा होता इसके पूर्व ही रानी ने अंगरक्षक घुड़सवार को आदेश दिया और वह भाग निकला। अकेली रानी के चारों तरफ घेरा कसने लगा, रानी का घोड़ा सर मालकस की ओर बढ़ने लगा। सभी समझे, रानी आत्मसमर्पण करने आ रही है, पर मालकम के निकट पहुँचकर रानी ने अचानक अपने घोड़े को जोर से एड़ लगाई और रानी का घोड़ा रानी को लिए मालकम के सिर के ऊपर से गुजरते हुए घेरा पार कर गया। जब तक सैनिक रानी उनकी नजरों से दूर निकल चुकी थीं।

वेलुनाचियार

मद्रास राज्य में मारवाड़ों की राजधानी शिवगंगा थी, देवार वंश का राजप्रासाद। अचानक एक और अंधेरी रात को अंग्रेज कलेक्टर जैक्शन ने नई कुमक लेकर शिवगंगा को घेर लिया। इस बार मुकाबला अधिक कड़ा था। एक ओर जैक्सन की उन्नत हथियारों वाली विशाल सेना, उनका बड़ा तोपखाना, और दूसरी ओर बटुकनाथ (वेलुनाचियार के पति) की कम सज्जित मुट्ठी भर सेना बारूदी लपटों में वीरांगना बेलु और वीर बटुकनाथ को रोमांचक बलिदानी खेल खेलना पड़ा। बटुकनाथ का एक अंग कट जाने पर भी वे अंतिम क्षण तक लड़ता रहा, फिर उसकी आज्ञा से उसके वीर सेनापति दीवान ने उसका सिर काट लिया, परंतु बेलु ने हार नहीं मानी, पति का सिर हाथ में लेकर वह चंडी-वेश में सेना पर टूट पड़ी। खचाखच तलवार चलाते उसका भयानक रूप देख, हारते सैनिकों में नया जोश भर गया, तभी सामने पड़ गए सेनापति जैक्शन पर वेलु ने बिजली की गति से वार किया एक ही वार से जैक्शन का दाहिना हाथ उड़ गया, लेकिन वेलु के मुट्ठी भर सैनिकों की हार अब निश्चित थी, इसका अनुमान लगा कर वेलु सैनिकों के साथ डिंडीगल की ओर चल पड़ी जो अंग्रेजों के जन्मजात शत्रु टीपू सुल्तान का गढ़ था। दो वर्ष बाद पुनः शिवगंगा पर वेलु ने 'क्रिसमस नाइट' के दिन आक्रमण किया। अंग्रेज सैनिक मदिरापान में डूबे थे, कुछ देर घमासान युद्ध चला। नशे में डूबकर कमजोर पड़े सैनिकों ने विवश होकर हथियार डाल दिए। शिवगंगा के राजघराने की विजय का सेहरा तीसरी बार वेलू के सिर पर बँधा।

चेनम्मा

कितूर की रानी चेनम्मा सन् 1887 के 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' की वीरांगनाओं में एक अग्रणी नाम है। 23 अक्टूबर दक्षिण भारत में उन्हें श्रद्धांजली अर्पित करने के लिए हर वर्ष महिला दिवस के रूप में मनाया जाता है। 23 अक्टूबर 1824 को कितूर के किले पर अंग्रेजों की संगठित शक्ति को इस छोटे से राज्य की रानी ने ललकारा था। यद्यपि यह विजय भी बाद में पराजय में बदल गई थी, पर कितूर की रानी चेनम्मा ने जिस साहस व शौर्य का परिचय दिया,

उसकी याद में बेलगांव को सौ वर्ष बाद 1924 का 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस अधिवेशन- स्थल' चुना गया था।

साम्राज्यवादी देवी

महारानी साम्राज्यलक्ष्मी देवी पंजाब के महाराज रणजीत सिंह की समकालीन थी। महाराजा रणजीत सिंह के साथ मिलकर साम्राज्य लक्ष्मी देवी ने अंग्रेजी शासकों से भिड़ने की योजना बनाई, पर उनके पति नेपाल के तत्कालीन राणा राजेन्द्र विक्रम शाह, भीरु स्वभाव के थे। वह अंग्रेजों से डरते थे। राज-काज में भी कुशल नहीं थे। अत: रानी साम्राज्यलक्ष्मी देवी ने ही सारा शासन-भार संभाल रखा था। उन्हें अपने चतुर बुद्धिमान, बहादुर व वफादार प्रधानमंत्री भीमसेन थापा पर पूरा भरोसा था कि उसके सहयोग से वह अपने उद्देश्य में सफल होंगी, पर कूटनीतिक चालों के चलते दोनों को अलग किया गया। नया प्रधानमंत्री अंग्रेजों का पिटठू था, उसने महारानी साम्राज्यलक्ष्मी देवी को दुबारा रेजीडेंट की कुटिल चाल में फंसा लिया और बहकावे में आकर नारी-सुलभ कजोरी से बड़ी रानी व छोटी रानी में ठन गई। इसमें छोटी रानी सफल रही और बड़ी रानी साम्राज्यलक्ष्मी को नेपाल छोड़कर काशी जाना पड़ा, परन्तु रेजीडेंट के षडयंत्र ने यहाँ भी महारानी का पीछा नहीं छोड़ा, काशी के रास्ते में उन्हें विष दे दिया गया, अँग्रेजों को डर था कि महारानी फिर न लौट आए।

बाद में भी नेपाल के राणा गुलामी के बावजूद अंग्रेजों के मित्र बने रहे। तभी तो 1857 के प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों- नाना साहब, बेगम हजरत महल, महारानी तपस्विनी, आदि को नेपाल में शरण लेते समय बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

महारानी जिंदां

महारानी जिंदां शेर-ए-पंजाब महाराजा रणजीत सिंह की सबसे छोटी रानी थीं। जिसकी लौ को तेजी से भभकने का अवसर नहीं मिला। वह और उनका अबोध बेटा विश्वासघाती दरबारियों के षड्यंत्र और अंग्रेजों की कूटनीति का शिकार हो गए।

भारत के लिए लगातार विद्रोह

नारीवादी सिंधिया एनलो ने भूमंडलीकरण के समर्थकों से पूछा था कि तुम्हारी व्यवस्था में 'औरतें कहाँ हैं?' इस छोटे से सवाल का उस समय लंबा जवाब दिया गया था कि औरतें कहाँ नहीं हैं, किस मोर्चे पर नहीं है? पर सच तो यह है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में औरतें जितनी सबल दिखतीं हैं उतनी ही वह हारी हुई दिखती हैं। बाजार के जाल में फंसी हुई। आजादी की कीमत चुकाती हुई, हाफतीं हुई और लड़ती-भिड़ती हुई। सामाजिक स्थितियां राजनीतिक घटनाक्रमों की रफ्तार से नहीं बदलती। वर्गों और विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में बंटे समाज में स्त्री की हालत इसलिए भी बुरी है कि वह इन विभेदों के साथ-साथ पितृसत्तात्मक समाज को भी झेल रही है।

आजादी के बाद देश में जो सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक बदलाव हुए उस बदलाव में स्त्रियों की साझेदारी रही है। साझेदारी से ज्यादा उसने घर और बाहर के मोर्चे पर दोहरी लड़ाई लड़ी। पर ये लड़ाईयां इतिहास के पन्नों में दर्ज नहीं हुई, जो कुछ नाम दर्ज हैं वे इसलिए कि इन नामों के बिना इतिहास लिखा नहीं जा सकता था। वर्जीनिया वुल्फ ने एक जगह लिखा है 'इतिहास में जो कुछ अनाम है वह औरतों के नाम है।' इतिहास में औरतों की भूमिका हमेशा से अदृश्य है। उसकी एक वजह है कि हम इतिहास चेतन नहीं रहे।

इतिहासकारों ने प्रतीकों, लोक गाथाओं, गीतों व अन्य स्रोतों को कभी समेटने की कोशिश नहीं की। हम जानते हैं कि व्यवस्थित रूप से इतिहास रचने की मंजिल पर पहुंचने से पहले ऐसे सभी समुदाय पहले चरण में आत्मगत ब्योरों का इस्तेमाल करते हैं ताकि उनकी बुनियाद पर इतिहास लिखने की इमारत खड़ी की जा सके। आशा रानी वोरा ने जब महिलाएँ और स्वराज किताब लिखना शुरू किया तो उन्हें तथ्य जुटाने में बारह साल लगे। उन्होंने एक जगह लिखा है कि आजादी आंदोलन में स्त्रियों की भूमिका पर लिखने के लिए जब सामग्री जुटाने लगी तो गहरी निराशा हुई।

माना जाता है कि उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी की शुरुआत में अनेक महिला आंदोलन हुए। पर उन आंदोलनों का कोई इतिहास नहीं मिलता। यही वह क्षण है, जब स्त्री आंदोलन व देश में हुए आंदोलन का पुर्नमूल्यांकन जरूरी है ताकि मुक्ति की सामाजिक परंपरा में एक नया अध्याय जोड़ा जा सके। जब देश में आजादी के आंदोलन की लहर थी तो बिहार भी उस आग में लहक रहा था। औपनिवेशिक काल में बिहार में बंगालियों, कायस्थों और मुसलमानों का अभिजात तबका काबिज था, जमींदारी मुख्यत: भूमिहारों, राजपूतों, बाह्मणों, मुसलमानों और कायस्थों के साथ में थीं।

साल 1920 के असहयोग आंदोलन 1932 के सविनय अवज्ञा आंदोलन में राजपूत और भूमिहार जाति ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। और यह समुदाय राजनीति में अपना प्रभाव बनाने लगा। उसी दौर में महिलाएं वोट देने के अधिकार को लेकर आंदोलन कर रही थीं। यह त्रासदी है कि जिस आंदोलन की शुरुआत महिलाओं ने बीसवीं सदी के आरंभ में की थी, आज उसी तरह का आंदोलन राजनीति में 33 प्रतिशत हिस्सेदारी को लेकर है। आजाद मुल्क में भी महिलाओं को उसके हिस्से का हक लेने के लिए लड़ना पड़ रहा है।

उपसंहार

अतीत में हुए संघर्ष को देखते हुए हम ये कह सकते हैं कि स्त्री के भीतर आजादी की आग है। और उसकी पहली लड़ाई है वर्चस्व विहीन समाज की स्थापना। यही वजह है कि आज स्त्रियाँ परिवार में श्रम के विभाजन, पारिवारिक संबंधों में उसकी उपस्थिति और सत्ता में उसकी जगह को लेकर आंदोलित हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि स्त्रियों का आंदोलन एकालाप में नहीं चलता। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आंदोलन में स्त्रियों की भूमिका का भले ही आंकलन नहीं हआ हो सच तो यह है कि सभी आंदोलन में उसकी भागीदारी रही है। देश में 70 के दशक में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में बड़ा आंदोलन हुआ। जिस आंदोलन ने सत्ता की नींव हिला दी। उसमें बड़ी संख्या में स्त्रियों ने हिस्सा लिया। कॉलेज स्कूलों से निकलकर निरंकुश स्त्री आंदोलन को महत्वपूर्ण आयाम देने वाली सिमोन द बोवुआर कहती हैं 'मात्र वर्ग संघर्ष के द्वारा ही स्त्री-मुक्ति के महान लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सकता है... चाहे साम्यवादी हों, माओवादी हों या ट्रस्टवादी। औरत रह जगह हर खेमें में अधीनस्थ की स्थिति में है, सबसे निचले पायदान पर खड़ी है। जब देश में 74 का आंदोलन हो रहा था उसी दौर में देश के कई हिस्सों में स्त्री हिंसा के वीभत्स मामले सामने आ रहे थे। यह वही दौर था जब रूप कंवर को सती के नाम पर जबरन जला दिया गया। इस अमानवीय घटना के विरुद्ध महिलाओं ने जबरदस्त आंदोलन किए। 92 आते-आते देश को हिला देने वाली घटना हुई- भंवरी बाई के ऊपर बलात्कार की घटना।

असिस्टेंट प्रोफेसर
स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email Id : sadhnakushwaha9868@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. भारत में सशस्त्र क्रान्ति की भूमिका, तरिणी शंकर चक्रवर्ती, 15-बी एडमान्स्टन रोड, इलाहाबाद
2. भारत स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, (प्रथम खण्ड) ताराचन्द प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली
3. भारत का मुक्ति-संग्रह, अयोध्या सिंह, रेखा प्रकाशन, कलकत्ता, सूचना केन्द्र, असम
4. पोलिटिक हिस्ट्री ऑफ असम, सूचना केन्द्र, असम
5. फ्रीडम मूवमेन्ट इन बंगाल, निर्मल कुमार सिन्हा, शिक्षा विभाग, पश्चिम बंगाल
6. भारत की अग्रणी महिलाएँ, आशाराम व्होरा, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली
7. इंडियन वूमेनहुड टुडे, मारग्रेट कजिंस किताब्रिस्तान, इलाहाबाद

रिंकु कुमारी

सूरकाव्य संबंधी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का चिंतन

हिंदी साहित्य में भक्तिकाव्य में सामाजिक सोदेश्यता पर बहस के केंद्र में कहीं तुलसीदास मौजूद हैं तो कहीं कबीरदास। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन बहसों के केंद्र में सूरदास कहीं दिखाई नहीं देते।

परंतु भक्तिकाल की कविता को महान एवं लोकप्रिय बनाने में सूरदास की भूमिका महत्वपूर्ण एवं मूर्धन्य है। हर युग के कवि एवं कविता का अपना विशिष्ट रंग, रूप और स्वर होता है और प्रत्येक कवि का समाज से विशेष रिश्ता होता है, जो उसकी सामाजिक और वैश्विक दृष्टि को निर्धारित करती है। उनकी युगीन चुनौतियाँ एवं परिस्थितियाँ भी भिन्न होती है, जो उनके काव्य की विशिष्टता एवं माँग को निर्धारित करती है। ऐसे में सूरकाव्य में उस काल के अन्य कवियों की भाँति सामान्य एकता ढूँढ़ना न केवल असंगत है बल्कि उनके काव्य के साथ भी अन्याय है, तथा सकारात्मक आलोचना जगत के लिए घातक भी है, जो आलोचना की शिविरबद्धता एवं क्षीणता को दर्शाती है।

सूरकाव्य के उचित मूल्यांकन की उदासीनता हिंदी आलोचना में विद्यमान है। परंतु कई सहृदय आलोचकों ने सूरकाव्य का स्वस्थ एवं तटस्थ मूल्यांकन किया है और उनकी सृजनात्मक प्रतिभा की पहचान की है। उनके काव्य के विशिष्ट स्वरूप एवं विविधता को रेखांकित किया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हीं आलोचकों में शुमार हैं जिन्होंने सूरकाव्य की सुसंगत आलोचना की है। हिंदी शोधा एवं आलोचना के क्षेत्र में सूरकाव्य के जो महत्वपूर्ण बिंदु, चिंतन, आयाम अप्रकाशित रह गये थे, उसे प्रकाशित किया है। सूरदास को हिंदी साहित्य में, भक्तिकाव्य में एवं आलोचना जगत में महाकवि शिरोमणि कवि के रूप में स्थापित किया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अबतक सूरकाव्य पर लगे सभी आरोपों, अभावों को खारिज करते हैं, जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लगाये गये थे, उन आरोपों पर वे शक्ति से प्रहार करते हैं। सूरकाव्य को नई दृष्टि, नया तेवर देते हुए उसके अप्रकाशित, अनछुए सत्यों को नये दृष्टि के साथ प्रकाशित करते हैं- ''हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने शुक्ल जी की सूर-संबंधी मान्यताएँ थीं, इसलिए उन्होंने शुक्ल से भिन्न दृष्टि से सूर के काव्य को देखा, कहीं शुक्ल जी की मान्यताओं का विरोध किया है, तो कहीं विकास भी। द्विवेदी जी ने सूर की काव्यानुभूति की शास्त्र-निरपेक्षता और रचनादृष्टि की नवीनता की व्याख्या की है और उनके कवि-व्यक्तित्व की स्वाधीनता, प्रेम के विद्रोही स्वभाव, सूर-सागर में स्त्री-चरित्रों की प्रधानता, पदों की रचनापद्धति की मौलिकता आदि का मूल्यांकन किया है। इस तरह सूर के काव्य की लोकोन्मुखता और सामाजिकता उजागर हुई है।''[1]

द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तकें सूर-साहित्य, हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, मध्यकालीन धर्म-साधना में सूर से संबंधित सभी पहलुओं पर गंभीरता से विचार किया है। सूरदास को वे श्रेष्ठ कवि घोषित करते हैं-''सूरदास शताब्दियों से हिन्दी भाषी जनता के हृदयकार बने हुए हैं, इसलिये नये सिरे से यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि है।''[2]

हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि सूरकाव्य का मूल्यांकन उनके युग, उनके समाज के दृष्टिकोण से होना चाहिए। उनके समाज के समक्ष प्रमुख सामाजिक और

वैश्विक चुनौती क्या थी? इस नजरिये से होना चाहिए न कि साहित्य में समाज का प्रत्यक्ष वर्णन के रूप में। वे सूर के काव्य का मूल्यांकन विशुद्ध काव्य एवं विशुद्ध भक्ति के खाँचे बाँटकर नहीं करने की सलाह देते हैं-''इसलिए हम न तो वैष्णव कवियों की कविताओं की विशुद्ध-काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्ति की दृष्टि से ही अपना सकते हैं। हम मध्यकाल के कवि को गलत किनारे से देखना शुरू करते हैं और आधा-अधूरा जो कुछ हाथ लगता है, उसी से या तो झुँझला उठते हैं या गद्-गद् होते हैं बल्कि इस बात की शिकायत है कि गलत समझ कर वैसा होते हैं।''[3]

सूरकाव्य में प्रेम के अनंत अनुभवों के वर्णन एवं नारी चरित्रें की प्रधानता पर मुग्ध होते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं-''सूरसागर में गोपियों का इतना विस्तृत वर्णन है कि उसे स्त्री चरित्र का काव्य कहें तो अनुचित न होगा। उसमें मातृरूप का अभूतपर्व चित्र उतरा है। प्रेमिका का, कामिनी का, पत्नी का, लड़की का, रानी का ग्वालिन का, और स्त्री का, इतना सुंदर रूप शायद ही किसी एक काव्य में स्पष्ट हुआ हो। कहा जाता है कि सूरदास बाल-लीला वर्णन करने में अद्वितीय हैं; मैं कहूँगा सूरदास मातृ-हृदय का चित्र खींचने में अपना सानी नहीं रखते। कहा गया है कि सूरदास प्रेम के स्वरूप के अपूर्व पारखी थे; मैं कहता हूँ प्रेमिका के हृदय-सौंदर्य का तटस्थ भाव से चित्रण करने में सूरदास के साथ संसार के कुछ ही कवियों की गणना हो सकती है।''[4] इस प्रकार वे सूरकाव्य संबंधी स्थापित मान्यताओं को विस्तार देते हैं।

सूर के काव्य में उनके व्यक्तित्व की स्वाधीनता एवं मौलिकता मुखर रूप में अभिव्यक्ति हुई है, जिसे द्विवेदी जी चिन्हित करते हैं। 'सूर की राधा' अन्य भक्तिकाव्य एवं कृष्ण-काव्य के कवियों की राधा से भिन्न है-''अन्य भक्त कवियों की भाँति सूरदास ने राधिका और कृष्ण को एकाकार नहीं मिला दिया। यही कारण है कि पूर्व राग की वह व्याकुल वेदना सूरसागर में नहीं मिलेगी, जो चंडीदास या विद्यापति की पदावलियों में प्राप्य है। परंतु इसमें एक विशेष प्रकार की वेदना है, जो सूरदास की अपनी विशेषता है।''[5]

सूरकाव्य लोकोन्मुखता एवं सामाजिकता का उजागर आचार्य द्विवेदी ने विदेशी संस्कृति से आत्मरक्षा के रूप में किया है- ''विदेशी संस्कृति से आत्म-रक्षा के लिए अब प्रधाानता: दो शक्तियाँ काम करने लगीं। पहली कबीर आदि की निर्गुण-साधना और दूसरी सूरदास आदि की सगुण-साधाना।''[6]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की भाषा शैली की विविधता, उसकी वक्रता एवं वाकपटुता को भी रेखांकित किया। सूरकाव्य में सूर के तीन रूपों की अभिव्यक्ति हुई है-''सूरदास तीन हैं-कवि और भक्ति, केवल भक्त, और कथागायक। जहाँ प्रेम का प्रसंग आता है, वहाँ सूरदास कवि और भक्त हैं, जहाँ आत्मनिवेदन का वेग तीव्र रहता है, वहाँ वे भक्त हैं, और ब्रज की प्रेमलीला के बाहर वे सर्वत्र कथागायक हैं। तीसरे सूरदास में कवि सूरदास का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता, पर भक्त सूरदास उसमें अनमने भाव से बैठे रहते हैं। इस तृतीय श्रेणी के सूरदास मानों अपने स्थान से च्युत हो गये हैं, अपने क्षेत्र से निर्वासित हो गये हैं। मानो ब्रज के बाहर की लीलाओं को गाते समय वे कहते कुछ और रहते है, और सोचते कुछ और।

इन गानों के पीछे से एक अस्पष्ट छवि-सी निकलती रहती है, ''गा लो भाई, यह भी भगवान की लीला है, अच्छा नहीं लगता तो क्या है, घी का लड्डू टेढ़ा भला, इसलिए तीसरी श्रेणी के सूरदास की भाषा फीकी सी मालूम होती है।''[7]

इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद का सूरकाव्य संबंधी मूल्यांकन 'सूर सूर तुलसी ससी, के आलोचकीय कैनन को स्थापित करती है और सूरकाव्य के संतुलित मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त करती है। सूरकाव्य के महत्व एवं उसकी प्रसांगिकता को शिखर पर पहुँचाती है।

सहा. प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
E-mail:rinkukumari2020@gmail.com

संदर्भ सूची

1. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2, पृष्ठ 289
2. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धार्म-साधना, पृ. 127
3. वही, पृष्ठ 127-128
4. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर-साहित्य, पृष्ठ 125
5. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धार्म-साधना, पृष्ठ 144
6. सूर-साहित्य, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 60
7. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर साहित्य (निवेदन), पृष्ठ 161

संजीव प्रकाश

प्राचीन भारत में व्यापार का स्वरूप

भारत में व्यापार आदिम युग से होता रहा है। भारतीय वस्तुओं के विनिमय पाषाण युग में करते थे, उस समय पत्थर के औजार को एक कबीले से अधिक कबीलों के लिए औजार बनाए जाते थे। नव पाषण युग में अन्न लेकर उन्हें पत्थरों के औजार देने के प्रमाण मिलते है।[1]

हड़प्पा संस्कृति में शिल्पों में बनीं वस्तुओं में इतनी अधिक एकरूपता है कि यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिल्प इस संस्कृति में पूर्णतया संगठित थे और वस्तुओं के वितरण की प्रणाली सुव्यवस्थित थी विशिष्ट पत्थर एक स्थान से लाकर अनेक स्थानों में एक ही प्रकार के औजार बनाएँ जाते थे। इसी प्रकार बटहरें, मनके, मुहरें-आदि कुछ नगरों में बनाएँ जाते थे और हड़प्पा संस्कृति के पूरे क्षेत्र में उनका वितरण होता था।[2] व्यापार के लिए विनिमय की दरों बहटरों और नाम का नियमित करना आवश्यक था। मुहरों का प्रयोग संभवत: कपड़ों की शालों पर किया जाता था, इन भूमिका का उद्देश्य मात्र यह है कि किसी भी युग में अर्थव्यवस्था का सीधा सम्बन्ध समाज और नागरिक से होता है। प्रगतिशील समाज में अर्थव्यवस्था के गतिशीलता के लिए व्यापारोन्मुखी होना आवश्यक था। उस युग में भी रोम, मध्य एशिया, चीन इत्यादि देशों से व्यापार शुरू हो गया और इस उपमहाद्वीप के अनेक बन्दरगाहों और व्यापार केन्द्रों में विदेशियों की बहुत बड़ी संख्या हो गई।

व्यापारिक मार्ग :- आन्तरिक :- सिन्धु सभ्यता के अवसान के समय हड़प्पावासियों का व्यापार सुरक्षित नहीं रहा तथा उनके नगर कुछ आक्रमणकारी के हाथों में आ गए। ईसा पूर्व 1800 के लगभग सम्पूर्ण पश्चिम एशिया देशों से भारत के व्यापारिक मार्ग को रोक दिया। हड़प्पावासियों के समृद्ध व्यापार को उन्होंने नष्ट कर दिया। हड़प्पा के व्यापार को नष्ट करने वालों ने सुराष्ट्र, गौरी, कुभा (काबुल) गोमती (गोमल) और यद्यावती की घाटी में बस गए।[3]

नदी के किनारे ऐसे सांस्कृतिक वर्गों के रहने से नदी से व्यापारिक मार्गों के क्षेत्रीय विकास की संभावन व्यक्त करती है। संभवत: ईसा पूर्व 1500 के कुछ बाद आर्यों ने खैबर के मार्ग तथा काबुल की घाटी द्वारा भारत एवं बैक्ट्रीया के बीच मार्ग खोला। उस समय से वह मार्ग भारत और पश्चिमी एशिया के बीच मुख्य मार्ग हो गया। इसके बनने के बाद कंधार तथा मकरान के बीच जो मार्ग था उसकी महत्ता कम हो गई।[4]

आर्यों ने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को सप्तसिन्धु से हटा दिया तब उन्होंने नागरीय तथा व्यापारिक जीवन शुरू किया। इसके साथ ही प्राकृतिक मार्गों पर निर्भरता कम करते हुए उचित व्यापारिक मार्गों का निर्माण किया। ऋग्वेद में यह कहा गया है कि मरुत ने राह में खड़े छोटे-छोटे पहाड़ियों को तोड़कर मार्ग बनाना शुरू कर दिया।[5] सोम, पूषण सड़कों के संरक्षक होते थे और मरुत यात्रियों को अच्छी सुविधा देने वाले होते थे।

शतपथ ब्राह्मण में आसंदीवत (कुरुक्षेत्र, हस्तिनापुर) कम्पिल्य तथा विदिशा का उल्लेख मिलता है। आसंदीवत को मजूमदार ने जनमेजय की राजधानी बताया।[6] बुद्ध के समय और बाद में पालि साहित्य में मार्गों का वर्णन मिलता है। इसमें तक्षशिला होते हुए पश्चिमी एशिया से सम्बद्ध मार्ग का उल्लेख है। कौटिल्य ने व्यापारिक मार्गों के दो

रूपों को बताया है-पहला उत्तरापथ और दूसरा दक्षिणापथ।

उत्तरापथ में तक्षशीला भारत के अन्य प्रान्तों से जैसे मगध कोशल, वाराणसी श्रावसी से जुड़ा हुआ था और यह मार्ग दूसरे मार्गों से अच्छा था क्योंकि इस मार्ग से ज्यादातर कीमती वस्तुएँ जाती थी। जैसे हाथी दांत कस्तूरी चमड़ा सोना चाँदी इत्यादि। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में देश में विभिन्न श्रेणियों की सड़कों का उल्लेख किया है। इसमें पहला राजमार्ग दूसरा प्रांत के प्रशासनिक कार्यालयों को जोड़ने वाले मार्ग, तीसरा द्रोण मुख की ओर जाने वाले मार्ग और चौथा स्थानीय मार्ग थे। इसके अतिरिक्त रथ मार्ग, चारागाह मार्ग व्यापारिक मंडियों की ओर जाने वाला मार्ग, सेना के ठहरने का मार्ग पगदण्डी आदि मार्ग भी थे। इन सभी मार्गों से व्यापार करने के लिए वस्तुएँ बाजार में लाई जाती थी और विभिन्न स्थानों पर पहुंचाई जाती थी, जहाँ उनका उत्पादन नहीं होता था।

कौटिल्य ने दक्षिणपथ के संबंध में कहा है कि हाथी, शंख, हीरा, मणि, मोती, सुवर्ण दक्षिण की ओर ही बहुतायत में प्राप्त होती थी वही दक्षिण में कंबली चर्म और घोड़े इत्यादि नहीं मिलते थे। दक्षिाापथ में इन वस्तुओं का क्रय विक्रय होता था।[8]

उत्तरापथ के जो व्यापारिक मार्ग थे उसमें आवागमन में कोई समस्या नहीं थी जबकि दक्षिणपथ में मार्ग बहुत ही दुर्गम और कठिन थे जिससे दक्षिण भारत में समान ले जाना या लाना अत्यन्त कठिन होता था। फाहियान ने भी कहा है कि दक्षिण भारत में बहुत कठिनता से व्यापार योग्य वस्तुएं भेजी जाती थी। दक्षिण भारत में व्यापार मुख्यरूप से नदियों द्वारा किया जाता था क्योंकि साहित्यों में सौबीर, मरूकच्छ सुप्पारक, कावेरीपत्तन, करम्बिया जैसे बंदरगाहों का उल्लेख मिलता है।[10]

व्यापारिक मार्ग - अन्तर्राष्ट्रीय :- दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के पहले तक भारत और पश्चिम के बीच समुद्र मार्ग की अपेक्षा स्थल मार्ग अधिक प्रचलित थे। भारतीय व्यापार के दृष्टिकोण से बैक्ट्रियां महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, क्योंकि यहां से व्यापार योग्य वस्तुएँ पूर्व में खोतान, यारकन्द, कशगर तथा चीन को, उत्तर-पश्चिम में आक्सस की घाटी को तथा पश्चिम में तिग्रिस की घाटी जाती थी। रोम एवं भारत के बीच व्यापार मार्ग के बीच ईरान के शासन पहलवों द्वारा अनेक बाधाएँ-उत्पन्न की गई, परन्तु उन बाधाओं का अंशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। साथ ही भारत फारस की खाड़ी एवं लाल सागर के माध्यम से एक दूसरे के निकट हो गए।

पी.सी बागची ने यह संकेत दिया है कि चीन के लिए असम, बर्मा मार्ग पाटलिपुत्र से प्रारंभ होकर चम्पा भागलपुर, कजंगला तथा पुण्ड्रवर्धन को पार करता था और कामरूप तक जाता था। 11 भारतीय व्यापारी सामान्यत: कपिशा और तक्षशिला से बैक्ट्रिया आते हुए मध्य एशिया होकर चीन के लिए बहुत से मार्ग अपनाते थे। इस प्रकार बैक्ट्रिया, खोतान, यारकंद, चीन, रोम फारस की खाड़ी से भारत का अन्तराष्ट्रीय व्यापारिक मार्ग संभव है।

परिवहन के साधन :- प्रारंभ में मनुष्य स्वयं भार ढोते थे, जिसके लिए सिर या हाथ का प्रयोग करते थे फिर जब पशुपालन प्रारंभ हो गया तो पशुओं का उपयोग करने लगे। बैल प्रारंभिक पशु थे जिनका भारत में सर्वप्रथम परिवहन के साधनों के रूप में प्रयोग हुआ। सिन्धु घाटी की सभ्यता में वृषभ से युक्त पहिए वाली गाड़ियों का उपयोग किया गया था। सिंधु घाटी में यह प्रयोग 2000 ईसा पूर्व तक होता रहा। इस तरह की गाड़ियाँ नागरिकों एवं आर्थिक परिवहन के रूप में उपयोग होता था।

कौटिल्य ने तीन प्रकार की गाड़ियों का उल्लेख किया है। 1. लघुमान (छोटी गाड़ी) 2. गोलिंग (मध्यम आकार की गाड़ी जिसको बैलों द्वारा खेंची जाती थी 3. शकट (बड़ी गाड़ी) विनय पिटक में यह उल्लेख है कि एक भिक्षु भेड़ों के ऊन को तीन भोजन तक ढोकर ले गया था।[12] अत: ऋग्वेद और कौटिल्य के विवरण से यह पता चलता है कि उस समय स्थल परिवहन के साधन के रूप में प्रयुक्त होते थे।

जल परिवहन के रूप में प्रारंभ में पानी के तैरते हुए लकड़ी के टुकड़े अथवा कुन्दे थे जो आपस में बँधे हुए थे। सिंधु घाटी में उन्नत किस्म के नाव एवं जहाज के उदाहरण प्राप्त होते हैं। मैकी के अनुसार एक पोत के बाह्य ढ़ाँचे पर कुछ चिन्ह यह स्पष्ट करते है कि यह सरकण्डों का बना हुआ था, जो आपस में बँधे हुए थे। बड़े जहाजों का संचालन राज्य द्वारा भी होता था। मौर्यों ने अपना स्वयं का जहाज रखा था जिसका उपयोग व्यापारी एवं यात्री किराया देकर करते थे। मेगास्थानीज के अनुसार जहाज बनाने वाले मौर्य सरकार के वेतन भोगी कर्मचारी थे। जो सौदागरों अथवा व्यापारियों को किराये पर जहाज उपलब्ध कराते थे। रामायण में भी यह उल्लेख है कि जहाजों में

बड़ी संख्या में व्यापारी समुद्री मार्ग से जाते थे।**13**

महाभारत में जलमार्ग को पार करने के लिए केवल नाव को ही साधन माना गया है। स्वास्तिक प्रकार के बड़ा नाव नदी परिवहन के लिए उपयुक्त था। महाभारत में एक ऐसे नाव का उल्लेख है जिसमें एक यंत्र लगा था जिससे माल अथवा यात्रियों को सुरक्षित गन्तव्य तक पहुँचाय जा सकता था।

मौर्य शासन के अन्तर्गत जल परिवहन के सभी साधन राज्य के नियंत्रण में थे जिनको नवाध्यक्ष के अन्तर्गत देखरेख होता था। यात्री किराए के रूप में यात्र भाड़ा देते थे जिसे नौकाध्यक्ष वसूल करता था। अतः सामान्यतः व्यापार में परिवहन की यह व्यवस्था प्राचीन काल में थी जिसमें से बहुत कुछ आधुनिक तकनीकों के साथ आज भी चल रही है। इस प्रकार तटीय व्यापार के साथ साथ स्थल के साथ रेलवे और वायु से भी व्यापारिक परिवहन होता है।

नेट/जे.आर.एफ.,
इतिहास विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

संदर्भ सूची

1. ब्रिजेंट एंड रेमण्ड आलचिन, दि बर्थ अफ इंडियन सिविलिजेशन पृ. 256-57
2. वही, पृ.-268-69
3. एच.डी. संकालिया-दि एक्सवेशन्स ऐट महेश्वर एण्ड नवतौली, 1952-53 पृ. सं.-224
4. एच.डी संकालिया-फ्राम हिस्ट्री टू हिस्ट्री ऐट नेवासा 1954-56 पृ. सं. 467
5. ऋग्वेद 2/34/5
6. आर. सी मजूमदार, दि वैदिक एज, लंदन, 1957 पृ. सं. 25
7. कौटिल्य अर्थशास्त्र 2 - 4
8. कौटिल्य अर्थशास्त्र 7,12
9. ए रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट कन्ट्रीज बाई फाहियान-पीकिंग, संस्करण 1957 पृ.सं. 75
10. बी. स्मिथ-कॉमर्स ऑफ दी एन्शिएन्ट्स खण्ड-2 पृ. सं. 404
11. पी.सी. बागची-इण्डिया एण्ड चाइना, बम्बई 1950 पृ. सं. - 17
12. दीर्घ निकाय, खण्ड - 3 पृ. सं. - 200
13. रामायण, बालकाण्ड 45, 6

शोध-पत्र

मणि वाजपेयी

कालिदास के महाकाव्य में प्रकृति विशेषकर सामाजिक परम्परा

सारांश

वास्तव में मानव जीवन के विकास में परम्पराओं का भी अपना एक विशेष महत्व होता है। स्वस्थ एवं अच्छी परम्पराएँ समाज को एक प्रकार की प्रेरणा, दिशा तथा उत्साह देती हैं। वस्तुतः इनके दिशा से ही किसी समाज का सच्चा स्वरूप देखा जा सकता है। लेखक अपनी अमर रचनाओं के द्वारा अपने युग के समाज का चित्र इतिहास एवं स्वयं परम्पराओं को भविष्य के समाज के लिए सजोकर रखता है। समाज के सच्चे प्रतिनिधि कवि अपनी पूर्व परम्पराओं पर अधिक विश्वास रखकर उन्हें मान्यता देते हुए अपनी कृतियों में महत्व देते हैं किसी भी समाज की सच्ची विशेषताएँ एवं वास्तविकताएँ उसकी परम्पराओं में ही देखी जाती है। परम्पराएँ और अधिकार पूर्व संचित ज्ञान राशि का इतिहास, साहित्य और प्रतीक होती है।

महाकवि कालिदास ने भी लोकदृष्टियों के माध्यम से गृहस्थाश्रम में पतिकुल में नारी के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का निरूपण किया है। स्त्रियों के प्रति उनकी दृष्टि वही थी जो उनके युग में थी।। उस समय पर्दे की व्यापक प्रथा का तो संकेत नहीं मिलता किन्तु स्त्रियाँ पति को साथ लेकर माता-पिता के सामने जाने में लज्जा का अनुभव करती थीं। शकुन्तला अपने पति से कहती है-

हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं।

-शाकु. 7/26 पूर्व.

यह प्रथा आज भी प्रचलित है कि कन्या का विवाह के पश्चात विवाहित स्त्री का अधिकार हो जाता था और अधिक समय तक मातृ गृह में बना रहना अपवाद का कारण माना जाता था। पति चाहे पसन्द करे या निषेध, स्त्री का पति के साथ रहना श्रेयस्कर था-वह भले ही सदाचारिणी हो, अपने ही परिवार या कुल जनों के साथ रह रही हो किन्तु उसका पति जीवित है तो वह युवती अपने पति के साथ रहे नहीं तो लोग उसके चरित्र पर संदेह करने लगते हैं।

सतीमति ज्ञातिकुलैसंश्रयां जनोन्यथा भर्तृमतीं विशडते। अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥

-शाकु. 5/17.

महाकवि कालिदास ने पुत्री स्वसा और माता के रूप में नारी की मनोभावनाओं को चित्रित नहीं किया। राम की माताओं को उन्होंने उपेक्षित ही कर दिया शकुन्तला के लिये गौतमी उसकी माता से कम नहीं थी। फिर भी दुष्यन्त के द्वारा उसके प्रत्याख्यान के समय उसने उतनी ही ममता प्रदर्शित नहीं की जितनी सामान्य माता करती है। सान्त्वना के स्थान पर वह कहती है-

''इत्थंप्रतिहतं चापल्यं दहति। अज्ञात-हृदयेष्वेवं वैरीीावति सौहृदम्''॥

-शाकु. 5/24.

यह लोकदृष्टि सामाजिक मान्यता की मात्र प्रति ध्वनि है-

''उपपन्न हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी''

-शाकु. 5/26.

सामान्य नारी के प्रति पुरुषों की धारणा दुष्यन्त के निम्न कथन से व्यञ्जित हुई है-

राजा- एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनाममृतवाड-मधुीाराकृष्यन्ते विषयिणः। तथा

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृष्यते किमुत याः

प्रतिबोधवत्यः।

प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्य जातमन्यैर्द्विजैः परभृताः परिपालयन्ति ॥

-शाकु. 5/22.

यह ''प्रतिबोधवत्यः'' इस पद से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि उच्च वर्ग की स्त्रीयों में पढ़ने लिखने का प्रचार था। यद्यपि उनक कार्य क्षेत्र परिवार तक ही सीमित था फिर भी उनमें विद्या का प्रचार था। इन्दुमती स्वयंवर के समय अपने व्यापक ज्ञान और विवेक का परिचय देती है। सुदक्षिणा धार्मिक विधियों में पति का हाथ बटाती है। इन्दुमती तो अपने कर्त्तव्य एवं अधिकार का पालन करते हुए वह पति की सचिव, सखी और कला शिष्या भी है। शकुन्तला अपने प्रेमी राजा को नलनी दल पर पत्र लिखती है। उस काल की स्त्रियों की स्थिति वर्तमान से किसी प्रकार कम नहीं थी। वे संन्यास ले सकती थी, वे आचार्य हो सकती थीं और कलाविद में निर्णायिका का स्थान ग्रहण कर सकती थी।

स्त्री के जितने रूप महाकवि कालिदास में मिलते हैं। -चाहे वे राज महिषी के हो या परिचारिकाओं के, सबके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है। ऋतुपर्ण की महिषी उसकी मृत्यु के जब तक उसका गर्भस्था बालक जन्म लेकर युवा नहीं होता, पति के राज्य का शासन सम्हालती है-

तं भावई प्रसवसमयाकङ्क्षिणीना प्रजाना।
मर्न्तगढ़ं क्षितिरवि नभोबीजमुष्टिं दधाना॥
मौलेः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमेसिंहासनस्था।
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरख्याहताज्ञा॥

-रघु. 19/57.

इस समय राजाओं में अनेक पत्नी प्रथा थी। पत्नियाँ परस्पर मिलजुल कर रहा करती थीं। सबके कर्त्तव्य एवं अधिकार सुनिश्चित थे। उनके आदर्श रघुवंश के राजाओं में अनेक बहुपत्नीक है। स्वयं रघु के भी कई पत्नियाँ हैं।

नरेन्द्रकन्यस्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुताइबावभुः।

-रघु. 3/33

और कुश के पुत्र अतिथि के भी कई स्त्रियाँ थी-

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः।
पश्चात् पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता॥

-रघु. 17/3

फिर भी युवराजत्व ज्येष्ठ पत्नी के पुत्र को ही प्राप्त होता था। वशिष्ठ के माध्यम से नन्दिनी से दिलीप ने जो वर माँगा वह पत्नी के प्रति उनके सम्मान भाव का निदर्शक है-

वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे।

-रघु. 2/64

दिलीप भी बहुपत्नीक थे, भेले ही वह मागधी सुदक्षिणा को प्रमुख पत्नी मानते रहे हों-

कालिदास के मत से राजा का मनु प्रतिपादित प्रथम कर्त्तव्य है वर्णाश्रम का पालन-

''नृपस्य वर्णाश्रमपलनं यत्स एवं धर्मो मनुनाप्रणीतः॥''

-रघु. 14/67

बहुपत्नीकत्व का अर्थ है धर्म पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ भी काम-सम्बन्ध रखना। राजा लोग तो अनिर्वाध रूप से ही ऐसा करते थे। वे कुमारियों के साथ प्रणय लीला करने में भी स्वतन्त्र थे, यद्यपि इस विषय में वे राज महिषी से डरते रहते थे। और उनके प्रणय व्यवहार प्रच्छन्न रूप से चले थे। जब राज महिषी पर यह भेद खुल जाता था। ऐसी प्रणय पात्र कन्याओं को कठोर दण्ड सहन करना पड़ता था। महाकवि के तीनों नाटकों में यह सब प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

मेघदूत का यक्ष और उसकी पत्नी दोनों परस्पर समर्पित प्रणयी है जो अन्य स्त्री या पुरुष की कल्पना तक नहीं कर सकते। शिव एक पत्नी की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह कर लेते हैं, भले ही ऐसा बाहरी दबाव के कारण करना पड़ता हो। रघुवंश महाकाव्य में यह विषय बहुत संयत था। दिलीप, रघु, अज, राम, कुश, और उनकी परम्पराओं में किसी राजा की दूसरी पत्नी का हमें ज्ञान नहीं है। केवल दशरथ इसके अपवाद है। इस वंश में पत्नी का बहुत सम्मान था।

सुदक्षिणा की प्रतिष्ठा तो सच्चे अर्थ में धर्म पत्नी के अनुकूल है। महाकवि ने उसके लिए पुनः पुनः देवी, वधू, प्रथत, परिग्रह और धर्मपत्नी शब्द का प्रयोग किया है। देवी पद भी इस काल में व्यवहृत था। पत्नी की वास्तविक स्थिति का रूप अज विलाप में स्पष्ट हुआ है।

घर पत्नी से ही बनता है। आवश्यक विषयों में उसी से परामर्श किया जाता है। एकान्त के पीड़ा को दूर करने वाली संगिनी या सखी भी होती है। उसके न रहने पर मनुष्य का धैर्य नष्ट हो जाता है, आनन्द नष्ट हो जाता है, संगीत शाला, शून्य हो जाती है, ऋतु उत्सव बन्द हो जाता है अच्छे वस्त्र पहने की और स्वयं के सुन्दर दिखाने की

इच्छा भर जाती है। शयन कक्ष तो शून्य हो ही जाता है। पति पत्नी इस बात का ध्यान रखते हैं कि किसी के आचरण से अन्य को कष्ट न हो। अज कहते है-

मनसाऽपि न विप्रियं मया कृतपूर्व तब किं जहासि माम्।

-रघु. 8/52

और रति पति को उद्दिष्ट कर कहती है-

कृतवानसि विप्रियंन मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।

-रघु. 7/4

कविगुरु कालिदास ने नारी के नख शिख का वर्णन करते हुए भी उसकी गरिमा, सौन्दर्य, सौम्यता, गुण, त्याग, सहिष्णुता सेवा-सुश्रुषा, निर्माण शक्ति, ममता, साधना, और परिपालन का विशेष ध्यान रखा है। एवं उसे प्रसंगवश विशेष वर्णन किया है-

''प्रणाम करती हुई पार्वती को शंकर ने यह सत्य आशीर्वाद दिया कि तुम्हें ऐसा पति मिले कि जो किसी भी नारी को न मिला हो।''

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में राजा अज को इंदुमती के वियोग में दुखी दिखाकर यह सिद्ध किया है कि नारी मनुष्य की प्रेरणा है बिना नारी के गृहस्थाश्रम के किसी भी कार्य को सम्पन्न नहीं किया जा कसता।

निष्कर्ष

महाकवि कलिदास की लेखनी का यह चमत्कार और उनके भारतीय परम्पराओं का पोषक होने का द्योतक है। भारतीय नर एवं नारी के आदर्शमय चरित्र को प्रस्तुत करके उसने अपने गौरव पूर्ण इतिहास का उल्लेख किया है।

राजा दुष्यन्त सच्चे हृदय से दुखी होकर अपराधी की भाँति शकुन्तला के पैरों में पड़कर क्षमा माँगता है। महाकवि ने अपनी अन्तिम रचना शकुन्तला नाटक में सुखी, समायोजित त्याग, सहिष्णुता, शुद्धष्णुता, एक दूसरे की भावनाओं को समझने वाले एक आदर्श परिवार का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि गान्धर्व विवाह की पद्धति पर इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित हुआ है तदापि दायित्वों का निर्वाह अत्यन्त विदग्धता के साथ दिखाया गया है।

संस्कृत विभाग

मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

संदर्भ ग्रंथ

1. गंगादास, छन्दोमंजरी, चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1989
2. धनंजय, दशरूपक, डॉ. श्रीनिवासशास्त्री, साहित्य पुस्तक भण्डार, सां.का. 2003
3. पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-1, 1955 ई.
4. डॉ. गोविन्द, शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त भाग-1, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, सन् 1993 ई.
5. पाण्डेय सत्यनारायण, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1966 प्रथम संस्करण
6. काणे. पी.वी. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1966
7. उपाध्याय, रामजी संस्कृत वाङ्मय का आलोचनात्मक इतिहास रामनारायण लाल प्रकाशन, इलाहाबाद

शोध-पत्र

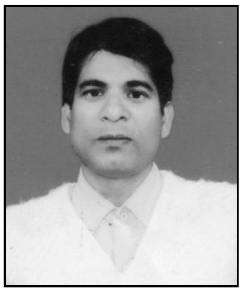

ग्रामीणों के सामाजिक विकास में शिक्षित महिलाओं का योगदान विशेषकर सहभागिता हेतु उपाय

डॉ. प्रमोद कुमार प्रभाकर

सारांश :

भारतीय सामाजिक सरंचना में भारतीय नारी का अतीत दृष्टिगत करने का यह चित्र उभरता है कि भारतीय नारी प्रकृति की सृजनशीलता एवं रचनात्मक शक्ति का प्रतीक है। मानव की आदिम अवस्था से लेकर आज तक पुरुष ने नारी के प्रति संरक्षण तथा नारी ने पुरुष के प्रति समर्पण भाव रखा है। यह परम्परा कब से आरंभ हुई, कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु प्रकृति की सहचारिणी बनकर नारी ने सृष्टि को जीवन प्रदान किया है। हिन्दू समाज से लेकर प्रत्येक धर्म में कम सर अधिक सम्मान तथा आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त रहा है। उनके प्रति समाज में स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है।

भारतीय नारी अनेक सामाजिक स्तरों, ऐतिहासिक युगों और राजनैतिक परिस्थितियों से होकर गुजरी है। पुरुष शब्द की उत्पत्ति स्त्री, संतान और व्यक्ति की समष्टि से मानी गयी है। जैसे मनु का कथन है कि केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं है अर्थात् वह अपूर्ण ही रहता है, किन्तु स्त्री, स्वदेह तथा संतान, ये तीनों मिलकर उसे पूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार स्त्री पुरुष की शरीरर्थ और अर्धांगिनी मानी गयी है।

परिचय :

स्त्री की स्थिति युग के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। वैदिक युग में उसकी अवस्था अत्यंत उन्नत और परिष्कृत थी। उत्तर वैदिक काल में नारी की दशा अवनति की ओर अग्रसर होने लगी। उसके लिए निदंनीय शब्दों का प्रयोग होने लगा। श्रीनिवास ने लिखा भी है कि हिन्दुओं के सभी धार्मिक एवं व्यवहारिक ग्रंथों में पति की अपेक्षा पत्नी के आचरण व भूमिका के संबंध में अधिक निर्देश मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पति की तुलना में पत्नी की भूमिका प्राचीन काल में अत्यंत महत्वपूर्ण थी। इस प्रकार पति की अपेक्षा ज्यादातर पत्नी को ही अपने लिए निर्धारित एवं बंधे ढाँचे का अनुसरण करना पड़ता था।

परम्परागत परिवारों में स्त्री, व्यवहार के निश्चित प्रतिमान के प्रति दृढ़ रहती थी। परम्परागत भारतीय नारी का वर्णन करते हुए डॉ० राधा कृष्णनन (1957) ने लिखा है कि ''शताब्दी से चली आ रही परम्पराओं ने भारतीय नारी को विश्व की सर्वाधिक नि:स्वार्थी सर्वाधिक आत्मत्यागी तथा सर्वाधिक धैर्यवान तथा सहनशील बना दिया है। कष्ट उठाना ही आत्म गौरव है और इस आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मगौरव का भण्डार होती हैं स्त्रियां।''

यद्यपि कि वर्षों से संस्कार से बंधी, समाज द्वारा दबाई गई नारी को बाहरी और कानूनी रूप में स्वतंत्रता मिली है। लेकिन आजादी के चार दशक बीत जाने के बाद भी संविधान द्वारा नारी को प्रदत्त अधिकार और सुरक्षा आज भी उन्हें उपलब्ध नहीं है। प्रधानमंत्री स्व० श्रीमति इंदिरा गाँधी के शब्दों में ''यदि महिलाओं की उपेक्षा की गयी तो मानवता अपनी आधी शक्ति, क्षमता और सृजनात्मकता के उपयोग से वंचित रह जाएगी।''

विश्लेषण :

आर्थिक स्थिति सम्बन्धी सुधार में सरकार द्वारा पारित अधिनियमों के माध्यम से स्त्रियों की परम्परागत सामाजिक परिस्थितियां में निहित अनेकों कुरीतियों को दूर किया गया है। इसमें फैक्ट्रीज एक्ट 1951, दि माइन्स एक्ट 1952,

हिन्दू विवाह अधिनियम 1966, कॉन्ट्रैक्ट लेबर एक्ट 1968 तथा समान वेतन अधिनियम 1975 आदि महत्वपूर्ण है।

स्वतंत्र भारत में नारियों को उच्चतम पद या समान अधिकार प्रदान किये गये हैं। श्रीमति सरोजनी नायडू भारत के एक प्रांत की प्रथम महिला गवर्नर थी। श्रीमति विजया लक्ष्मी पंडित मास्को (1947-49) और वाशिंगटन (1949-52) में भारत की प्रथम महिला राजदूत के रूप में कार्यरत थी। हमारे देश के नवीन संविधान में स्त्री पुरुष के अधिकारों को समान समझा गया है। 1948 में केन्द्र सरकार ने भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) की प्रतियोगिता में नारियों को भी बैठने का अधिकार प्रदान कर नौकरी की दृष्टि से नर और नारी के भेद को समाप्त कर दिया।

महिलाओं के सशक्तिकरण के बिना विकासशील प्रदेशों की श्रेणी में आना कदापि सम्भव नहीं है। यह महसूस करते हुए उत्तर प्रदेश सरकार ने प्रदेश की महिलाओं के लिए एक प्रगतिशील नीति बनाने का तथा उसको क्रियान्वित करने का संकल्प लिया। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए महिला समाख्या ने एक राज्य स्तरीय पारदर्शी प्रक्रिया अपनाने का प्रयास किया व विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले प्रमुख सरकारी व स्वैछिक संगठनों, शिक्षाविदों व जनप्रतिनिधियों की सहभागिता सुनिश्चित की। विशेष प्रयत्न किये गये कि नीति में प्रत्येक क्षेत्र की महिलाओं के मुद्दों व रुचियों का समावेश हो सके। इस नीति के दस्तावेजों को तैयार करने के लिए निम्नलिखित प्रक्रियाओं को अपनाया गया।

28 मई 2001 को एक शुरुआती बैठक हुई जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत स्वैच्छिक व सरकारी संगठनों, विशेषज्ञों, शिक्षाविदों से चर्चा हुई तथा नीति के आकार, बिन्दुओं, पहलुओं और विषय-वस्तु पर विचार विमर्श हुआ। सभी ने मिलकर नीति में निम्नलिखित क्षेत्रों के समावेश की सहमति दी-

1. महिला एवं शिक्षा
2. महिला एवं स्वास्थ्य
3. महिला कार्य एवं आर्थिक सशक्तिकरण
4. महिला एवं हिंसा
5. महिला एवं कानून
6. महिला एवं प्राकृतिक संसाधन
7. महिला संस्कृति व समाजीकरण
8. महिला एवं जनतंत्र
9. महिला एवं छवि

स्त्रियों की स्थिति से हम भली-भांति अवगत हैं। इस दोयम स्थिति में सुधार हेतु सरकारी व गैर-सरकारी कार्यक्रमों एवं संस्थानों में पुनर्विचार और सक्रिय भागीदारी अनिवार्य है। हमारे संविधान और उसकी प्रस्तावना में मूल अधिकार, मूल कर्त्तव्य और नीति निर्देशक तत्व में भी नागरिकों की समानता समाहित है। जिसके फलस्वरूप लैंगिक भेदभाव का स्थान हमारे देश में नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सदियों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था के दबाव में महिलाएं अभी भी अधीनस्थ अवस्था में है और अपने संवैधानिक अधिकारों को प्राप्त करने में सफल नहीं हो पायी है। महिलाओं की बेहतरी तथा समानता के प्रति सरकार की प्रतिबद्धता, जनपदीय, प्रांतीय, प्रादेशिक या राष्ट्रीय नहीं है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी वह इस हेतु प्रयासरत है।

निष्कर्ष :

राज्य के विकास मानक के मापन में महिलाओं के विकास को एक मुख्य मापदण्ड मानती है। देश के विकास में महिलाओं की केन्द्रीय भूमिका को ध्यान में रखते हुए सरकार महिलाओं के विषय में एक प्रगतिशील नीति घोषित कर रही है जिससे महिलाओं के हितों को ध्यान में रखते हुए सरकार उनके अधिकारों का संवर्द्धन व संरक्षण कर सके और महिलाएं वास्तविक अर्थो में सशक्त हो सके। सशक्तता से तात्पर्य एक ऐसा माहौल तैयार करना है जहाँ बिना किसी लिंगभेद के स्त्रियों को क्षमता और योग्यता को प्रदर्शित करने का संपूर्ण अवसर प्राप्त हो सके। महिलाओं में इस प्रकार का क्षमता विकास किया जाये कि वे अपनी स्थितियों परिस्थितियों का विश्लेषण कर अपने परिवार और अपने प्रति हो रही गैर-बराबरियों के प्रति समझ बना सकें और विकास की दिशा में योजनाबद्ध तरीके से कदम बढ़ा सकें।

सरकार द्वारा महिलाओं को उन्नति व समानता के अवसर कई प्रगतिशील व कल्याणकारी योजनाओं के माध्यम से उपलब्ध कराने के प्रयास किये गये हैं। महिला एवं बाल विकास विभाग के द्वारा महिलाओं और बच्चों के पोषण और स्वास्थ्य सुधार के लिए आई०सी०डी०एस० कार्यक्रम चलाया जा रहा है। आंगनबाड़ी केन्द्रों को स्कूलों के साथ जोड़कर लड़कियों की शिक्षा सुनिश्चित करने का

प्रयास किया जा रहा है। बालिका समृद्धि योजना, भाग्यश्री बीमा योजना और किशोरी शक्ति जैसी योजनाओं का प्रचार-प्रसार और सक्रिय क्रियान्वयन किया जायेगा ताकि अधिकाधिक किशोरियों तथा महिलाओं को लाभ मिल सके, परन्तु यह योजनाएं महिलाओं को उनके अधिकार दिलाने एवं सही मायनों में उनके सशक्तिकरण के लिए पर्याप्त नहीं है।

एम०ए०, पीएच-डी०
समाजशास्त्र

संदर्भ सूची

1. कर्वे, इरावती : हिन्दू सोसायटी ऐन इण्डरप्रेटशन, पूना, 744
2. कौर, अमृत : चैलेन्ज टू वीमेन, इलाहाबाद, न्यू लिटरेचर, 1946
3. कौशिक, आशा : लेजिसलेटिव इलीट्स एण्ड सोसल चेंज, ए स्टडी ऑफ वीमेन लेजिस्टेटस इन राजस्थान, 1942
4. कपूर, प्रमिला : द स्टडी ऑफ मैरिटल एडजस्टमेंट एण्ड एजुकंटेड वर्किंग वीमेन इन इण्डिया, 744
5. क्रेस्टजेन, क० : वीमेन एण्ड होम बजट वर्क, न्यूयॉर्क, 1944

डॉ० इंद्रजीत कुमार

महाभाष्यकालीन आर्थिक स्थिति विशेषकर व्यापारिक मार्ग

सारांश :

भारतका घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन युग में लंका, ब्रह्म, मलाया, स्याम, कम्बोडिया, सुमात्रा जावा, बोनिया, चीन, जापान, कोरिया आदि देशों से रहा है। अत: अन्य देशों के साथ भारतीयों का संपर्क रहा है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। धर्म प्रसार, व्यापार, दिग्विजय तथा खोज की दृष्टि से भारतीयों ने समुद्र पार की यात्राएं भी की। ईसा पूर्व तीसरी शती से लेकर 1000 ई० तक के सुदीर्घ काल जिसे पूर्व मध्यकाल कहते हैं, भारतीयों ने अधिक संख्या में समुद्र पार देशों की यात्राएं की।

परिचय :

सामुद्रिक व्यापार के विषय में धार्मिक ग्रंथों तथा साहित्यिक स्रोतों से हमें पर्याप्त जानकारी मिलती है। अग्नि पुराण में उल्लिखित है कि भारत के वणिक, समुद्र पार के देशों में गये जिन्हें दीपान्तर कहते थे। भारतीय वणिक् अपना माल लेकर अनेक द्वीपों तथा स्थानों में जाया करते थे जिसका विवरण मत्स्य पुराण में मिलता है। ताम्रपर्णी (लंका), इन्द्र द्वीपी (वर्मा), सुमात्रा जवद्वीप कम्बोडिया, नीकोबार बोनिर्या आदि द्वीपों में भारत के व्यापारी अपना माल लाते थे। रामायण तथा महाभारत के विविध दृष्टांतों को प्रस्तुत का सिलबेन लेवी ने इसकी सम्पुष्टि की है कि भारतीय वणिक ब्रह्म और मलाया पदार्थो तथा उपज से सुपरिचित थे। रामायण तथा महाभारत से ही पता चलता है कि कैवरतास और सार्थवाह वणिकों को व्यापारिक संबंध चारों तरफ था। महानिद्वेष जैसे बौध ग्रंथों तथा मिलिन्दपन्हो से भी विदेशों से होने वाले सामुद्रिक व्यापार का पता चलता है। ई०पू० दूसरी शती की रचना महानिद्वेष से समुद्र यात्रा की कठिनाईयों तथा समुद्र पार उन स्थानों की भी जानकारी मिलती है जहां भारतीय वाणिक् आया-जाया करते हैं।

भारतीय वणिकों की सामुद्रिक व्यापार तथा विदेश भ्रमण की जानकारी लौकिक साहित्य से भी मिलती है। महाजनक जातक में चम्पा तथा स्वर्णभूमि के मध्य समुद्री यात्राओं का विस्तृत उल्लेख हुआ है। भारत के व्यापारी स्वर्णभूमि अर्थात् दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों और उसके पतनों (बंदरगाहों) से भली-भांति परिचित थे, इसका भी उल्लेख जातक कथाओं में मिलता है। जातक कथाओं, वृहत्कथा, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कौमुदी महोत्सव नाटक में विदेशी से समुद्र मार्ग द्वारा होने वाले व्यापार, व्यापारियों के आगमन और व्यापार में निरंतर उत्कर्ष का विवरण मिलता है।

विदेशी पुरातत्व सामग्री भारतीय सामुद्रिक व्यापार के उत्कर्ष भारत के धर्म तथा सांस्कृतिक प्रसार के विषय में हमें पर्याप्त जानकारी देने में सक्षम है। बोगाजकोई नामक स्थान से जो पश्चिम एशिया में है एक उत्कीर्ण शिलालेख ईसा पूर्व चौदह सौ वर्ष पूर्व का प्राप्त हुआ है जिसमें वैदिक देवताओं और भारतीयों के नामोल्लेख है जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारतीय उनका वैदिक धर्म उस सुदूर प्राचीन काल में पश्चिमी एशिया में पहुंच गया था। बुद्धगुप्त नामक एक भारतीय नाविक द्वारा चौथी नदी का स्तंभ पर उत्कीर्ण कराया गया शिलालेख मनाया प्राय:द्वीप के आधुनिक वैलजली जिले में मिला है जिससे भारत के सामुद्रिक व्यापार के प्रस्तर की जानकारी मिल जाती है।

विश्लेषण :

भारत के सामुद्रिक व्यापार के प्रसाद तथा उत्कर्ष के

विषय में विदेशी साहित्य तथा ऐतिहासिक सामग्री से भी पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है। मिश्र के एक यूनानी नाविक की ईसवी सन् प्रथम सदी की रचना 'दी पेरिप्लस ऑफ दी एरिथ्रियनसी' में भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के बंदरगाहों का उल्लेख है। इसमें ऐसा भी उल्लिखित है कि इन बंदरगाहों का उल्लेख है। इसमें ऐसा भी उल्लिखित है कि इन बंदरगाहों से विभिन्न प्रकार की व्यापारिक वस्तुएं मिस्र, यूनान तथा रोम को जाया करती थी तथा अरब सागर के अनेक द्वीपों में भारत के व्यापारी निवास करते थे। ये द्वीप भारत के उपनिवेश बन गये थे जिनमें सीकोत्रा उपनिवेश प्रसिद्ध था। प्लिनी के ग्रंथ से ही इसका समर्थन मिलता है। भारत द्वारा रोमन साम्राज्य को पर्याप्त मात्रा में श्रृंगार के प्रसाधन और विलास को सामग्री भेजने का वर्णन प्लिनी ने अपने ग्रंथ में किया है।

ईसा की दूसरी सदी में भूगोल पर टामी द्वारा रचित एक ग्रंथ में मलाया, जावा, सुमात्रा और भारत के पतनों का और वहां से आने-जाने वाले जलयानों का पता मिलता है। मध्य एशिया में आठवीं सदी का रचित एक संस्कृत चीनी ग्रंथ मिला है जिसमें दक्षिण समुद्रों के प्रदेशों को 'जिपत्तल' कहा गया है। जिपत्तल का तात्पर्य सिलवेन लेली ने समीप वत्तीय द्वीपों सहित भारती द्वीप समूह लगाया है। इन द्वीपों और भारत के बीच समुद्र था। इन द्वीपों के विधि नाम थे- इन्द्र द्वीप, ताम्रवर्ण, कसेरू, सौम्य, काराद्रील, गंधर्व और वरूण। वस्तुत: ये समस्त द्वीप के समुद्र पार व्यापार कर संकेत देते है। भारत का व्यापार भूमि और समुद्र दोनों पर ही फैला हुआ था और उसकी सीमा तक थी। इसका उल्लेख अरब निवासी मसूदी ने अपनी दसवीं सदी की रचना मियाडोज ऑफ गोल्ड में की है।

भारत में प्राचीन युग से ही सामुद्रिक मार्ग से व्यापार हुआ करता था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों तथा लोथल से सामुद्रिक मार्ग द्वारा भी व्यापार होता था। उस समय लोथल एक बहुत बड़ा बंदरगाह था। ईरान की खाड़ी के बहरीन द्वीप जिसको पहले नाम तेल्मन था और लोथल में प्राप्त मुद्राओं के सम्यक् रूप से अध्ययन करने से यह जानकारी मिलती है कि दोनों के मध्य सामुदायिक मार्ग द्वारा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित थे। सुमेर के 'उर' नामक स्थान पर मिट्टी की कुछ अंकित तस्वीरें प्राप्त हुई है जिस पर मक्कन और मग्गध एवं मेल्हुआ लिखा है। मक्कन और मग्गध के विषय में यह कहा जाता है कि वह ब्लूचिस्तान के सामुद्रिक तट पर स्थित मकरान ही था। मेल्हुव का एकीकरण पश्चिमी भारत के समुद्री तट से किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'उर' के सामुद्रिक मार्ग से मकरान और पश्चिमी भारत के समुद्री तट से सम्बन्ध था और इसी से व्यापार होता था। लोथल, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की वस्तुएँ तेल्मन जाता था और वहां से ये सुमेर, बेबीलोन और मिश्र आदि देशों को जाती थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों के निवासी नि:संदेह समुद्री यात्रा तथा समुद्र से सुपरिचित थे।

पूर्व वैदिक युग में सामुद्रिक व्यापार होता था। आर्य बड़ी-बड़ी नौकाओं एवं पोतों का निर्माण करते थे। नदियों तथा समुद्र दोनों की यात्राएं आर्य किया करते थे। साहित्यिक स्रोतों से पता चलता है कि बहुमूल्य रत्नों की खोज के लिए समुद्र यात्राएं होती थी। समुद्र से मोती निकालकर व्यापार किया जाता था।

वैदिक युग में बड़ी-बड़ी नावों का प्रचलन था। इस युग में सुमेर तथा एलम आदि प्रदेशों से सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख मैके ने किया है। इसके प्रमाण मिलते है कि व्यापारी बड़ी-बड़ी नौकाओं में बैठकर द्वीप-द्वीपांतरों में जाकर व्यापार करते और धनोपार्जन करते थे। विरोम वैदिक युग का समुद्र के व्यापारियों में प्रसिद्ध था। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में भी सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख मिलता है। मोती पैदा करने वाले सीप समुद्र में लाये जाते थे।

निष्कर्ष :

परवर्ती युग में बौद्ध साहित्य में वर्णित है कि भारतीय व्यापारियों की यात्राएं ताम्रपर्णी और स्वर्णभूमि के साथ-साथ भृगुकच्छ से होती हुई सुमेर और बेबीलोन तक होती थी। व्यापारी ताम्रपर्ण, स्वर्णभूमि आदि देशों में जाकर अपार धन अर्जित करते थे। व्यापारी प्राय: नदियों से समुद्र तक पहुंचते थे। एक जातक के उल्लेख से विदित होता है कि एक व्यापारी पोत बेचा गया था जिसे एक नवयुवक ने क्रय कर दो लाख मुद्राओं का लाभ प्राप्त किया था।

जलपोतों को निर्माण लकड़ी के तख्तों से किया जाता था, जिन्हें पदरानिप कहा जाता था। जहाजों में रस्से मस्तूल, लंगर और लम्बी-लम्बी पतवारें होती थी। महासमुद्र में पोत का संचालक कुशल चालक होते थे। नौकाओं में तीन कृषक होती थी। नौकाओं का प्रयोग वस्तुत: समुद्र यात्रा को सुगम बनाने के लिए ही होता था। अत: स्पष्ट है कि समुद्र

यात्राओं का प्रचलन बौद्ध साहित्य की रचना के समय में रहा। सार्थवाह बौद्ध युग के मुख्य वणिक थे जो समुद्र यात्रायें करते थे।

प्राचीन इतिहास एवं एशियाई अध्ययन विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

संदर्भ सूची

1. अ०स० अलतेकर, 230-32
2. मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहूं एक।
   पालहू पोषहू सकल अंक तुलसी सहित विवेक।।
   अयोध्याकाण्ड, 315
3. मनुस्मृति, 8: 308
4. डॉ० एस०एस० सहाय, पूर्वोद्धत्, पृ० 373
5. डॉ० कृष्णानंद पूर्वोद्धत्, पृ० 24
6. एस०के० दास, इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ एंशियेंट इंडिया, 1980, पृ० 3

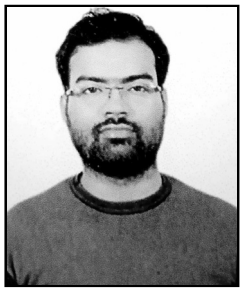

माधव झा

भारतीय दर्शन में अध्यात्म तत्त्व

भूमिका - यह बात पूर्व में ही स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन तत्त्व निरूपण के लिए ही माना जाता है। भारतीय दर्शनों में आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन दोनों समाहित हैं। नास्तिक दर्शन के विषय में प्रायः लोग कहते हैं कि जो ईश्वर को न माने वो नास्तिक दर्शन कहलाता है। परन्तु यह सत्य नहीं है। कहा जाता है कि ''नास्तिको वेदनिन्दकः''। वेद की निंदा करने वाला नास्तिक कहलाता है। अर्थात् जो दर्शन वेद के प्रमाणों को न माने वह नास्तिक दर्शन कहलाता है। इन दर्शनों में विभिन्न प्रकार के दार्शनिक तत्त्वों का वर्णन प्राप्त होता है। जो यह प्रमाणित करता है कि जिसके द्वारा हम सम्पूर्ण दृश्यमाण साधनों को देखते हैं वहीं दर्शन है जैसे कहा भी है ''दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'' इति।

दर्शनशास्त्र में अध्यात्म तत्त्व का निरूपण बहुत ही विशद रूप से किया गया है। दर्शन अध्यात्म का एक ऐसा अंग है जिसके द्वारा मनुष्य वास्तविक यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है अध्यात्म वस्तुतः प्रकृति ईश्वर और उस परात्पर परमेश्वर के द्वारा बनाई गयी सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों के सत्यासत्य ज्ञान को प्रदर्शित करता है। अध्यात्म ज्ञान से मानव जीवन की यथार्थता का ज्ञान होता है। जब यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो मनुष्य जीवन मुक्त हो जाता है।

वैदिक दर्शन में अध्यात्म : वैदिक दर्शन में यहां तात्पर्य है चारों वेदों में निहित तत्त्व ज्ञान। सर्वप्रथम अध्यात्म का विषय है कि इस पृथ्वी पर मानव का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? तो इस सन्दर्भ में शुक्ल यजुर्वेद में उल्लिखित है कि

''ब्राह्मणोस्यमुखभासीत् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरु तद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत्॥''[1]

अर्थात् वेद भगवान् यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि मनुष्य को चार वर्णों के रूप में वेदपुरुष ने ही उत्पन्न की जो कि उस विराट परात्पर पुरुषोत्तम् के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है और बाहू अर्थात् भुजाओं और वक्षस्थल से क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति हुई है तथा कटि प्रदेश से वैश्य और पाद से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। इस कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव परमात्मा का ही एक अंश है।

और परमात्मा ने ही मनुष्य के जीवनयापन के लिए इस अद्भुत संसार की रचना की है। जिसमें विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, पहाड़, नदियां आदि सम्मिलित हैं। इन्हीं प्राकृतिक सुखों को भोगने के पीछे मनुष्य वास्तविक ज्ञान से भटक जाता है। परन्तु ज्ञान तो शाश्वत होता है। जब मनुष्य को अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब मानव अपने वास्तविक जीवन के लक्ष्य को समझ जाता है।

उपनिषद् में अध्यात्म तत्त्व : वस्तुतः उपनिषद् वेदों का ही व्याख्यात्मक स्वरूप है। उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण आत्मा परमात्मा का निरूपण एवं विविध संवादों का वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषद् में अध्यात्म तत्त्व का भी निरूपण बहुत ही विस्तृत रूप से किया गया है। अध्यात्म के विषय में वर्णित है कि-

''अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मख्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः॥[2]

यह केनोपनिषद का वाक्य है। प्रस्तुत वाक्य में यह कहा जा रहा है कि मन ही ब्रह्म को स्वीकार करता है।

इसका कारण है मन ही ब्रह्म का स्मरण करता है। बिना मन के ब्रह्म का चिन्तन नहीं किया जाता है। इस कारण मन ही ब्रह्म का स्वरूप है। इसी प्रकार कठोपनिषद् मे कहा जा रहा है कि–

''विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥''[3]

इसमें यही कहा जा रहा है कि अपने बुद्धि और विवेक से मन ही स्वाधीन करता है और परमात्म पद को प्राप्ति में सहायक होता है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अध्यात्म तत्त्व के विषय में उपनिषदों में बड़ा ही सुन्दर वर्णन व विश्लेषण बड़ा ही स्पष्ट व तथ्यात्मक रूप से किया गया है। उपनिषद् में निहित इन तत्त्वों को अध्यात्म तत्त्व के रूप में हम स्वीकार करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म तत्त्व : श्रीमद्भगवद्गीता भगवान श्रीकृष्ण की वाणी है। जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत सरलता से अध्यात्म तत्त्वों का निरूपण करते हुए ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग का निरूपण किया है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की विचलित बुद्धि को स्थिर करने के लिए बहुत से तात्विक ज्ञान की गंगा को प्रवाहित किया जिस गंगा में आज भी विद्वान गोता लगाते हैं परन्तु उसका पार नहीं पा पाते हैं। अध्यात्म तत्त्व का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि–

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्याच्यमुच्येते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्जितः॥[4]

अर्थात् भगवान कह रहे हैं कि अक्षर ब्रह्म का जो स्वभाव है वही अध्यात्म तत्व है उसी को अध्यात्म की संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण गीता के 13वें अध्याय में भी कहते हैं कि

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एलज्ज्ञानमिति प्रोक्तंमज्ञानं पदतोऽन्यथा॥[5]

नित्य ज्ञान जो होता है वही ज्ञान अध्यात्म ज्ञान कहलाता है। अध्यात्म ज्ञान वह ज्ञान होता है जिसका कभी अन्त नहीं होता है।

शाश्वत ज्ञान ही अध्यात्म ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार से हमने वेद, उपनिषद् और गीता का अवलोकन किया जिसमें अध्यात्म ज्ञान का जो विस्तृत भण्डार था उस भण्डार से कुछ पंक्तियों को लेकर उनका विश्लेषण कर रहे हैं जिससे यह पता चल जाये कि अध्यात्म ज्ञान क्या है?

वस्तुतः अधि उपसर्ग पूर्वक घञ् प्रत्यय सति

अध्यात्म शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ होता है कि आत्मा सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान तो इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अध्यात्म शब्द को ध्यान में रखते हुए हमने अध्यात्म तत्त्व की व्याख्या की है।

अध्यात्म वस्तुतः एक जीवन पद्धति है जिसका ज्ञान करके मनुष्य अच्छी जिन्दगी जीने के योग्य बन जाता है। इस प्रकार जीवन को उपयोगी बनाने के लिए अध्यात्म शास्त्र या अध्यात्म तत्व के ज्ञान का होना अति आवश्यक है। चूंकि जब अध्यात्म ज्ञान से आत्मा प्रकाशित हो जाती है तो कुत्सित कर्म नहीं करता अपितु सबको सत्य के मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय ज्ञान परम्परा जो है उसमें अध्यात्म ज्ञान की ही अधिकता है, क्योंकि भारतीय शास्त्र ऋषि-महर्षि के द्वारा रचित है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध पत्र में शुक्ल यजुर्वेद के पुरुष सूक्त से अध्यात्म सम्बन्धी तत्त्वों का अन्वेषण करते हुए केनोपनिषद् कठोपनिषद् एवं श्रीमद्भगवदगीता में निहित अध्यात्म तत्त्व का प्रतिपादन यहां किया गया है।

एम.ए. दर्शनशास्त्र
नेट
ईमेल - Madhavmahiya@gmail.com

संदर्भ सूची

1. शुक्ल यजुर्वेद पुरुषसूक्त सूत्र 12
2. केनोपनिषद् खण्ड 4/5
3. कठोपनिषद् अध्याय 1 वल्ली 3 मन्त्र सं. 9
4. श्रीमद्भगवद्गीता 8/3
5. वही, 13/11

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कृषि व्यवस्था

मधुलिका सिन्हा

अर्थशास्त्र के रचनाकार कौटिल्य माने जाते हैं। कौटिल्य शास्त्र पारंगत, मंत्र, विद्या, विशेषज्ञ नीति-निपुण राजनीतिज्ञ तथा प्रगाढ़ कूटनीतिज्ञ होने के साथ ही विविध विधाओं के महापंडित और दार्शनिक भी थे। अपनी प्रखर कूटनीति द्वारा आचार्य ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की, वे अत्यन्त निर्लोभी तथा वीतरागी थे। पाटलिपुत्र के महलों में न रह कर वे गंगा तट पर बनी एक साधारण सी कुटिया में रहते थे, और गोबर के उपलों पर अपना भोजन स्वयं तैयार करते थे। चाणक्य के अनेक नाम मिलते हैं यथा वात्स्यायन, मल्लनाग, द्रमिल पक्षिल स्वामी, चाणक्य, विष्णुगुप्त अंगल वराणक और कात्यायन आदि। नीतिसार में इनके आठ नामों का उल्लेख मिलता है।

वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रमिलः पक्षिलः स्वामी वराणकः गुलोऽपि वा॥

अर्थात् वात्स्यायन, मल्लनाग कौटिल्य चाणक्य द्रमिल पक्षिलस्वामी वराणक और गुल। कुछ अन्य ऐतिहासिक स्रोत से पता चलता है कि इनका मूल नाम विष्णुगुप्त था, किन्तु चणक के पुत्र होने से वे चाणक्य कहलाए और कुटिल नीति के प्रवर्त्तक एवं पक्षधर होने के कारण कौटिल्य नाम से अधिक प्रसिद्ध हो गए। अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न आचार्य कौटिल्य ने नन्द वंश का विनाश तथा मौर्य वंश की स्थापना की थी, जिसकी ऐतिहासिकता पर कोई प्रश्न चिन्ह् नहीं लगा सकता है। विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि महाभदन्त राजा तथा उनके नौ पुत्र 100 वर्ष तक पृथ्वी के राजा होंगे। कौटिल्य नामधारी ब्राह्मण उस परंपरागत राज्य के अंतिम राजा (नन्द वंश) का विनाश करेगा। उनके समूल विनाश हो जाने पर मौर्य वंश का प्रथम प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त राज्य करेगा तथा उसका पुत्र बिन्दुसार होगा एवं बिन्दुसार का पुत्र अशोक होगा।[1]

इस संदर्भ से दो बातें स्पष्ट होती है कि मगध के राज्य सिंहासन पर पहले नन्दवंश का अधिपत्य था तथा कौटिल्य के सुदृढ़ कौशल से वह राजसत्ता मौर्यवंश के हाथ में मिली और मौर्यवंश का प्रथम राजा चन्द्रगुप्त अपने गुरु या महा आमात्य कौटिल्य को अपने उपदेशक या प्रबन्धकारिणी समिति का सर्वश्रेष्ठ महामंत्री या व्यवस्थापक के रूप में आदर सत्कार के साथ सम्मानित किया। राजा चन्द्रगुप्त की न्याय-व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, सुरक्षा व्यवस्था इत्यादि को व्यवस्थित करने के लिए उन्होंने एक शास्त्र अथवा ग्रन्थ को प्रस्तुत किया, जो अपने आप में अद्वितीय है, जिसकी प्रासंगिकता हजारों साल बाद आज भी यथावत है। प्रस्तुतः आलेख में उसी अर्थशास्त्र में वर्णित कृषि व्यवस्था एवं भूमि व्यवस्था पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

मानव सभ्यता के विकास के साथ ही कृषि का भी विकास हुआ। वैदिक काल में भी कृषि कार्य सम्बन्धी पर्याप्त विवरण मिलते हैं। उत्तर वैदिक काल में कृषि कार्य और भी सुव्यवस्थित चिन्तन उपलब्ध होता है। उसी परंपरा में कौटिल्य ने राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की विस्तृत चर्चा करते हुए कृषि की भी चर्चा करते है। कौटिल्य ने कृषि के अनुरूप भूमि की आवश्यकता बताते हुए सबसे पहले कृषि के अनुरूप भूमि का वर्णन करते है। जो भी कृषि कार्य के अनुरूप हो, वहीं कृषि किए जाए, जहाँ सिंचाई की व्यवस्था उपलब्ध हो कृषि कार्य जल के बिना संभव नहीं है। कृषि कार्य में लगे कृषक फसल की सिंचाई के लिए नदी, तलाब, गड्ढे, झील के जल को खेत

में लाने के लिए रास्ते का निर्माण किया करते थे जिसके माध्यम से फसल को सींच कर पैदावार किया जाता था। कौटिल्य ने जल से खींचने के बाद अच्छी फसल देने वाले फसल ''धान'' का उल्लेख किया है। धान के आधे से ही तैयार अन्न निकलता है अर्थात् चावल, धान का आधा' ही तैयार होकर निकलता है। -

शालीनाम् श्टभागेनः।

धान जैसे जलीय फसल के लिए जल की आवश्यकता होती है, इसके अतिरिक्त उत्तम बीज, जुताई, बुआई, सिंचाई, कटाई तथा प्राप्त अन्न तक के रख-रखाव तक सारे कार्य के लिए राजा से लेकर कृषक तक मजदूर से लेकर रक्षक तक सबका वर्णन कौटिल्य ने किया है।

कौटिल्य कहते हैं कि 'कृषि दैवाधिना भवति' अर्थात् भारतीय खेती देवताओं के अधीन है क्योंकि देवताओं को प्रसन्न कर कृषि की उपज में वृद्धि किया जाता है। देव प्रसन्न हो कर फसल के लिए अमृत तुल्य वर्षा के जल से फसल को तृप्त कर देते हैं। वर्षाभाव में फसल की उपज असंभव है तथा वर्षा देवानुग्रह से होगी, इस प्रकार दैवाधिन कृषि है।

वर्षा के आधार पर कौटिल्य ने तीन प्रकार की खेती की बात करते हैं।

1. वर्षापूर्व खेती
2. वर्षामध्य खेती
3. वर्षान्त खेती

1. वर्षापूर्व खेती - वे फसल जिनके जीवनकाल के बीच में जल की आवश्यकता होती है वैसी फसल की खुती करने के लिए वर्षा पूर्व ही बो देना चाहिए।

शालिव्रीहिको द्रवतिलप्रियङगदारक वरकाः पूर्व वापाः।[2]

धान, गेहूँ, जौ, ज्वार कोदो, तिल इत्यादि फसल वर्षा के पूर्व ही लगाया जाता हैं क्योंकि उनको जीवनकाल के मध्य में वर्षाजल की आवश्यकता होती है।

2. वर्षा मध्य खेती :- आचार्य कौटिल्य के मतानुसार कुछ वैसी भी फसलें उगाई जाती है जिन्हें वर्षा के मध्य में बोया जाता है, वे फसल मूँग, उड़द, घीमा आदि है। इस फसल को लगाने में पर्याप्त जल लगता है।

मुदगमाषशैम्व्या मध्यवापाः।[3]

3. वर्षान्त खेती : वर्षा ऋतु के अन्त में जो फसल बोई जाए उसे वर्षान्त फसल कहते हैं जिसके लिए आचार्य कौटिल्य ने अपने दूरदर्शिता के आधार पर वर्षान्त फसल का भी वर्णन करते हुए अर्थशास्त्र में कहते हैं :-

कुसुम्भ मसूरकुलत्थयवगोधूमकला-यातसीसर्षपाः पश्चाद्वापोः।।

इन सभी फसलों के लिए जल की आवश्यकता नहीं परन्तु खेत में नमी रहनी जरूरी है जिसके कारण इन्हें वर्षान्त बोने के समय निर्धारित किया गया है। वे फसल कुसुंबी, मसूर, कुत्थी जौ, गेहूँ, मटर, अलसी तथा सरसों इत्यादि है।

कौटिल्य ने फसलों के बोने के समय को निर्धारित करने के बाद उसके बोने के तरीकों को भी बताते हैं जैसे-धान की फसल को बोने से सात दिन पहले ओस में रखे उसके बाद बोये। मूँग, उड़द आदि के बीजों के तीन दिन तक ओस में रखें इसके बाद बोने का निर्देश किया गया है जिसके कारण उनके अंकुरण में कोई समस्या न हो।

कौटिल्य ने यह भी बताया है कि जो फसल उत्तम श्रेणी की है, जिनका पौधा पुष्ट हो उसे ही बीज के रूप में रखे। पुष्ट एवं निरोगी फसलों के संदर्भ में कृषक को स्पष्ट रूप से बताया गया था कि वैसी फसल को अन्न के रूप में भोजन में व्यवहार न करें।

राजा का कर्त्तव्य था कि वह वैसे कृषक को पुरस्कृत कर प्रोत्साहित करे तथा अच्छी फसल उगाने में उन्हें खाद एवं उचित जरूरी सहायता समय समय पर उपलब्ध कराएं।

कृषक कोई भी फसल बोने के पूर्व कृषक का दायित्व था कि फसलानुरूप मिट्टी की तैयारी करें। वहां के खरपतवार की सफाई एवं जलीय पौधों के लिए वैसी मिट्टी जिसमें पौधे के विचरा को आसानी से धँसा दिए जाए को तैयार करें।

कौटिल्य कृषि व्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए कृषि विभाग की स्थापना किए थे जिसका स्वामी या अध्यक्ष - ''सीताध्यक्ष'' होता था। आचार्य कौटिल्य ने सीताध्यक्ष की योग्यता पर भी ध्यान दिया है।

सीताध्यक्षः कृषितन्त्रशुल्ब वृक्षायुवेदज्ञस्तज्ज्ञसखो वा।[5]

आचार्य कौटिल्य ने उत्तमोत्तम् समयोचित सिंचाई के लिए प्रमुख साधन नदियों, तलाबों, सरोवरों कुओं झीलों तथा गड्ढ़ों में वर्षा के एकत्रित जल से पौधों की सिंचाई की जाए ऐसा निर्देशन किया है। बाँध के विषय में राजा का

कर्त्तव्य एवं कृषक वर्गों के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि राजा बाँध के लिए भूमि लकड़ी, जल मार्ग एवं बाँधने वालों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ वर्षों तक ''कर'' माँफ करें। इसका मतलब यह है कि सूखा एवं बाढ़ संकट उस समय भी आते था। जब यह संकट आ जाए तब राजा कृषकों की रक्षा करें एवं अगले वर्ष खेती के लिए बीज एवं जरूरी सामग्री कृषक को दे तथा उसे कृषि करने के लिए प्रोत्साहित करें। खेत की रक्षा के लिए रखवार की नियुक्ति हो तथा उसे उचित पारिश्रमिक भी दिया जाए। गिरे हुए फल देवकार्य के लिए रखे जाए। नए अन्न को इष्ट देवता को भोग लगाने या समर्पित करने के बाद ही ग्रहण किया जाए। अन्न के भण्डारण के लिए भी पूरी व्यवस्थित प्रावधान कौटिल्य ने बताएं है।

इस तरह कहा जा सकता है कि मानव जीवन के लिए भोजन वस्त्र और आवास की आवश्यकता है। भोजन के लिए अन्न कृषि से ही प्राप्त होता है, इसलिए भारत में आदिकाल से सरकार की प्राथमिकताएँ कृषि रही है।

नेट/जे.आर.एफ., इतिहास
पटना विश्वविद्यालय, पटना
बिहार

संदर्भ-सूची

1. महाभदन्तः तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति, नवैव। तान्नन्दात कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथ्वी भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति। तस्यापि पुत्रो बिन्दुसारों भविष्यति तस्याप्यशोकवर्धन : ।। विष्णु पुराण
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र - अधिकरण - 2, प्रकरण - 33, अध्याय - 24
3. कौटिल्य अर्थशास्त्र : अधिकरण - 2 प्रकरण - 40, अध्याय - 24
4. कौटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण - 2 प्रकरण - 40, अध्याय - 24
5. वही

वेदान्त दर्शन का उद्‌भव और विकास

डॉ. संजय कुमार पांडेय

'वेदान्त' पद से ज्ञेय साहित्य मूलत: उपनिषद् साहित्य है। उपनिषद साहित्य वेदाश्रयी होने के कारण उसमें प्रतिपाद्य तथ्यों का अनुसंधान मन्त्र-संहिता ब्राह्मणादि भागों में किया जाता है। अत: वेद के रहस्य का प्रतिपादक एवं वैदिक साहित्य का अंतिम प्रतिनिधि होने से वेदान्त ''अभिधान' प्रस्तुत विचार क्रम को प्राप्त हुआ।[1] पद प्रयोग से सामान्यत: ग्रहण किया जाता है कि यह एक ही प्रकार की चिन्तन धारा है। षड्दर्शन विवेचन में भी एक दर्शन प्रस्थान के रूप में 'वेदान्त' है। ब्रह्मसूत्र 'वेदान्त दर्शन' का सर्वाधिक चर्चित एवं महान ग्रन्थ है। इसमें 555 सूत्र हैं। इसमें उपनिषद् साहित्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त संकलन है। संन्यासियों के लिए उपयोगी होने के कारण ''भिक्षु सूत्र' भी कहा जाता है।

चार अध्याय के इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय-समन्वयाध्याय है। इसमें सम्पूर्ण उपनिषद् वाक्यों का साक्षात् अथवा परम्पराया ब्रह्म में ही तात्पर्य निरूपित किया गया है। दूसरा 'अविरोधाध्याय है। इसमें श्रुति, स्मृति आदि के विरोध का परिहार करके ''ब्रह्म'' से उनकी अनुकूलता प्रतिपादित है। तृतीय अध्याय ''साधन-परक है। इसमें परलोकगमन तत्त्वपदार्थ विवेचन, सगुण निर्गुणसाधन का निरूपण है। 'फलाध्याय' नामक चतुर्थ अध्याय है। सगुण एवं निर्गुण विद्या के फलों का पूर्ण विवेचन है। ब्रह्मसूत्र के सूत्रकार बादरायण, आश्मरथ्य, आत्रेय, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिन तथा जैमिनि आदि आचार्यों का उल्लेख किया हैं शाण्डिल्यभक्ति सूत्र में काश्यप के मत का उल्लेख है। उपरोक्त सभी आचार्य सम्भवत: सूत्रकार के रूप में ही प्रतिष्ठित रहे होंगे।[3]

अद्वैतवाद :- भारतीय दर्शन की आदर्शवादी परम्परा को गौड़पाद के उपरान्त शंकर ने अपने अधिक शक्ति प्रदान की। शंकर अद्वितीय प्रतिभा के धनी हैं। कोई भी विचारक बिना उनसे प्रभावित हुए नहीं रह सका। शंकराचार्य ने भाष्य रचनाओं के अतिरिक्त पद्यात्मक स्तुतिपरक ग्रन्थ भी लिखे है। ब्रह्मसूत्र पर 'शारीरिक भाष्य' की रचना करने वाले शंकरचार्य 'अद्वैतवाद' के प्रवर्त्तक है। 'अद्धैतवाद' का मूल मन्त्र है - 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या'।

जिस प्रकार शून्यवादी बौद्धों ने शून्य को चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त माना है वैसे ही शंकर ने ब्रह्म के एकमात्र अंतिम सत्य माना है। परमार्थत: सत्ता केवल ब्रह्म का ही है। सारा जगत इसी पर आधारित है। शंकर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही पद् प्रतिपाद्य है। आचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझने के लिए दो प्रकार के लक्षण आये हैं। स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण। यदि किसी वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को समझना हो, तो उसके अनवच्छिन्न एवं अविभाज्य रूप को द्योतित करने वाले प्रयोग उस वस्तु के स्वरूप विश्लेषण संकेत हैं। जो आगन्तकु गुणों को संसूचित करते हैं वे तटस्थ लक्षण है। इस प्रकार उभयविद्य लक्षण स्वीकार करके शंकर ने उस समस्त श्रुति-वाक्यों का समाधान खोज लिया है जो प्रयत्न करने पर भी ब्रह्म की अनन्य स्थिति का प्रतिपादन नहीं कर पाते।

''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।[4] माया के द्वारा आवृत्त होने पर उक्त ब्रह्म ईश्वर या सविशेष रूप प्राप्त करता है उपनिषद् का अनुसरण करते हुए ब्रह्म और ईश्वर का यही भेद स्वीकार किया गया है। अपर ब्रह्म भी इसी को कहा जाता है।[5] विश्व का आधार

नहीं तत्त्व है। यद्यपि यह तत्त्व आत्यान्तिक नहीं है पारमार्थिक भी नहीं है। किन्तु उसकी अवास्तविकता भी तभी समझी जा सकती है जबकि प्रातिमासिक स्तर से मुक्त होकर साध क तुरीय अवस्था की ओर उन्मुख हो सके। सृष्टि की हेतु भी यही है।

भेदाभेदवाद: शंकर के उपरान्त प्रचलित होने वाले अपेक्षाकृत यथार्थवादी मतों में भास्कर का ग्रन्थ साम्प्रदायिक नहीं है। न तो वह शंकर का समर्थन करता है और न ही पांचरात्र संहिताओं में वर्णित विष्णु-तन्त्र का।[6] वेदान्त दर्शन के विकास क्रम को शंकर से रामानुज तक आने का मार्ग भास्कर द्वारा प्रशस्त किया गया। उक्त मत के संक्रमण काल का प्रतिनिधित्व भास्कर के मत में मिलता है।[7] भास्कर और यादव प्रकाश अद्वैत वेदान्त के प्रथम विरोधी तथा अन्य वेदान्त सम्प्रदाय के उपमतों के प्रेरक आचार्य हैं निम्बार्क का स्वाभाविक भेदाभेद चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेद स्पष्ट रूप से इनके प्रभाव को व्यक्त करता है। विशिष्टाद्वैत मत में भी यादव प्रकाश को पूर्वाचार्य माना गया है। **8**

भास्कर के भेद और अभेद का आधार ब्रह्म का स्वरूप ही है। ब्रह्म अनन्त शक्तिसम्पन्न है। अपनी इसी शक्ति के कारण वह अपने आपको तीन रूपों में परिवर्त्तित करता है। उसकी यह बहुलता ''एकोऽहं बहुस्याम् की कामना के कारण है। कारणात्मिका अवस्था में अभिन्न तथा कार्य की अवस्था में वह भिन्न है।**9** जिस प्रकार दुग्ध का दही में परिवर्त्तन होता है वैसे ही ब्रह्म का परिणाम होता है। इच्छा, ज्ञान एवं अपनी सर्वशक्तिमत्ता से यह परिवर्त्तन सम्भव होता है। वह खण्डरहितं है जगत् और जीव के रूप में परिवर्त्तन होने पर भी उसमें किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं आती।

ब्रह्म की भोक्तृशक्ति का परिणाम जीव है। किन्तु शंकर के समान यह उससे अभिन्न न होकर भिन्न है। क्योंकि परिणाम अथवा कार्य के रूप में प्राप्त यह सभी से भिन्न है।

जगत् भी ब्रह्म से भिन्न है तथा वे दोनों एक दूसरे से भिन्न है। जैसे अग्नि की दाहकता तथा प्रकाशकता दोनों परस्पर भिन्न है किन्तु कारण रूपा अग्नि एक ही है। ब्रह्म की योग्य शक्ति का परिणाम जगत् है। ब्रह्म के परिणाम के रूप में जगत् को मानने के मूल में स्म्भवत: उसकी आध्यात्मिक स्थिति प्रमाणित करता है। जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है वैसे ही ब्रह्म में जगत् भी विलीन हो जाता है।[10]

विशिष्टाद्वैतवाद- वैष्णव सम्प्रदान परम्परा एवं आधार की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में विष्णु का स्वरूप वर्णित है। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त इस दर्शन का आधार है। इस मत में भगवान से विष्णु का एकत्व मानता है। पांचरात्र संहिताओं के वर्ग को भी सभी वैष्णव मत के विद्वान विश्वसनीय आधार मानते हैं। इस ग्रन्थ राशि के उपरान्त दक्षिण भारत के आलवार सन्तों का योगदान अत्यन्त महनीय है। रामानुज का व्यक्तित्व वैष्णव मत के आचार्य में सर्वाधिक प्रभावशाली एवं वैदुष्यपूर्ण है। इनका समय 1036 से 1136 ई. है। इन्होंने वेदार्थसंग्रह, वेदान्तसार, गद्यत्रय गीता-भाष्य तथा श्रीभाष्य की रचना की रामानुज के गुरु यादवप्रकाश ने ब्रह्म परिणाम वाद की स्थापना करते हुए उस सूत्र पर स्वतंत्र भाष्य लिखा था। रामानुज ने पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में अधिक संयत तथा दार्शनिक दृष्टि ग्रहण की है। उन्होंने वैष्णव संतों के विचारों को लेकर उपनिषद गीता तथा ब्रह्मसूत्र के माध्यम से अपने ग्रन्थों में नवीन मत का निर्माण किया।[11]

रामानुज विशिष्ट-अद्वैत के समर्थक है। ब्रह्म विशेष्य है तथा विशेषण इसमें आश्रित है। चित् (जीव) तथा अचित् (जड़) विशेषण हैं ब्रह्म विशष्य। इन दोनों का 'ब्रह्म' आश्रयदाता धारणकर्त्ता तथा नियामक है।[12] जीव और प्रकृति की आत्मा ईश्वर है। उक्त दोनों उसके शरीर है। आत्मा के द्वारा शरीर नियमित: धारण विधेयन तथा उपभोग करने योग्य है तथा वह शेष है।[13]

रामानुज का ब्रह्म विशेषण युक्त है। उसकी विशेषण युक्तता इसलिए ग्रहण की गई कि जीव और जड़ का भी व्यक्तिश: आत्यान्तिक रूप में सिद्धि हो सकें। ब्रह्म का अंश होने पर ही जीवात्मा सत्य हैं। यह शरीर, इन्द्रिय प्राण तथा मन से भिन्न है। ज्ञाता कर्त्ता एवं भोक्ता है। बाह्य शरीर प्राण ज्ञानेन्द्रिय से संयुक्त आत्मा के बोध का माध्यम मन है। आत्मा अपने स्वरूप का अपने आप प्रकाशक है। जीव तीन प्रकार के हैं। नित्य मुक्त तथा बुद्ध। कर्म और प्रकृति से मुक्त वैकुण्ड निवासी जीव नित्य हैं। अज्ञान के बन्धन से भी प्राप्त कर लेने वाले मुक्त जीव हैं तथा जो अज्ञान से बद्ध हैं उनको बद्ध कहा गया है। बद्ध जीवों को भी चार रूपों में विभाजित किया गया है। देव, मानव, पशु तथा स्थावर। यद्यपि सभी जीवात्माओं में किसी भी प्रकार का

तात्विक भेद नहीं है, तथापि प्रतीयमान भेद केवल शरीरकृत ही है।

द्वैताद्वैतवाद :- निम्बार्क का जन्म बेलारी जिले के निम्बपुर के तेलुगु ब्राह्मण परिवार में हुआ था उनके पिता का नाम जगन्नाथ तथा माता का नाम सरस्वती था। निम्बार्क का समय चौदहवीं सदी का अन्त अथवा पन्द्रहवीं सदी का प्रारम्भ माना जाता है। ब्रह्मसूत्र पर निम्बार्क ने वेदान्तपरिजात-सौरभ नामक भाष्य की रचना की निम्बार्क के सामने उक्त सभी आचार्यों द्वारा स्थापित विचारधाराऐं थी बिना बहुत अधिक मौलिकता का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने अपने मत की स्थापना की। अपने मत के इन पूर्वाचार्यो से मत ग्रहण करने पर भी रामानुज तथा शंकर समान इन्होंने कहीं भी इनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित नहीं की है।

निम्बार्क मत में श्रीकृष्ण को ब्रह्म तथा राधा को आज्ञा सहधर्मिणी माना है। वह स्वभावत: सभी प्रकार के दोषों से सर्वथा पृथक है कल्याण एवं गुण के अनन्त भण्डार तथा चार व्यूह के रूप में स्वयं को प्रकट करते है।[14]

शंकर के निर्गुण ब्रह्म के विपरीत निम्बार्क ने ब्रह्म को सगुण अथवा सविशेष माना है। शास्त्रीय उल्लेखों के द्वारा उसमें ज्ञान एवं क्रिया है। रामानुज एवं शंकर के समान निम्बार्क जीव को ज्ञानस्वरूप मानते हैं। किन्तु निम्बार्क के जीव की ज्ञानस्वरूपता शंकर के मत से भिन्न है। इन्द्रियों की सहायता के बिना भी वह ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। वह अपनी तुलना से अत्यधिक महान तत्त्व, ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के अधीन है। शरीर से जीव का ही संयोग और वियोग होता है। प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् रहने वाला यह अणु परिणामी अनन्त और ज्ञाता है।[15]

अचेतन तीन प्रकार का अप्राकृत, प्राकृत तथा काल है। इसी को उपनिषद् साहित्य में माया तथा प्रधान आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।[16]

शुद्धाद्वैत : जनश्रुति के अनुसार विष्णुस्वामी इस मत के संस्थापक आचार्य हैं। वल्लभ ने इसे पुन: सुदृढ़ किया था। वल्लभ दक्षिण भारत के तेलुगु ब्राह्मण थे। उनके पिता लक्ष्मणभट्ट, प्रपिता गणपति भट्ट तथा प्रपितामह गंगाधर भट्ट थे। यह सोमयात्रियों का प्रसिद्ध परिवार था। कहा जाता है कि वल्लभ ने चौरासी ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से साठ के लगभग प्राप्य है।[17] वल्लभ का मत शुद्धाद्वैत के नाम से वेदान्त-परम्परा में विख्यात है। शंकर के विपरीत वल्लभ ब्रह्म को माया के सम्बन्ध से पृथक् मानते हुए उसे ही कारण एवं कार्य रूप में मानते हैं। माया साहित्य ही ब्रह्म की शुद्धता है। अत: अपने मत का नाम करण, उस शुद्ध-रूप अद्वैत के आधार पर किया।[18]

द्वैतवाद : शंकराचार्य के 'अद्वैतवाद' के विरुद्ध मध्वाचार्य ने 'द्वैतवाद'' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ''ब्रह्मसूत्र पर इनका भाष्य ''पूर्णप्रज्ञा के नाम से जाना जाता है। मध्वाचार्य ने अपने दर्शन को तत्त्ववाद या यथार्थवाद कहा है। इनके मतानुसार तत्त्व दो प्रकार के हैं-स्वतन्त्र और परतन्त्र। इसमें स्वतन्त्र यथार्थ सत्ता एकमात्र ब्रह्मा है जो सर्वोच्च सत् है। समस्त ब्रह्माण्ड का निरपेक्ष-स्रष्टा और श्रुतिगम्य है। ''द्वैतवाद' के अनुसार ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है क्योंकि उपादान कारण परिणामी होता है और ईश्वर सदा अविकारी है, यदि ईश्वर को उपादान कारण मानेंगे तो उसे परिणामशील होना पड़ेगा जबकि वह अपरिणामी है।

अचिन्त्य भेदाभेद : भक्ति को आधार बनाकर अपनी स्थिति निर्मित करने वाली परम्पराओं में चैतन्य अत्यधिक भावविह्वल भक्त के रूप में विख्यात हैं। चैतन्य ने यद्यपि किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की किन्तु उनको उक्त मत का प्रवर्त्तक माना गया है। इसी परम्परा के अन्य परवर्ती विचारक स्वयं को मध्व से सम्बद्ध स्वीकार करते हैं। दक्षिण भारत के लेखक एवं विचारकों ने भक्ति को कभी इतना मस्त्व नहीं दिया जितना की चैतन्य ने।[19]

चैतन्य के पहले अद्वैताचार्य नामक व्यक्ति के द्वारा श्रद्धा और स्नेह के सिद्धान्त का प्रसार किया गया था। यह भी कहा जाता है कि वहीं चैतन्य का दार्शनिक गुरु था। माध्व मतानुयायी विद्वान् चैतन्य की अपनी विचार-सरणि का अनुयायी मानते हैं।[20] किन्तु इस मत का भावपूर्ण संस्थापन चैतन्य के द्वारा ही किया गया। विषय-विस्तार के भय से मतों को संक्षित में वर्णन किया है जिससे विभिन्न धाराओं के उद्गम विकास की समझ सकते हैं।

सहायक शिक्षक
नेशनल इंटर विद्यालय,
वारिसलीगंज, नवादा, बिहार

सन्दर्भ सूची

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/22
   महानारायणोपनिषद् 10/8.

2. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन पृ. 402
3. ब्रह्मसूत्र, 1/2/30, 1/2/29, 1/4/20, 3/4/44
4. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन पृ. 420
5. छान्दोग्य उपनिषद् 6/1/2, मुण्डक उपनिषद 3/1/3 प्रश्न उपनिषद् 6/3/4
6. डॉ. राधाकृष्णन् इंडियन फिलॉसफी, भाग-2 पृ.- 670
7. पी.एन. श्रीनिवासाचारी, द फिलासफी ऑफ भेदाभेद पृ.-7
8. सूत्राभिप्राय संवृत्त्या स्वाभिप्राय प्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये।।
ब्रह्मसूत्रभाष्य, भास्कर, भूमिका
9. कार्यरूपेण नानात्वं अभेद : कारणात्मना।
ब्रह्मसूत्र भाष्य, भास्कर. 1/1/4
10. ब्रह्मसूत्र भाष्य भास्कर, 2/2/11
11. Dr. S.N. Dasgupta - A History of Indian Philosophy, Vol-III P. 482
12. सर्वपरमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य धार्य तच्छैषतैकस्वरूपमिति सर्व चेतनं चेतर्न शरीरम्।
रामानुज श्रीभाष्य 2/1/9
13. नियमेन आधेयत्वम् नियमेन विधेयत्वम् नियमेन शैषत्वम्।
रामानुज श्री भाष्य 2/1/9
14. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष शेष कल्याण गुणैकराशिम्।
व्यूहांगितं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेय कृष्ण कमलेक्षणं हरिभ् 41 निम्बार्क दशश्लोकी।
15. ज्ञानस्वरूपं हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्। अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहु।।
निम्बार्क दशश्लोकी
16. अप्राकृतं प्राकृत रूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
माया प्रधानांदिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्त्व समेऽपि तत्र।।
दशश्लोकी (1/1/1 वेदान्तकौस्तुभ।। 3
17. आफ्रेक्ट्स - केटेलोगस केटेलोगोरम
18. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यतं बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न माप्यिकम् ।। 28।
शुद्धाद्वैत मतिण्ड।
19. डॉ. एस. राधाकृष्णन् इंडियन फिलासफी भाग. 2 पृ. 760
20. डॉ. आर. जी. भण्डारकर - वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ. - 122.

डॉ. अंजुला सिन्हा

बाल्यावस्था में ऋतुओं के अनुसार आहारचर्या

अनेक काम हम परम्परा एवं आदत के कारण करते हैं। आहार सम्बन्धित आदतें भी इनमें से एक है। बच्चों में एक बार जो आदत बन जाती है वहीं सांस्कृतिक विरासत के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है। इसलिए भोजन सम्बन्धित आदतें बच्चों में प्रारंभिक अवस्था में ही डालनी चाहिए, जो बच्चों के जीवन के लिए महत्वपूर्ण है।

आहार सम्बन्धी आदतों के निर्माण में दो तत्व विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

1. यह की स्थानीय रूप से क्या उपलब्ध है।
2. परिवार में क्या खाया जाता रहा है।

पोषक तत्व सम्बन्धित आवश्यकताएँ

बच्चा स्वस्थ्य एवं विकसित तब हो पाता है जब उसका आहार उसके शारीरिक आवश्यकता के अनुसार हो। इसलिए इस आयु में सभी पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है।

बाल्यावस्था में पोषकीय आवश्यकता	
पोषक तत्व	**आवश्यक मात्रा**
कैलोरी (कि.कैलोरी)	1500
प्रोटीन (ग्राम)	22
कैल्शियम (ग्राम)	0.4-0.5
लौह तत्व (मि.ग्रा.)	15-20
विटामिन 'ए' (माइकोग्राम)	300
कैरोटीन (माइकोग्राम)	1200
विटामिन 'सी' (मि.ग्रा.)	30-50
थाइमिन (मि.ग्रा.)	0.8
राइबोफलोविन (मि.ग्रा.)	0.8
निकोटिनिक एसिड (मि.ग्रा.)	10
फोलिक एसिड (माइक्रोग्राम)	50-100
विटामिन 'बी' (माइक्रोग्राम)	0.5-1.0
विटामिन 'डी' (माइक्रोग्राम)	200
मैगनीशियम (मि.ग्रा.)	200

बाल्यावस्था में आहरीय आवश्यकता ग्राम में		
भोज्य पदार्थ	**शाकाहारी**	**माँसाहारी**
अनाज	200	200
दालें	60	50
हरी पत्तियाँ वाली सब्जी	75	75
अन्य सब्जी कंद-मूल	50	50
फल	50	50
दुध	250	200
वसा एवं तेल	25	25
मांस, मछली, अंडे	-	30
शक्कर एवं गुड़	40	40

अध्ययन का उद्देश्य

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाल्यावस्था में शिशु का विकास अन्य अवस्थाओं की तुलना में तीव्र गति से होता है, इसलिए बच्चों के भोजन के सम्बन्ध में विशेष रूप से

ध्यान देने की आवश्यकता है।

क्षुधा संतुष्टि के लिए मनुष्य आहार का उपयोग करता है। परन्तु आहार का उपयोग करने का उद्देश्य केवल क्षुधा संतुष्टि ही नहीं बल्कि इसका प्रमुख लक्ष्य शरीर को पूर्णत: स्वस्थ, निरोग एवं पुष्ट बनाये रखना होता है। आहार की मात्रा पर जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है। ठंडे देशों के निवासियों को गर्म देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक भोजन चाहिए, क्योंकि ठंडे देशों में गर्म देशों की अपेक्षा ताप का उपयोग अधिक होता है। इसी प्रकार गर्मी के मौसम में भूख कम लगती है तथा शरीर का भार कम हो जाता है, परन्तु सर्दियों में अधिक भूख लगने के कारण अधिक भोजन किया जाता है तथा शरीर का भार बढ़ जाता है।

मौसम के अनुसार भोजन में परिवर्तन कर आहार लेने वाले लोग सर्वथा स्वस्थ और प्रसन्नचित रहते हैं, उन्हें बीमार होने का भय नहीं रहता है।

1. शिशिर ऋतु (जनवरी से मार्च) : -

इस मौसम में घी, दुध, सेंधा नमक, मूंग दाल की खिचड़ी, अदरक व कुछ गरम प्रकृति का भोजन करना चाहिए। कड़वे, तिक्त, चटपटे, ठंडी प्रकृति के व वादीकारक भोजन से परहेज करें।

2. वसंत ऋतु (मार्च से मई) :-

इस मौसम में जौ, चना, ज्वार, गेहूँ, चावल, मूंग, अरहर, मसूर की दालें, बैंगन, मूली, बथुआ, परवल, तोरई, करेला, अदरक, सब्जियाँ, केला, खीरा, संतरा, शहतूत, हिंग, मेथी, जीरा, हल्दी, आँवला आदि कफनाशक पदार्थ का सेवन करना चाहिए।

गन्ना, आलू, भैंस का दूध, उड़द, सिंघाड़ा, खिचड़ी व बहुत ठंडे पदार्थ, खट्टे-मीठे, चिकने पदार्थों का सेवन हानिकारक है। यह कफ में वृद्धि करता है।

3. ग्रीष्म ऋतु (जून से जुलाई) : -

पुराना गेहूँ, जौ, सतु ,भात, खीर, दूध, ठंडे पदार्थ, कच्चे आम का पन्ना, बथुआ, करेला, परवल, ककड़ी, तरबूज आदि का सेबन वाँछनीय होता है।

तिक्त, नमकीन, चटपटे, गरम व रूखे पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

4. वर्षा ऋतु (अगस्त से सितम्बर) :

पुराना चावल, पुराना गेहूँ, खीर, दही, खिचड़ी व हल्के पदार्थों का सेवन करना चाहिए। बरसात में पाचन शक्ति कमजोर रहती है इसलिए कम मात्रा में भोजन करने से शरीर स्वस्थ्य रहना है।

5. शरद ऋतु (अक्टूबर से नवम्बर) : -

शीत ऋतु में जठराग्नि प्रबल होती है। खाया हुआ आसानी से पच जाता है। गरिष्ठ भोजन भी पचकर शरीर को शक्ति प्रदान करता है।

गर्म दूध, घी, गुड़, मिश्री, चीनी, खीर, जलेबी, आँवला, नींबू, जामुन, अनार, नारियल, मुनक्का, गोभी तथा शक्ति प्रदान करने वाले पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

6. हेमंत ऋतु (दिसम्बर से जनवरी) : -

सभी प्रकार के आयुवैदिक रसायन बाजीकारक पदार्थ, दूध खोये से बने पदार्थ, आलू, जलेबी, नया चावल, छाछ, अनार, तिल, जिमीकन्द, बथुआ, अनार तथा जो भी सेहत बनाने वाले पदार्थ हों लेना चाहिए। वैसे भी शीत ऋतु सेहत बनाने के लिए सर्वोत्तम मानी गयी है।

परिकल्पणा

परिकल्पणा एक ऐसी मान्यता होती है, जिसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए उसका परीक्षण किया जा सकता है। किसी भी विषयों से सम्बन्धित तथ्यों का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करने के दौरान विभिन्न समस्याओं का केन्द्र में रख कर उस पर परिकल्पना तैयार की जाती है, जिससे की अध्ययन वस्तुनिष्ठ एवं शोध परक हो।

उपलब्ध साहित्य का अवलोकन

प्रस्तुत अध्ययन बाल्यावस्था में ऋतुओं के अनुसार आहारचर्या पर आधारित है। इस अध्ययन के माध्यम से बाल्यावस्था में बच्चों का खान-पान ऋतु के अनुसार किया हो इस बात की जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की गई है। यह विषय हमारे सामाजिक परिवेश के आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अध्ययन के लिए चुना गया है। इस विषय पर अध्ययन कर हम बच्चों में फैल रहे कुपोषण और ऋतु सम्बन्धी बीमारियों, विकृतियों आदि का पता कर सकते हैं। ऋतु के अनुसार बाल्यावस्था में आहारचर्या को

दो बातें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। व्यक्ति को स्थानीय रूप से क्या उपलब्ध है, दूसरा उसके परिवार की आर्थिक स्थिति क्या है और उसके परिवार में क्या किया जा रहा है। जिन बालकों की आहारचर्या समयानुकुल नहीं होती है, वे निर्बल, क्षीण हो जाते हैं उन्हें तरह-तरह की बीमारियाँ जैसे- सर्दी-जुकाम, निमोनिया, स्कर्ती, खसरा, चिकनपॉक्स, खाँसी आदि होने का भय बना रहता है।

गृह विज्ञान विभाग
महाबोधि महाविद्यालय नालन्दा

संदर्भ ग्रंथ

1. वर्मा एण्ड पाण्डेय - पोषण एवं आहार विज्ञान
2. Raja Ram Dasgupta, Nutritional Planing in India, Navrang, New Delhi - 1989
3. Kilauder, Nutrition for Health, Maple Press Company, Newyork, London
4. श्रीमति भुपिन्द्रा गौर वक्सी- आहार एवं पोषण विज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा - 2004
5. जी. पी. शेरी - पोषण एवं आहार विज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा 1992
6. गीता पुष्प शॉ, जाँयस शीला शॉ व्यवहारिक आहार विज्ञान एवं आहार चिकित्सा, विनोद मंदिर 1995

तण्हा (तृष्णा)

श्रीमति रेणु कुमारी

बौद्ध धर्म एवं दर्शन का मूल्य उद्देश्य है जीवन से मुक्ति, क्योंकि यह जीवन दु:खमय है। भगवान बुद्ध ने यह उपदेश दिया है कि यह जीवन दु:खमय है। भगवान बुद्ध ने यह उपदेश दिया है कि यह जीवन दु:खों से व्याप्त है। बार-बार जन्म लेना तथा मरना भी दु:ख है। अत: इस जीवन से विमुक्त होना ही परम लाभ है। अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति कर आवागमण से रहित होना ही जीवन का मूल उद्देश्य होना चाहिए।

द्वितीय आर्य सत्य में बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए दु:ख के कारणों (दु:ख समुदाय) की समीक्षा की है तथा यह प्रमाणित किया है कि तण्हा (तृष्णा) ही दु:ख का मूल कारण है:-

''इदं खोयन भिक्खवे दुक्ख समुदयं अरिय सच्यं/योगं तण्हा पोनब्भाविका नान्दिराग सहगता तत्र तत्र मिनन्दिनी सेयमीदं कामतण्हा, भव तण्हा, बिभव तण्हा।'' दु:ख की उत्पत्ति का मूल कारण है तृष्णा 'तृष्णा' शब्द का निर्माण (तृष+न+टाप् किच्चके) योग से दुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है प्यास, इच्छा, लालच, लोभ, लिप्सा आदि। वस्तुत: तृष्णा मानव मन की एक वृति है। भगवान ने धम्मपद में कहा है- मकड़ी जिस प्रकार अपने ही जाल बुनती है और अपने ही उसी में बँधी रहती है, संसार के जीवों की दशा ठीक बैसे ही है।

ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं,
सयंक तं मक्कटको वा जालं।
एतम्पि छेत्वान बजन्ति घीरा,
अपनेक्खिनों सब्बदुक्खं पहाय।।

तृष्णा बहुत बड़ा पाश (बन्धन) है जो मनुष्य को दृढ़ रस्सी के समान बाँधे रहती है। बुद्धिमान मनुष्य लोहे, लकड़ी या रस्सी के बंधन को दृढ़ बन्धन नहीं मानते। वस्तुत: दृढ़ बन्धन है, मणि, कुंडल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का होना-

न तं दलहं बन्धनमाहु धीरा,
यदायसं दारूजपब्बजअंच।
सारत्तरत्ता मणि कुण्डलेसु,
पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा।।

तृष्णा वासना है जो नाना प्रकार के विषयों में राग उत्पन्न करते हैं तथा इसी राग के बंधन में जो स्वयं का उत्पन्न किया हुआ है अपने को बाँध कर सदा बंधन का कष्ट उठाते हैं। तृष्णा के लक्ष्णों का बर्णन करते हुए कहा गया है-

मनुजस्स पमत्त चारिनो,
तण्हा बड्ढति मालुवाविय।
सो प्लवती हुराहुरं,
फल मिच्छंव वनस्मिवानरो।।

तृष्णा वृद्धि की कोई सीमा नहीं है। एक इच्छा (तृष्णा) के उत्पन्न होने तथा उसकी पूर्ति होने के पश्चात् दूसरी तृष्णा (इच्छा) उत्पन्न होती है और दूसरी के पश्चात् तीसरी। इस प्रकार इच्छाएँ (तृष्णायें) अनन्त हैं। इसकी कोई सीमा नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि प्रमत्र होकर आचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता की तरह बढ़ती है, वन में फल की इच्छा से कूद फाँद करते वानर की तरह मनुष्य जन्म-जन्मान्तर में भटकता रहता है। पुन: कहा गया है-

यं एसा सहते जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिका सोका

तस्स पवड्ढन्ति, अभिवट्ठंव बीरणं।

यह विष रूपी नीच तृष्णा जिसे अभिभूत कर देती है, उसके शो वर्षाकाल में वीरण तृण की भाँति वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिए भगवान ने तृष्णा को मूलोछेद करने के लिए उपदेश दिया है।

यथापि मूले अनुपद्दवे दलहें,
छिन्नोपि रूक्खो पुनरेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते,
निब्बत्तती दुक्खमिदं पुनप्पुनं।।

जिस प्रकार दृढ़मूल के बिल्कुल नष्ट न हो जाने से कटा हुआ वृक्ष फिर से बढ़ जाता है, उसी प्रकार तृष्णा और अनुशय के समूलनष्ट न होने से यह दुक्खचक्र बार-बार प्रवर्तित होता रहता है। तृष्णा की विशेषता है कि उसकी धाराएँ प्राणियों को बड़ी प्रिय और मनोहर लगती हैं, सुख के फेर में पड़े उसकी धारा में पड़ते हैं और बार-बार जन्म मरण के चक्र में प्राणी आते हैं। तृष्णा सुखद और आकर्षक लगती है। इसीलिए तृष्णा को मूलोच्छेद करने की सलाह दी गयी है।

सरितानि सिनेहितानिच,
सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते सात सिता सुखे सिनो,
ते वे जातिजरूपगा नरा।।

जो संसार में इस दुस्त्याज्य तृष्णा को जान लेता है उसके शोक उसी प्रकार गिर जाते हैं जैसे कमल से जल बिन्दु।

यो चेतं सहतो जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तन्हा पपतन्ति उद्विन्दुव पोक्खरा।।

जो संसार में इस दुस्त्याज्य नीच तृष्णा को जीत लेता है, उसके शोक उसी तरह गिर जाते हैं जैसे कमल में ऊपर से जल के बिन्दु। इसलिए तृष्णा की जड़ को खोद डालना चाहिए ताकि स्त्रोत में उत्पन्न नरकट की भांति मार बार-बार न तोड़ पाये-

तं वो वदामि भद्दं, यावन्तेत्थ समागता
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थोव बीरणं
मा वो नलंब नकंव सोतोव, मारो मज्जि पुनप्पुनं।

जैसे दृढ़ मूल के पूर्ण समाप्त न होने पर वृक्ष पुनः बढ़ जाता है वैसे ही तृष्णा के पूर्ण विनष्ट न होने पर यह दुःख बार-बार उत्पन्न होता है। जिसके छत्तीस स्त्रोत संसार में प्रिय पदार्थों की ओर बढ़ते हैं। उसके रागपूर्ण संकल्प उसे दुर्दृष्टि की ओर बढ़ा ले जाते हैं। यह स्त्रोत चतुर्दिक बढ़ते हैं।

यस्य छत्तिंसति स्त्रोता, मानापसवना भुसा।
बाहा वहन्ति दुद्धिट्ठिं, सङ्कप्पा राग निस्सित।।

तला (तृष्णा) फूट कर निकलती है। उस उत्पन्न हुई लता को देखा उसके मूल को प्रज्ञा से काटो, तृष्णायें धाराएँ प्राणियों को बड़ी प्रिय और मनोहर लगती है।

सवन्ति सब्बधि सोता,
लता उप्पज्ज, तिट्ठति।
तंचदिस्वा लतं जातं,
मूल पंचाय छिन्दथ।।

खुख की पैर में पड़े उसकी धारा में बहते हैं तथा बार-बार जन्म जरा के चक्र में घुमते रहते हैं। तृष्णा में पड़े प्राणी बँधं खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं, संयोजनों में फँसे लोग बार-बार चिरकाल तक दुःख का भोग करते हैं-

तसिणाय पुरक्खतापजा,
परिसप्पन्ति ससोव बन्धितो।
संयोजन सण्गसत्तका,
दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय।।

जो सांसारिक बंधनो से छूटकर वन में निवास करता हुआ पुनः तपोवन की त्याग कर संसार तृष्णा की ओर दौड़ता है, उसे व्यक्ति को वैसे ही जानना चाहिए जैसे काई बन्धन वियुक्त पुरुष पुनः बंधन की ओर दौड़े (लोहे अथवा लकड़ी के बंधन को ज्ञानी पुरुष बंधन नहीं मानते। मणि, कुण्डल, स्त्री पुत्र में इच्छा का होना ही दृढ़ बंधन है। जो रागा नुरक्त होते हैं वो मकड़ी की तरह स्वनिर्मित स्त्रोत में पड़ते हैं।

जो प्राणी संशयापन्न हो, तीव्र रागानुरक्त हो सर्वत्र सौदर्य को ही देखता है उसकी तृष्णा और भी बढ़ती है, वह अपने लिए दृढ़ बधनों का निर्माण करता है। तृष्णा का विनाश सभी दुःखों को जीत लेता है- ''तण्हाक्खयों सब्ब दुक्खे जिनाति''। संसार पार होने का प्रत्यन न करने वाले दुर्बुद्धि पुरुष को भोग विनष्ठ कर देते हैं। भोग की तृष्णा में मूर्ख मनुष्य पराये की भाँति स्वयं का ही हनन करता है।

अतः द्वितीय आर्यसत्य में तृष्णा का विवेचन किया गया है तथा तृष्णा को ही दुःख की उपस्थिति का मूल कारण बतलाया गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि विषयानुरक्ति को ही तृष्णा की संज्ञा से अभिहित किया गया है। तृष्णा से ही संसार का

संवर्तन होता है। तृष्णा से ही सांसारिक जीवन परिकर्षित होते हैं। तृष्णा के अधीन ही संसार के सभी जीव है। तृष्णा से शोक एवं भय होता है। तृष्णा एक बलवती नदी के सदृष्य है जो सर्बो को बहा ले जाती है। यह तृष्णा पुनर्भविका है अर्थात् बार-बार उत्पन्न होने वाली है तथा नन्दिराग सहगता है। तृष्णा प्यास को कहते हैं। प्राणी विषय सुख के लिए उत्कंठित रहता है। विषय योग की उत्पकण्ठा ही तृष्णा है। तृष्णा को ही बौद्ध दर्शन में जन्म-मरण का मूल कारण माना गया है। तृष्णाक्षय को ही निर्वाण कहा गया है। समस्त तृष्णाओं का निरोध ही निर्वाण है आसक्ति अर्थात रागानुरक्ति ही संसार है तथा उसका अभाव निर्वाण है।

तृष्णा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि ''वेदना होने पर इस सुख को मुझे प्राप्त करना चाहिए- इस प्रकार के निश्चय का नाम तृष्णा है।

तृष्णा के स्वरूप तथा विभेद का वर्णन करते हुए भगवान बुद्ध ने कहा है-

''कतमंच, भिक्खवे, दुक्ख समुदयं अरिय सच्च? या यं तण्हा पोनोब्भविका नन्दीराग सहगतातत्र नत्तामिनन्दिनी, सेरूय शीदं काम तण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा'' तृष्णा का तीन विभेद किया गया है-

1. काम तृष्णा-इन्द्रिय सुखों के लिए
2. भव तृष्णा-जीवन के लिए
3. विभव तृष्णा-वैभव के लिए

बुद्ध ने काम तृष्णा, भवतृष्णा एवं विभव तृष्णा को समग्र सांसारिक दु:खों का मूल कारण माना है। संसार में प्रियकर एवं रूचिकर लगने वाली वस्तुओं में तृष्णा उत्पन्न होने की चाह होने पर उत्पन्न होती है और रहने की चाह होने पर रहती है।

''साखों पनेसा, भिक्खवे, तण्हाकत्थ,
उप्पज्जमाना उप्पज्जति, कत्थ निविसमाना
निविसति? यं लोके पियरूपं सातरूपं।
एत्येसा तण्हा उप्पज्जमाना
उप्पज्जाति, एत्थ निविसमाना निविसति।''

पुन: भले ही वे वस्तुएँ इन्द्रियाँ हो या उनके विषय, वेदना हो या संज्ञा, संस्कार हो या विज्ञान वितर्क हो या विचार। ऐसा करते-करते उसमें राग उत्पन्न होता है, रागोत्पाद से वह क्रमश: उपादान, भव जाति, जरा-मरण-शोक परिदेव-दु:ख दौर्मनस्य के जाल में आवद्ध होता जाता है।

इस काम भोगों में फंसने के फलस्वरूप तृष्णा के बढ़ते जाने से राजा लोग परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं, उन्हें मारते हैं, काटते हैं, चोर लोग चोरी करते तथा लूटेरे गाँव एवं नगरों को लुटते हैं, व्यभिचारी पर स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं। जिसके पाप से उन्हें इस लोक में नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

तृष्णा की उत्पत्ति की कथा कहते हुए बुद्ध ने कहा है- भिक्षुओं, तीन के एकत्र होने से गर्मधारण होता है।

1. माता-पिता
2. माता का ऋतुमती होना
3. गन्धर्व उपस्थित होना

इन तीनों के एकत्र होने से माता गर्भधारण करती है तथा नौ या दस महीने के पश्चात् जन्म देती है। उसे माता लोहित दूध से पोसती है। पुन: वह बच्चा कुछ बड़ा होने पर बच्चों के खिलौने-बंका, छड़िया, मुँह के लट्टू, चिगुलिया, तराजु, गाड़ी, धनुही आदि उपकरणों से खेलता है। पुन: बड़ा होने पर पाँच प्रकार के विषय भोगों (रूप, शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श) का सेवन करता है। वह उनकी अनुकलता प्रतिकूलता आदि अनुसार का अनुरोध (राग) विरोध में पड़ा सुखमय, दु:खमय न सुख न दु:ख मय वेदना को अनुभव करता है।

उसका अभिन्दन करता है। इस प्रकार अभिनन्दन करते उसे नन्दी (तृष्णा) उत्पन्न होती है। वेदनाओं के विषय में जो यह नन्दी (तृष्णा) है, यही उसका उपादान अर्थात ग्रहण या ग्रहण करने की ईच्छा है।

ग्राम-दरियापुर, पोस्ट-कछियावाँ,
थाना-नगरनौसा, जिला-नालन्दा
(बिहार) 801302

संदर्भ सूची

1. धम्मपद
2. धम्मपदगाथा
3. संस्कृत हिन्दी कोश आप्टे
4. मज्झिम-निकाय
5. सच्चसंग्रहो
6. महातण्हासंखय सुत्त

डॉ. स्नेहा कुमारी

गोस्वामी तुलसीदास के काव्यों में : रस-विवेचन

कवि परिचय :

''वर्णानामार्थ संघानां रसनां छन्दासामपि
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणी विनायकौ।''[1]

''बंदउँ गुरू पद पदुम परागा।
सुरूचि सुबास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू।
समन सकल भव रूज परिवारू।।''[2]

अर्थात्, अक्षरों, अर्थसमूहों, रसों, छन्दों और मंगलों की वर्षा करनेवाली सरस्वती जी और गणेश को वंदना करनेवाले तथा अपने गुरू महराज के चरण कमलों की रज की वंदना करने वाले साथ ही यह स्वीकारते हुए कि जो सुरूचि सुगंध तथा अनुराग रूपी रस से पूर्ण है।

ऐसे महान संत गोस्वामी तुलसीदास का जन्म किस तिथि को हुआ था यह निश्चित नहीं है। उनके जन्म की कई तिथियां मानी जाती रही है। किंतु सबसे अधिक सं.-1589 की तिथि प्रचलित रही है इसका आधार कदाचित तुलसीदास जी की किसी शिष्य परंपरा की मान्यता थी।

हालाँकि तुलसीदास का बचपन बड़ी कठिनाईयों में बीता था। जीवन के प्रारंभिक वर्षों में ही उनके माता-पिता से उनका विछोह हो गया था। उनका बहुत समय भिक्षाटन में भी गुजरा। संतोषजनक व्यवस्था किसी हनुमान मंदिर में आश्रय मिलने के बाद हुआ।

कदाचित कुछ समय पश्चात तुलसीदास ने रामभक्ति की दीक्षा ली। उनके गुरू के विषय में भी निश्चित ज्ञात नहीं है पर मानस के एक सोरठे से यह ध्वनि ली जाती है कि उनके गुरू का नाम नरहरिदास था।[3]

जबकि 'मानस का हंस' और दोहावली के एक दोहे में तुलसीदास की विरक्ति भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। विवाहोपरांत पत्नी के प्रति गहरी आसक्ति, उसे साथ ले जाने का आग्रह। यह भी कहा जाता है कि स्त्री के वचनों से ही प्रभावित होकर तुलसीदास ने गृहत्याग किया, उन्होंने पत्नी को भी अपने प्रथम गुरू के रूप में स्वीकार किया है।

पत्नी का यह कथन :-

''लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहां कहौ मैं नाथ।।
अस्थि चर्ममय देह मम तामे जैसी प्रीति ।
तैसी जौ श्रीराम महँ होती न तौ भवभीति।।[4]

विरक्त तुलसीदास का जब सांसारिक जीवन से मोह भंग हुआ और प्रभु तल्लीनता बढ़ी तो कहीं न कहीं हृदय में जो आग थीं उसका विस्फोट तो होना ही था, वह रचनात्मक कौशल के रूप में प्रस्फूटित हुआ।

हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों के खोज विवरणों के अनुसार तथा डॉ. उदयभानु सिंह के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएं काल क्रमानुसार निम्नलिखित हैं:-

1. वैराग्य संदीपनी -सं. 1626-27
2. रामज्ञा प्रश्न (दोहावली रामायण) -सं. 1627-28
3. रामलला नहधू -सं. 1628-29
4. जानकी मंगल -सं. 1629-30
5. रामचरित मानस -सं. 1631
6. पार्वती मंगल -सं. 1643
7. कृष्ण गीतावली -सं. 1643-60
8. गीतावली (पदावली रामायण) -सं. 1630-70
9. विनय पत्रिका (विनयावली, रामगीतावली) -सं. 1631-79

10. दोहावली –सं. 1626–80
11. बरवै रामायण (बरवा) –सं. 1630–80
12. कवितावली या कबितावली
(हनुमान बाहुक समेत) –सं. 1631–80[5]

'रस–विवेचन':

तुलसी रससिद्ध महाकवि थे। हिन्दी साहित्य में तुलसी को सर्वश्रेष्ठ महाकवि के रूप में जाना जाता है। हिन्दी ही नहीं वरन् विश्व साहित्य में तुलसी जैसे कवि बहुत कम होंगे। तुलसी को रसवादी कवि माना जाता है। काव्य का प्राण रस को मानने वाले विद्वजन 'रस' निरूपण को ही काव्य सफलता का द्योतक मानते हैं।

तुलसी के काव्य में लोकमंगल एवं समन्वय की विराट चेष्टा है। तुलसीदास एक दार्शनिक भक्त कवि हैं, उनका संपूर्ण काव्य 'भक्ति रस' एवं 'शांत रस' का पर्याय है। फलत: 'रसों' एवं 'भावों' के सफलतम नियोजन से उनका संपूर्ण काव्य भरा पड़ा है। लेकिन तुलसी का भाव–चित्रण अनुभूति की विशिष्ट मर्यादित स्थिति के साथ अनुबंधित है।

लोकमंगल की आधारशिला पर प्रतिष्ठित उनके कथापात्र आश्रय या आलंबन के आधार बनकर अपनी भाव सत्ता को लोकमर्यादा से संलग्न रखते हैं। तुलसी के समस्त साहित्य में दास्यभाव, दाम्पत्य प्रेम से लेकर प्रभु पद प्रेम तक के स्तरों पर अविच्छिन्न रूप से क्रियाशील हैं। प्रेम या रतिभाव सर्वत्र भक्ति एवं मर्यादा के उभय बंधनों से संग्रथित है। दास्य भाव के अंतर्गत ही आलंबन की सर्वोच्च विभुता, ऐश्वर्य शक्ति, सत्य, शिव, सुंदर या शील सौंदर्य की अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति का औचित्य समर्पित है। सर्वोच्चशील, सर्वोच्चशक्ति, सर्वोच्च सौंदर्य के प्रति विनत दास्य प्रेम एवं महिम एवं विराट की कृपा का आकांक्षी है। वात्सल्य एवं दाम्पत्य प्रेम के अंतर्गत मधुर किंतु कर्तव्य मर्यादा एवं लोकमंगल के सूक्ष्म भावस्पंदनों का जीवित प्रवाह तुलसी के रामकाव्य में लक्षित होता है।

भावोदबोधन के लिए सहज परिचित भाव–व्यापारों के चयन में तुलसी की प्रतिभा अद्वितीय है। इस दृष्टि से तुलसी ने राम सीता के सौंदर्य को प्रथम भाव–व्यापार का आश्रय बनाया है और इस कोमल आश्रय के अंतराल से कहीं 'रामसीता' के लिए लोक विह्वलता से मंडित मंगल कामना, कहीं अश्रुपूरित द्रवणशील व्यंजना, कहीं दास्य भक्ति से युक्त सेवा व्यापार की अभिव्यंजना हुई है। जनकपुर के स्वयंवर प्रसंग में राम के रूप पर लहालोट नगर– नारियों के मन में, सीता के अनुकूल उनके चुने जाने के लिए कितनी विह्वलता है। कोमल भावों से युक्त जनकपुर के निवासियों के अंत:करण का भाव संचरित अभिव्यंजन दर्शनीय है।

''नेक सुमुवि, चित लाई चितौरी
रंग भूमि भोरे ही जाई के''
ले फिरत, मन सुई सगुन, सुन बूझत जनक बोलाइके।।''6

सौंदर्य की तनिमा, कोमलता से वेष्ठित, राजकुमारों और सीता के वीहड़ कंकड़ीले पथ पर चलने से वनमार्ग की ग्राम बंधुओं की भावुकता विलव पड़ती है .मानस, गीतावली और कवितावली में यह अश्रु प्रसंग अपनी समस्त सजातीय भावनाओं से स्पन्दित है –

''सनेह शिथिल सुनि वचन सकल,
चितई अधिक हित सहित ओही।''[7]

इस भाव–व्यापार का संवेद्य रुपांतर, आकर्षण, भावुकता से पुष्ट होकर स्थिर 'भाव' बन गया। जीवन रूप–रस में भींगकर भक्ति का विगलित स्वर बन गया:–

''तुलसी प्रभु सुमिरि,
ग्राम जुवती सिथिल
बिनु प्रयास परी प्रेम सही।''[8]

सौंदर्य का कोमल आश्रय प्रस्तुत कर तुलसी ने 'सेवा' जैसी उदात्त वृति का संयोजन किया है। अकारण राम की सेवा के लिए आतुर कौल भीलों की सेवा तत्परता में 'भक्ति' का 'अनचीन्हा' उद्वेग इन पंक्तियों में लक्षित है :–

''हम सब धन्य सहित परिवारा,
दीव दरसु भरि नयन तुम्हारा।
हम सेवक परिवार समेता, नाथ न सकुचव आचसु देता।''[9]

ऐसे परिचित भाव–व्यापारों में भावोदबोधक रामकाव्य में विशेषकर तुलसी में सर्वत्र है। यह भावोदबोधक भावतीव्रता के धरातल पर ही 'रस' दशा को प्राप्त करता है। तुलसी ने इस तीव्रता के निष्पादन के लिए सूक्ष्म मनोविज्ञान का सहारा लिया है। स्थायी भाव के आश्रय या आलम्बन का गुण कथन:–

''मम हित लागि तजेहु पितु माता।
संदेहु विपिन हिम आतप बाता।''[10]

आत्मधिकार:–

''जौ जनतेउ बन बंधु विछोहु।

पिता वचन मनतेहु नहि ओहु।।''[11]

दारूण कातरता:-

''सौंपेसी मोहि, तुम्हहि गहि पानी।

उतरू काह वैहउं तेहि जाई।।''[12]

भावोदबोधन तीव्र से तीव्रतर होता हुआ 'रसदशा' तक पहुंच गया है। आश्रय राम, पाठक, वानर, भालू सभी शोक के तीव्रतम संघातों से आहत, स्तब्ध, शोक विह्वल, अश्रुपूरित।[13]

भाव विस्तार लोक-जीवन के विस्तार में अधिक फैलाव पाता है। रामकथा के महाकाव्यात्मक विस्तार में तुलसीदास ने मानव हृदय की अंत: प्रकृति का व्यापक प्रसार उपस्थित किया है। इसलिए उनकी कृतियों में संतजीवन और लोकजीवन के मार्मिक प्रसंगों का गठबंधन व्यापक हृदय-प्रसार के बिन्दु पर हुआ।

प्रबंधकार कवि की भावुकता ऐसे ही स्थलों की पहचान में निहित है जिनमें मानव जीवन या समस्त लोकजीवन के अधिकतम भावों की व्यंजना हो सके और ऐसा ही सर्वकाल व्यापी हृदय स्तर पर तुलसी ने भावों का सन्निवेश किया है कि उनका आस्वाद सहज ही परिचित भाव-व्यापार के स्तर पर हो जाता है। ऐसे सभी स्थल भाव को रस दशा तक पहुंचाने में समर्थ हैं। ऐसे मार्मिक स्थलों पर यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष, पुलक, गुण है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करूण, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता, तुलसीदास के हृदय में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।[14]

ऐसे भाव संचारी या मार्मिक स्थल हैं- राम लक्ष्मण का जनकपुर दर्शन, फुलवारी में रामसीता का प्रथम दर्शन, धनुष यज्ञ, राम का विवाह, दशरथ कैकेयी संवाद, राम का अयोध्या त्याग और वन गमन, चित्रकूट मे राम भरत मिलन, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का अनुताप, शबरी-आतिथ्य, राम-रावण युद्ध, भरत की प्रतीक्षा।[15]

तुलसी के काव्य में निहित भाव भक्तिपरक है, वह दास्यप्रेम का अनुकरण है। दाम्पत्य एवं वात्सल्य जैसा निर्वाध प्रेम भी सदैव शील शक्ति की तर्जनी से नियंत्रित है। केवल जनक वाटिका प्रसंग में ही संयोग के अनेकानेक 'रसावयव' से पुष्ट श्रृंगार रस का पूर्ण निष्पादन हुआ। पूर्वानुराग से अनुप्राणित सीता-

''थके नयन रघुपति छवि देखे।

पलकन्हिहुं परिहरि निमेखे।।''

संकोच, सखियों के व्यंग्य राम के मोहक सौंदर्य का रसपान की अतेन्द्र लालसा पुन: जनक की प्रतिज्ञा की मर्यादा

''नख सिख देखि राम के शोभा।

सुमिरि पिता धन मन अति छोभा।।''

माता का भय, इतने अवरोधों के बीच राम को देखने के लिए जड़ प्रकृति का सहारा।

''देखन मिस मृग विहगतरू,

फिरह बहोरि-बहोरि।

निरखि-निरखि 'रघुवीर' छवि

बाढ़ई प्रीति न थोरि।''

रति और इसके चारों ओर उत्कंठा, आकुलता, जड़ता, संकोच, क्रीड़ा अधीरता, अवहित्था जैसे संचारियों का मनोहर नर्तन। क्षण में कालजयी भावों की 'रसदशा' का संयमित विवर्तन और निष्पति।

''कंकन किंकन नूपुर धुनि सुनि।

कहत लखन सन राम हृदय गुनि।।

अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।

सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।।

भय विलोचन चारू अचंचल-

यहां राम आश्रय सीता आलंबन, नूपुरों के मधु निस्वन उद्दीपन, नेत्रों की अपलक अवस्था, अनुभव प्रलब्ध भाव-संचारी के द्वारा संयोग श्रृंगार की मार्मिक अभिव्यक्ति है। गीतावली के सुंदरकांड पद 51 एवं अयोध्याकांड पद 14 के चित्रकूट के प्रसंगों में ऐसे ढ़ेरों उदाहरण हैं:-

''जल को गए लखन है लरिका,

परिखौं पिय छांह धरीक ह्वै ह्ववोढ़।।[16]

विप्रलम्भ श्रृंगार का रसशास्त्रीय उदाहरण:-

''हा गुनखानी जानकी सीता।

रूप शील व्रत नेक पुनीता।।''[17]

यहां नायक राम आरय, सीता आलंबन, राम का प्रगाढ़ स्नेह रति स्थायी के माध्यम से श्रृंगार के दोनों रूपों अपनी पूरी रसात्मकता के साथ तुलसी साहित्य में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार वात्सल्य की मनोरम व्यंजना गीतावली में मिलती है। मानस के लंकाकांड में 'वीररस' अपने पूरे अवयव के साथ निरूपादित हुआ है। स्फुट रूप से बालकांड में लक्ष्मण-परशुराम संवाद में उग्रता की मूर्ति

लखनलाल 'वीररस' मूर्ति बने दीख पड़ते हैं।

अयोध्याकांड में ससैन्य भरत के आगमन की सूचना से निषाद-राज की युद्ध- सज्जा, उल्साह की रसात्मक अनूभूति से युक्त है-

''जो राउर अनुशासन पांउ।
कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाउं।।''[18]

गीतावली में लक्ष्मण शक्ति के अवसर पर हनुमान की उक्तियों में:-

''जौ हौं अव अनुशासन पावा।''

में उत्साह 'वीररस' में रूपायित है।[19]

'क्रोध' स्थायी भाव की रसदशा शील वैषिष्टय के साथ उपस्थित है।

'रौद्ररस' के प्रसंग में परशुराम लक्ष्मण संवाद, ससैन्य भरत का चित्रकूट आगमन, अंगद, रावण-संवाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कहीं-कहीं मानस में संश्लिष्ट 'रस-युग्म' भी एक साथ ही व्यंजित है:-

''कट कटानि कपि कुजर भारी।।
दोउ भुज दंड तमकि गरि मारो।।''

एक ओर रौद्र दूसरी ओर वीर का अद्भुत संश्लेष है। बालकांड, अयोध्याकांड का पूर्वार्द्ध एवं लंकाकांड में रौद्र का नियोजन विशेष रूप से है। 'भय' का रस परिपाक मानस के अंतर्गत बालकांड, अयोध्याकांड (पूर्वार्द्ध) तथा लंकाकांड में युद्ध प्रसंगों के संदर्भ में विशेष रूप से हुआ। शिव विवाह के प्रसंग में, धनुर्भग की प्रतिक्रिया में, कैकेयी कोप और वनगमन के प्रसंगों में 'भय' का उद्रेक अपने समस्त शास्त्रीय उपकरणों के साथ हुआ है।

लंकाकांड में कुंभकर्ण एवं रावण में युद्ध कौशल के अवसर पर रावण युद्ध में इस भयानक रस का सांगोपांग निष्पादन है-

''वैताल भूत पिचास, कर धरे धनु नाराच।
लछिमन कपीस समेत भए सकल वीर अचेत।।''[20]

तुलसीदास की रचनाओं में हास्य की अवतारणा के भी तीन-चार प्रसंग हैं-

1. नारद मोह
2. शिव विवाह
3. केवट-राम संवाद
4. विन्ध्य के तपस्वियों का प्रसंग।

उदाहरणार्थ:

(1) दृष्योद्भावनाओं के द्वारा:-

''मणि मुव मेलि डारि कपि देही।''[21]

(2) व्यंग्य एवं वक्रोक्ति के द्वारा :-

''कहेउ लवन मुनि सीलु तुम्हारा।
को नहि विदित संसारा।।''[22]

(3)आकृति तथा वेशभूषा के द्वारा:-

''पुनि पुनि मुनि उक्सहि अकुहीं।
देवि दसा हर मन मुसकाहीं।।''23

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के काव्य साहित्य में 'हास-परिहास' शिष्ट विनोद के अनेक स्थल हैं। विस्मय 'स्थायी भाव' का उद्भुत रस में रूपायण के प्रसंग मानस के अंतर्गत यत्र-तत्र उपलब्ध है:-

1. पार्वती द्वारा राम के परम ब्रह्मत्व की परीक्षा के अवसर पर

''जहं चितवहिं, तहं प्रभु आसीना।''[24]

2. परशुराम के द्वारा राम के पौरूष की परीक्षा के अवसर पर:-

''देत चाप आपुहि चलि गयऊ।
परशुराममन विस्मय भयऊ।।''[25]

3. उत्तरकांड में - ''अमित रूप प्रगटें तेहि काला।''

4. ''जस-जस सुरसा बदन बढ़ावा'' तथा लंकादहन प्रसंग में-''रहा न नगर वसन धृत तेला।''

5. लंकाकांड के अंतर्गत अग्नि-देवता को गोद में सीता की उपस्थिति।

6. हनुमान जी द्वारा द्रोण पर्वत के साथ आकाश मार्ग से उड़ना।

7. राम की शिशुलीला के प्रसंग में

''इहां-उहां दुइ बालक देवा।
मति भ्रम मोह कि आन विशेषा।।''

इन पंक्तियों में स्थाायीभाव विस्मय शंका, आवेग आदि संचारी से पुष्ट कौश्ल्या आश्रय में अद्भुत 'रस' की सृष्टि है।

'शांत रस' या निर्वेद स्थायी भाव तुलसी कृत रचनाओं का मुल 'रस' या 'भाव' है। मानस के उत्तरकांड में यह 'रस' मूर्तिमान हो उठा है। वस्तुत: शांत रस तुलसी के काव्य की मूल चेतना है।

उदाहरणार्थ: -

1. राम-वनवास के क्षणों में अयोध्या-वासियों की उत्कट आकुलता में,

2. सुमंत कके अयोध्या लौटने के प्रसंग में,

3. दशरथ की आत्मग्लानि में,

4. हनुमान-विभिषण के प्रथम मिलन में,

5. उत्तर कांड में।

लेकिन 'शांत रस' की अबाध मन्दाकिनी विनय पत्रिका के भीतर निरंतर प्रवाहित है:-

''जन्म गयौ वादिहि वर वीति।

पायो पर विश्राम रामसमान प्रभु नाहि।''

गोस्वामी जी की 'शांत रस' योजना का मूल मंत्र है भाव रूपायन के साथ ही सहज संचारी भावों का नियोजन, तीव्रता, रमणीयता एवं क्रमिकता के साथ तुलसी के काव्य में उपलब्ध है। प्रत्येक 'रस' के साथ उसके प्रकृत संचारी भावों की पहचान तुलसी की कारचित्री प्रतिभा की विशेषता है।

जैसे- शृंगार रस के औत्सुक्य, मोह, अवहित्था, हर्ष, शका, विषाद, संकोच, क्रीड़ा, श्रम चिंता-उन्माद इत्यादि।

वास्तव में मानस या तुलसी साहित्य में विशाल भावात्मक सत्ता के साथ कथा प्रसंगों के बीच सूक्ष्म मनोदशाओं का उठना-गिरना अत्यंत स्वाभाविक है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि कथा-धारा को प्रभावित करनेवाली जो घटना जितनी ही महत्वपूर्ण है, उससे उद्‌भुत भाव-धारा भी उतनी ही विशद्‌, व्यापक एवं गंभीर है।

गोस्वामी जी ने रसों की व्यापकता बढ़ाने के लिए ही संचारियों का संविधान किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि रसिक भक्ति में भावों का वह प्रसार नहीं है जो तुलसी के काव्य में उपलब्ध है, क्योंकि माधुर्य भाव का सम्पूर्ण संचार केवल रति भाव तक ही सीमित है, लोक जीवन की विराट भूमि पर आधारित नहीं है। फिर भी कला के मूल में निहित 'रस-दशा' तो सर्वत्र व्याप्त है।

+2 हिन्दी शिक्षिका,
रा.सु.रा.उ.मा. विद्यालय,
बरियारपुर (सीतामढ़ी)

संदर्भ सूची

1. रामचरितमानस . बालकांड-श्लोक 1 (पृ.1)
2. वही -(पृ.-3)
3. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2-वाराणसी (पृ. 233)
4. मानस का हंस
5. हिंदी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास-गोविंद पाण्डेय, सरस्वती पाण्डेय (पृ. 118)
6. गीतावली -1-68/75
7. गीतावली, 2- 20
8. वही -2 -30
9. मानस -2- 136
10. वही -6-61-3
11. वही -6-61-5
12. वहीं -6-61-8
13. तुलसीदास की कारचित्री प्रतिभा का अध्ययन: डॉ. श्रीधर सिंह, - (पृ.-425)
14. गोस्वामी तुलसीदास: आचार्य शुक्ल, पृ.-82
15. वही (पृ.-78)
16. कवितावली, अयोध्याकांड, (पृ.164), छंद
17. मानस -(अरण्यकांड)
18. मानस - (अयोध्याकांड)
19. गीतावली -(लंकाकांड-पद-8)
20. मानस - (लंकाकांड)
21. वही - (लंकाकांड)
22. मानस - (बालकांड)-(पृ. 248)
23. मानस - (बालकांड)
24. वही - (बांलकांड)
25. वही -(बालकांड)

शोध-पत्र

विशेष आर्थिक क्षेत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. रंजु कुमारी

हमारी अर्थव्यवस्था निरन्तर विकास की ओर अग्रसर रही है तथा सरकार की नीति भुगतान संतुलन को पक्ष में करने के लिए आयात में कमी तथा उसका प्रतिस्थापन ढूँढ़ने की रही है, जबकि हम निर्यात के क्षेत्र में पीछे रह गए। लोगों को रोजगार भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाए और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में भी तकनीकी कमी के कारण पीछे रह गए, जबकि निर्यात में वृद्धि इन सभी के लिए आवश्यक है। वर्ष 1991 ई. के आर्थिक सुधार तथा नई औद्योगिक नीति के लागू होने के बाद से परिदृश्य में परिवर्तन आया है और निर्यात वृद्धि की ओर घ्यान केन्द्रित किया गया। निर्यात वृद्धि के लक्ष्य को लेकर 1 अप्रैल, 2000 को विशेष आर्थिक क्षेत्र की स्थापना की योजना, तत्कालीन वाणिज्य मंत्री मुरासोली मारन ने प्रस्तुत की थी।

विशेष आर्थिक क्षेत्र का आशय ऐसे भौगोलिक क्षेत्र से है जो देश में गैर-विशेष आर्थिक क्षेत्र की अपेक्षा विशेषाधिकारों का लाभ प्राप्त कर रहा हैं इससे पहले स्थापित निर्यात परिसाधन क्षेत्रों को भी अब विशेष आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तित किया जा रहा है। कांडला, सूरत, सांताक्रुज, मुम्बई, फाल्टा, चेन्नै, विशाखापत्तनम और नोएडा में स्थित निर्यात परिसाधन क्षेत्रों को सरकार ने विशेष आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तित कर दिया है।

विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना के उद्देश्य

विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना के लिए मुख्य तर्क कुछ चुने हुए क्षेत्रों में संसाधनों के संकेन्द्रण द्वारा निर्यात को बढ़ावा देना हैं। यह नीति अप्रैल, 2000 में चालू की गई ताकि निर्यात के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रतिस्पर्धा और असुविधा-मुक्त वातावरण कायम किया जा सके। विशेष आर्थिक क्षेत्र में स्थापित इकाई को शुद्ध विदेशी मुद्रा अर्जक का कार्य करना होगा, परन्तु इस पर ऐसी कोई शर्त नहीं लगाई जाएगी कि उसे अपने कुछ उत्पादन का विशिष्ट अनुपात निर्यात करना होगा।

विशेष आर्थिक क्षेत्रों के विशेष अधिकार

विशेष आर्थिक क्षेत्र विकास के शुल्क-मुक्त एन्कलेव हैं जिन्हें व्यापार शुल्कों एवं टैरिफों के लिए विदेशी क्षेत्र समझा जाता है। यह नीति इन क्षेत्रों के विकास कर्त्ताओं को जो इन इलाकों में अपनी इकाईयाँ स्थापित करेंगे, बहुत से राजकोषीय एवं विनियामक प्रोत्साहन प्रदान करती हैं। विशेष आर्थिक क्षेत्रों में निगमों को पहले पाँच वर्षों के लिए अपने लाभ पर आयकर नहीं अदा करना होगा और इसके पश्चात दो वर्षों के लिए केवल 50 प्रतिशत कर देना होगा। केवल 50 प्रतिशत कर देने की राहत का अगले तीन वर्षों के लिए विस्तार किया जा सकता है। यदि निगम अपने लाभ का आधा भाग पुनः निवेश के लिए प्रयुक्त करता है, आयकर लाभ के अतिरिक्त, विशेष आर्थिक क्षेत्र की इकाईयों को बहुत से अन्य करों एवं शुल्कों से भी छूट होगी, इनमें शामिल हैं-सीमा शुल्क, उत्पाद शुल्क, सेवाकर, मूल्य-वृद्धि कर, लाभांश कर आदि। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्रों को श्रम कानूनों के पालन से छूट दी गई है। एसईजेड में सभी औद्योगिक इकाईयों एवं प्रतिष्ठानों को 'सार्वजनिक उपयोगिता सेवा' घोषित किया जाएगा जिनमें हड़ताल गैर कानूनी होगी।

चीनी अनुभव से प्रेरित विशेष आर्थिक क्षेत्र नीति

चीन ने 1980 ई0 में 14 समुद्र-तटीय शहरों में विशेष आर्थिक क्षेत्र कायम किए। इसका मुख्य उद्देश्य इन क्षेत्रों को दोहरा कार्यभार सौंपना था ताकि वे विदेश उन्मुख अर्थव्यवस्था के लिए ''खिड़की'' का कार्य कर सकें जिसके परिणामस्वरूप वे निर्यात को बढ़ावा देकर विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकें और उन्नत टेक्नोलॉजियों का आयात करें। इन क्षेत्रों में विदेशी निवेश आकर्षित करने के लिए सीमा शुल्क और आयकर समाप्त कर दिया गया, इससे चीन को अपने समुद्रतटीय क्षेत्रों को उन्नत करने और इन क्षेत्रों के आर्थिक विकास को त्वरित करने में सहायता मिली।

किन्तु चीन के समुद्रतटीय क्षेत्रों का तीव्र विकास पिछड़े प्रदेशों को लाभ नहीं पहुँचा पाया बल्कि समुद्रतटीय क्षेत्रों और पिछड़े प्रदेशों के गरीब क्षेत्रों में एक विभाजन उत्पन्न हो गया।

विशेष आर्थिक क्षेत्र की वर्तमान स्थिति और भावी कार्यक्रम

इस समय भारत में 15 विशेष आर्थिक क्षेत्र काम कर रहे हैं जिनका औसत आकार 200 एकड़ है। सरकार ने अब तक 237 विशेष आर्थिक क्षेत्रों को स्वीकृत प्रदान की है जबकि 21 राज्यों में एसईजेड के 250 प्रस्ताव लम्बित हैं। सरकार ने यह स्पष्ट किया है कि विशेष आर्थिक क्षेत्रों की संख्या की अधिकतम सीमा समाप्त कर दी गई है, परन्तु नई स्वीकृतियों के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक 75 विशेष आर्थिक क्षेत्र उत्थान अवस्था प्राप्त नहीं कर लेते।

भारतीय प्रोत्साहनों के आकर्षण के नतीजे के तौर पर बहुत से औद्योगिक घराने और विकासक-भारतीय एवं विदेशी राज्य सरकारों को नए प्रस्तावों की स्वीकृति के लिए धड़ाधड़ आवेदन पेश कर रहे हैं परन्तु विशेष आर्थिक क्षेत्रों की आलोचना ने सरकार को मजबूर कर दिया है कि वह इस मुद्दे पर पुनः विचार करें, हालाँकि वाणिज्य मंत्री आनन्द शर्मा विशेष आर्थिक के मार्ग से विकास को प्रोन्नत करने के लिए अत्यन्त इच्छुक हैं।

एसईजेड नीति की आलोचना

एसईजेड देश में आर्थिक विकास और निर्यात प्रोत्साहन के उद्देश्य से खोले जा रहे हैं, किन्तु देश में इन क्षेत्रों के निर्माण में जबरदस्त विरोध हो रहा है इनका विरोध वामपंथी दल ही नहीं बल्कि संप्रग सरकार के मंत्री भी कर रहे हैं। इस संबंध में वाद-विवाद पर चर्चा करना अनिवार्य हैं।

सर्वप्रथम तो यह कि तत्कालीन वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम ने रियायतों के मुख्य मुद्दों पर वाणिज्य मंत्री से अपना मतभेद व्यक्ति किया है ये मुद्दे हैं, भू-प्रयोग और वर्तमान निर्यातोन्मुख इकाईयों के प्रश्न। सार्वजनिक वित्त एवं नीति पर राष्ट्रीय संस्थान ने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन किया कि एसईजेड की इकाईयों को कर रियायतें देने के कारण सरकार को 2005-10 के दौरान कर राजस्व में 97000 करोड़ की हानि होगी जबकि I M F के एक प्रमुख अर्थशास्त्री ने सरकारी खजाने के हानि का अनुमान 1,75000 करोड़ रू. लगाया है। मूल प्रश्न यह है कि क्या इन कर रियायतों के कारण कोई ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्तन होनेवाला है जिससे निर्यात-वृद्धि को भारी प्रोत्साहन प्राप्त होगा?

दूसरा मुद्दा उत्तम कृषि भूमि की भारी मात्रा का एसईजेड क्षेत्रों की इकाईयों के लिए अधिग्रहण करना है। जैसे उ.प्र. सरकार ने दादरी में एक कम्पनी घराने को 2,500 एकड़ भूमि पावर-प्लांट स्थापित करने के लिए दी जिसके लिए मात्र 50 एकड़ भूमि की जरूरत थी। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ने सिंगूर में टाटा द्वारा छोटी कार के विनिर्माण के लिए बढ़िया कृषि-भूमि सौंप दी। इस भूमि पर वर्ष में तीन फसलें उगाई जा सकती थीं। इसके अतिरिक्त, इस भूमि का अधिग्रहण सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों पर किया गया, न कि बाजार कीमतों पर जो कि किसानों का वैध अधिकार था।

तीसरा प्रश्न भूमि के प्रयोग से सम्बन्धित हैं निर्यात-सम्बन्धित उद्देश्य के लिए भूमि का केवल 25 प्रतिशत निश्चित करना और शेष आधार संरचना, पार्को, गोल्फ कोर्सिस आदि निश्चित करना पूर्णतया अनुचित हैं अतः उचित होगा कि भूमि-प्रयोग के मानदण्ड निर्धारित किए जाएँ।

चौथा प्रश्न श्रम-कानूनों से छूट का है जो कि महत्वपूर्ण है उद्योगपतियों को आकर्षित करने के लिए राज्य सरकारें जरूरत से अधिक झुक कर एसईजेड को श्रम-कानूनों से छूट देने का वायदा कर रही है जो कि उचित प्रतीत नहीं होता है। संविधान के अनुच्छेद 38(1) का उल्लंघन है जिसमें उल्लेख है कि -''राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था करें, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय

जीवन के सभी संस्थानों को अनुप्रमाणित करे भरसक प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा।'' क्या राज्य को अपने कर्त्तव्य भूल जाना चाहिए?

पाँचवां मुद्दा यह कि देश दो भागों में बँट जायेगा- विशेष आर्थिक क्षेत्र और गैर विशेष आर्थिक क्षेत्र, क्योंकि विशेष आर्थिक क्षेत्र में बहुत से प्रलोभन जुड़े होते हैं जैसे कर एवं शुल्कों में छूट, श्रम कानूनों को न लागू करने से उत्पादन लागत में कमी के कारण बहुत सी औद्योगिक इकाईयाँ गैर विशेष आर्थिक क्षेत्रों से पलायन कर विशेष आर्थिक क्षेत्रों में प्रोत्साहित हो जाएँगी। इसका अभिप्राय यह है कि निवेश में शुद्ध वृद्धि प्रत्याशा से कम होगी।

निष्कर्ष :

एसईजेड के दृष्टिकोण पर जिससे औद्योगीकरण और निर्यात प्रोन्नति को बढ़ावा दिया जा रहा है पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि एसईजेड के कुछ प्रावधान और रियायतें अनुचित है जैसे-विभेदक कराधान से सरकार को अत्यधिक राजस्व की हानि होगी, इसे तत्कालीन वित्त मंत्री श्री पी. चिदम्बरम और भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर भी न्यायोचित नहीं मानते हैं। उत्तम भूमि अधिग्रहण के स्थान पर बंजर भूमि या गैर कृषि भूमि का अधिग्रहण बाजार कीमतों पर किया जाय। एसईजेड श्रम कानून में छूट न दिया जाये, क्योंकि इस क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों के मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। एसईजेड में विशेष छूट के प्रावधान से देश में असंतुलित विकास की स्थिति उत्पन्न हो सकता है क्योंकि चीन में एसईजेड में पिछड़े इलाके बहुत ही पिछड़ गए, अब उनकी दूरी समुद्र तटीय शानदार क्षेत्रों से और भी बढ़ गई है। बजाज ऑटो लि. के अध्यक्ष-राहुल बजाज एसईजेड की नीति की आलोचना करते हुए उल्लेख करते हैं कि-''मेरा विश्वास है कि वर्तमान नियमों के आधार पर कुल मिलाकर एसईजेड के कानून के आधार पर देश को कोई महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त नहीं होगा। जैसे ये इस समय हैं, ये एसईजेड की इकाईयों को राष्ट्र को संभावित लाभ की तुलना में अनुपालन से अधिक प्रोत्साहन उपलब्ध करा रहे हैं।''

अत: जरूरत यह है कि एसईजेड के विवादास्पद प्रावधानों को त्यागकर स्पष्ट मानक तय किये जाय। साथ-ही-साथ एसईजेड के जो भी प्रस्ताव स्वीकार किये जाये उनकी चयन प्रक्रिया स्वस्थ्य, एवं नियम अधिक प्रभावी हो और ऐसी नीति बनायी जाय जिससे कृषि एवं उद्योग साथ-साथ बढ़ सके और हमारा सामाजिक, आर्थिक ढाँचा भी मजबूत हो सके। एसईजेड पूँजी निवेश, रोजगार सम्बर्द्धन एवं निर्यात वृद्धि का महत्वपूर्ण संशोधन है निश्चित रूप से इस क्षेत्र की देश की विकास में भागीदारी होगी अब आवश्यकता इस बात की है कि सरकार एसईजेड का विकास बहुत ही समझ बूझ के साथ करे ताकि एसईजेड और बाहरी औद्योगिक क्षेत्र के बीच असंतुलन न हो पाये और एसईजेड का लाभ इससे जुड़े सभी लोगों को यथा संभव मिलता रहे।

अंत में इस बात पर भी धयान देना होगा कि निर्यात को बढ़ाने के लक्ष्य को तरजीह देते हुए हम देश में 'खाद्य स्वावलम्बिता' को कमजोर न कर दे। इस सम्बन्ध में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के महानिदेशक मंगल राय ने कहा है कि-''चूँकि भू-क्षेत्र सीमित है और कृषि भूमि सबसे अधिक मूल्यवान है,हमें इस सम्बन्ध में बहुत सावधानी बरतनी होगीं। हमें देश की खाद्य पर पड़ने वाले दीर्घकालीन प्रभावों का भी घ्यान करना होगा। खाद्य सुरक्षा राष्ट्रीय सुरक्षा का अनिवार्य अंग है।

उच्च माध्यमिक शिक्षिका, अर्थशास्त्र विभाग
इंटर विद्यालय रोह, नवादा (बिहार)

सन्दर्भ सूची

1. प्रतियोगिता दर्पण (दिसम्बर2008)
2. इंडिया टुडे (ज्ञान भंडार) जनवरी 2007
3. समसामयिकी वार्षिक (2008-09) विवास पॅनोरमा, दिल्ली
4. योजना (दिसम्बर 2006)
5. अर्थशास्त्र (किरण कम्पटीशन टाइम्स, इलाहाबाद)
6. हिन्दुस्तान समाचार पत्र (02 जनवरी 2007)
7. दैनिक जागरण (01 दिसम्बर 2006ऋ
8. इकॉनॉमिक टाइम्स (4 अक्टूबर, 2006)

Research Paper

Bandana Kumari

Intelligence Test of Mahadalit and Dalit High School Students

The procedure, as in the case of Spearman's analysis, involves the presentation of large batteries of intelligence tests to large numbers of subjects. Ideally these tests should comprise all the possible types of measurements that psychologists could agree are related to intelligence. Tests which correlate highly with other tests are measuring some of the some things while tests which have little or no relationship have nothing in common, consequently, by the appropriate statistical analysis off the correlation matrix, it is possible to extract a number of factors of variables which have nothing in common with each other but which together account for most of the variation in intellectual performance. By inspection of the tests which have the largest amount of any particular factor (high intercorrelations), the factor analyst then attempts to give that variable a name which best describes the function measured.

The series of factors which are extracted from a correlation matrix do not all have the same importance. Some of them account for more of the variation in performance than others. The first factor which is extracted is the one which accounts for the greatest proportion of the total variability. The remaining variation is called the first residual from which a second factor is extracted, then a third, and so on until most or all of the variability is accounted for or until the residuals are not large enough to make further extraction of factors worth while.

In his writings on the subject Thurstone argued that intellectual performance was an expression of a number of factors rather than a common general factor. For him the goal of intelligence test construction should be the isolation of the primary factors and the construction of tests which measure individually each of these factors. In his earlier work (1935-1938) Thurstone announced a number of factors which he believed made up intellectual (*N*), verbal relation (*V*), memory (*M*), word fluency (*W*), induction (*I*), reasoning (*R*), and deduction (*D*). In later studies there has been some modification of this list. In 1943, for example, Thurstone listed six factors, with induction eliminated altogether, and perceptual and deductive uncertain.

Summary and Overview. For convenience in thinking it is possible to place the three theoretical approaches to the nature of the mental organization on a continuum. At one extreme lies the atomistic view of Thorndike which stresses a large number of mental elements. These separate elements act in combination in any mental act and may seem to be general in nature because of common elements among the various intellectual tasks that people are required to do. At the other extreme is the global concept of Spearman which suggests that some general quality off the mental organization pervades every mental act even though there may be specific abilities which determine the unique quality of a particular individual's performance. And finally, between these two falls Thurstone's view that not one general factor, nor a large number of specific factors, but a small number off independent factors make up the mental process.

All three points of view begin with somewhat different assumptions about the mental organization. Consequently they reason differently about the essentially similar data which they are analyzing. From the same correlational matrix it is possible to arrive at these opposing beliefs since the data themselves do not directly answer the question. Even the tests which Thurston designed to be measures of the independent factors of intelligence are correlated with one another, which suggests that some additional factor or factors are contained in the measures. In an effort to be eclectic it has been proposed by some that Spearman's G corresponds to Thurston's first primary factor. In any case the question of the adequacy of the three theories to explain all the facts remains unsettled.

In discussing the factorial approach to intelligence it might be well to refer to some studies on the relationship of age to the inter-correlation between intellectual factors such as verbal, numerical, and spatial. Garret (1946) presented controversial evidence that in children there appears to be more evidence off a general factor (higher inter-correlations) such as Spearman suggested, than in adulthood. Garrett writes, "The conclusion which I draw from these data is that over-all ability (g) which looms large during the elementary school years becomes progressively less important at the high school and college level, where factor studies have shown it to be negligible or quite small." At the high-school and college levels, abstract intelligence appears to become dismembered into specific components or more independent factors. Later research and critical reviews of Garrett's concept essentially discredit this point of view. Failure to control such factors as task difficulty and differing variability at different age levels probably account for Garrett's finding. The dismemberment concept can probably not be adequately tested for methodological reasons, although it is an interesting attempt to bring together the Spearman and Thurston points of view.

One of the chief limitation in the approaches discussed above concerns the fact that the correlation matrix from which all three theories are derived depends upon what tests are included. Intelligence is what we call certain kinds of activities which we can measure only through certain kinds and sample of behaviour. The tasks one includes to measure these behaviour depend upon many complex considerations, not the least of which is one's cultural frame of reference. The entire argument may tend to become circular, since the types of tests we include depend on our prior notion of what intelligence is. For example, if the correlation matrix contains no tests which depend on speed, then speed will not appear as a factor in our factor analysis. However, if we have decided in advance that speed is one of the variables our tests should measure it, and further it may appear as an important source of variation in our battery of tests.

The factor analysis does not claim that the number of factors is fixed or even known. This point has not always been made clear. There is no doubt that the adequacy of this type of analysis depends entirely upon the appropriateness of the measures one selects in the first place. We are always dealing with a limited sample of behaviour. This fact has been the primary criticism of factor analysis. The objections do not tend to lie with the statistics but with the raw data themselves. This argument applies to all three of the theoretical approaches. Examination of the inter-correlations will not put into the formula what is not already there. It has been suggested that these limitations reduce all three of the approaches to mere conceptual models on which to pattern our thinking and that the real nature of intelligence cannot be understood by factorial methods. Few people deny, however, that such models are useful, or even at times necessary, for research into the problem of the nature of intelligence.

One way in which to judge the importance of the differences between the theoretical views concerning the nature of intelligence is to study how these points of view affect the construction of tests. Let us look at the kinds of tests advocated by the proponents of each theory.

While Thorndike sees intelligence as made up of a multitude of minute elements of ability, he recognizes that this concept is not so significant in a practical sense as the idea that many of these elements operate together in a task which requires intelligent behaviour.

Some of these elements may be grouped in one class because they are found in one broad kind of intellectual activity. For example, one of Thorndike's best known tests was designed to measure the ability of people to handle abstract concepts, one broad category of mental effort. The CAVD Test consists off four parts: the sentence completion (C), arithmetical reasoning (A), vocabulary (V), and following directions (D). According to Thorndike (1927) this test does not measure all the elements in abstract intelligence. The other aspects of abstract intelligence not measured directly can be estimated because of the high correlations between performance on all abstract tasks. As we shall see, this test contains the same kinds of items that may be found in the great majority of current tests which provide some single measure of over-all intelligence. These current tests, as does the CAVD, tend to give a heavy weighting to what is called abstract intelligence. Thorndike's views in practice do not, therefore, lead to radically different types of tests than we are accustomed to use.

Since Spearman argues for a general factor of intelligence and includes in his correlation matrix the same kinds of tests that are used today in the clinic to measure intelligence, no alteration of our popular system of providing a single estimate of intellectual capacity is called for by his theoretical approach. The best test, says Spearman, is one which calls for the largest amount of the general factor, and the best test materials should therefore be those which have high intercorrelations. Each part of the test should be so thoroughly saturated with the general factor that the effects of the specific factors would be canceled out. This recommendation of spearman tends to be the actual practice today (viz., the Stanford-Binet, whose subtests are highly intercorrelated), although many psychologists are recommending that a single estimate of intelligence be abandoned.

The extreme practical conclusion that one would draw from the assumptions of Thurstone concerning the nature of intelligence is at great odds with the implications of either Thorndike's or Spearman's theories. For the factor analyst, any single measure of intellectual capacity is inappropriate. What we should be obtaining is a profile showing the individual's performance in the various primary factors which have been established by factorial technique. Psychologists with this point of view argue that we are not justified in adding up test items correctly passed in these various functions and that a total score representing intelligence is not meaningful.

In following this orientation, Thurstone has introduced his Primary Mental Abilities Tests (1938, 1934, 1946). Even these tests embody content which is basically similar to the tests which have been constructed out of the other theoretical frames of reference. They tend to contain material which measures academic and abstract abilities. They have not proved to be especially useful to the clinician as yet, and their future in a practical sense is difficult to predict. The importance of this approach may increase with greater interest in the effects of pathology on the various kinds of intellectual functioning.

Let us now summarize the discussion of the relationship between theory and practice. We have first noted that, while differing greatly in theory, Thorndike's and Spearman's concepts led to similar types of tests with the tendency to use a single measure to express intellectual level. On the other hand, Thurstone's approach rejected the single measure of intelligence in favour of a profile, although he used the same types of tasks as were employed by Thorndike and Spearman. At the present time, what one does in the clinic with regard to the measurement of intelligence does not depend greatly upon theoretical position. Although a number of psychologists have predicted changes in the near future, nearly all our standard tests give single measures of intellectual level. The practical value of pure factor tests (which are virtually impossible to achieve) may be in the future. The main impact of Thurstone's approach has been at the theoretical level.

In the early days of modern psychology the opinion was held that mental acts should be divided into three types: cognitive, conative, and affective. The cognitive aspect referred to the process of knowing and included only the intellectual functions. The conative side of mental acts included all aspects of motivation. The term "affective" was used to designate the emotional side of behaviour, Psychology developed

the tendency to study these components of behaviour independently of each other, or at least, with the tendency to think of them separately. While some psychologists today are arguing that this is no longer a justifiable way to approach psychological problems, present-day thinking is still greatly influenced by this division. Although no one would ever have argued that problem-solving behaviour did not require motivation, it is interesting that all our measurements attempt to isolate intelligence from its motivational component. In effect, we have been trying to study intelligence with motivation and emotions controlled.

At an early stage, in attempting to understand a very complex process, this over simple kind of classification is often convenient. The principal objection to this way of proceeding in the study of human intelligence is that it may actually lead us to overlook the nature of the total mental act. We are gradually moving away from the extreme position that there are such things as cognitive functions which are separate and distinct from affective and motivational ones. Those psychologists who are still willing to separate cognitive from affective and co-native are beginning to speak of interactions between them. Others go even further and suggest that the distinction should be dropped altogether in our thinking.

Recognition of these considerations has led a number of psychologists to talk about what have been called "non-intellective factors" in intelligence. Wechsler, in a presidential address to the Division of Clinical and Abnormal Psychology (1949), discussed some of the thinking along these lines. He pointed out that, when the correlation matrices of intelligence tests are factored, only about 60 per cent of the total variability in the test performance is ever accounted for by the factors. Moreover, factor analysts, some of them from Spearman's own laboratory, have been able to demonstrate the existence ; Brown, of factors which seem to be nonintellectual in nature (Spearman, 1923, Cattell, 1933; Alexander, 1935; and Wechsler, 1950). Interpreting evidence from a number of kinds of sources, Wechsler concludes that "…general intelligence is the function of the personality as a whole and is determined by emotion and conative factors."

Writers other than Wechsler have also made this point. Goodenough (1949) has stated the problem clearly in a brief exposition of what she has called "the mathematical analysis of nonintellectual traits."

Before leaving the theoretical issues surrounding the problem of the nature of intelligence, something should be said about the classical nature-nurture question. Many different points of view have been held concerning the relative influence of hereditary and environmental factors in intellectual behaviour. The question has prompted a fair amount of research, usually by the co-twin method of studying the influence of environment. In this method heredity is controlled through the use of identical twins. None of these studies has ever really settled the issue. In view of what we have said about the inappropriateness of separating the cognitive, co-native, and affective side of mental performance, the question really has very little meaning. We do not strictly measure capacity with our intelligence tests. We are measuring a person's performance which is the end product of many variables. We have pointed out that motivation, personality characteristics like persistence and self-confidence, chemical factors related to metabolism, and other variables enter into the measurement of the individual's intelligence. Unless these variables are isolated in our measurement, we cannot hope to assess the role of genes or biological factors in intellectual performance. The evidence is such that one can take almost any point of view concerning the nature-nature question.

Because of the above considerations and other questions which we have not treated here, a great many psychologists have preferred to soft-pedal the issue of heredity and environment in intelligence. We tend to say that both hereditary and environmental variables, whose operation we do not fully understand, interact in any individual's intellectual performance. In some instances environmental circumstances may appear more important, while in others hereditary factors stand out. However, making this sort of statement, or labeling any case of mental retardation of acceleration as hereditary or environmental in nature, does not solve the problem of understanding the nature of intellectual performance. In general, the nature-nurture question

has not been productive in bringing us closer to an understanding of human intelligence.

In some of the introductory texts on psychology, or in other introductory sources, the student is likely to come across a topic which is usually called the "constancy of the IQ." It has been pointed out that an individual's intelligence quotient remains stable throughout life, that is, his brightness or rate of mental growth does not change. A child who has an IQ of 120 at 10 years of age will have roughly the same IQ at 13. A great deal has been made of this point, and the impression is often gained that the IQ represents a person's inherent ability which is uninfluenced by any environmental conditions. In passing we would like to comment on this notion of the IQ's constancy.

In the first place, it should be clear by now that the IQ or any other measure of intelligence is not a measure of an individual's inherent capacity. It is considerably influenced by education and, as we have labored long to point out, by the personality of the individual. Moreover, the IQ at different ages does not have exactly the same meaning. For statistical reasons related to problems of measurement, it is more difficult to obtain an IQ of 120 at 13 or 14 years of age than it is to achieve such a score at 9 or 10.

Because of the misunderstandings wrought by the various claims about the constancy of the IQ, we believe it is necessary to point out just what is really meant by such a statement. If the IQ as a measure of mental alertness or brightness is to be useful to us, it must, or course, be reasonably stable. This is actually the case. Within reasonable limits the IQ does not vary greatly. But it does vary some, and ignorance of this fact has led people into making foolish statements. Its relative constancy, even taking account of environmental factors and the deficits of old age, is one of its chief virtues since it does make possible the consistent measurement of mental alertness throughout a good part of the life of the person. The measurement of intelligence has been one of the most useful enterprises off psychologists. From time to time researchers have claimed that chemical treatment of the feeble-minded produced a change in the IQ. Others have argued that it was possible to train a person's intelligence so that the IQ would be raised. Positive finding in some of these studies have sometimes led to the belief that the question of heredity or environment had been solved, since it was possible to change a person's intellectual level by certain physical or psychological methods.

The Faculty of Social-Science (Psychology)
Magadh University
Bodh-Gaya

References

- Goyal R.P. (1973): Creativity and school climate: An Exploratory study. Journal of Psychological Researches, 17 (2) 77-80.
- Gowan J.C. (1971 b): The relationship between creativity and giftedness Gifted child quarterly, 15 (4), 239-243.
- Grewal, F.S. (1975): Occupational Aspiration Scale, Agra Psychological. Research cell, Asia – 4.
- Guilford, J.P. (1954): The Interest Record seven factors.
- Guilford J.P. (1959): Personality, New York : Mc Graw Hill.
- Gustad, J.W. (1954): Vocational Interest and socio-economic status. *J. Appl.*.38, 336-338.
- Gzerwinsks, J.M. (1979): (U Warsaw, Inst. Of Psychology, Poland) (Intelligence and creative ability as specific dimensions of intellectual functioning) Psychologia Wychwawoza. Vol. 22 (3) 217-328.
- Guilford and his associates (1957): The relations of creative thinking aptitudes to non-aptitde, personality traits (Rep. Psychol. Lab. No. 20) Los Angles, University of Southern California.
- Harvey, O.J., Hund, D.E. and Scroder, H.M.(1961): Conceptual system and personality organization N.Y.
- Heilberein A.B. (1971): Maternal child rearing and creativity in sons. Journal of Genetic Psychology. 119 (2), 175-179.
- Horn, J.L. (1976): Human abilities : A review of research and theory in the early 1970s. Annual review of Psychology, 27, 437-485.
- Hutchinson W.L. (1963): Creative and productive thinking in the classroom. Unpublished Doctoral

Dissertation, University of Utah.
- Hutchinson W.B. (1973): A comparison of Instructions and social reinforcement as related to creativity in children's drawing. University of Meryland, Dissertation Abstracts, 34, 2899 - B.
- Holler, A.C. and Miller, I.W. (1963) The Occupational aspiration : theory, structure and correlates. *Agricultural Experiment Station Bulletin :* 288, Michigan State University.
- Harrison, D.B. (1968): Parental Judgment of responsibility in children and children's adjustment.
- Havinghurst and Rodgers (1952): Who shall go to College ? New York : Columbia University Press, p. 162.

लालकिताब ज्योतिषीय परम्परा में ऋण-विमर्श

डॉ. राजीव रंजन

ज्योतिषशास्त्र की परम्परा के सूत्र जहाँ सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध हो जाते हैं वहीं ऋषियों व विद्वानों की परम्परा ने इस विद्या को अपने परिश्रम, अनुभव और मेधा शक्ति के सहयोग से निरन्तर समृद्ध किया है। काल के निरन्तर प्रवाह में इस ज्योतिषवेदाङ्ग की कई शाखाएँ अस्तित्व में आईं और त्रिस्कन्ध ज्योतिष[1], स्कन्धषड्ङ ज्योतिष[2] आदि संज्ञाओं से सुशोभित हुईं। ज्योतिषशास्त्र अत्यन्त विस्तृत है, अत: विविध विद्वानों ने इस शास्त्र की पृथक्-पृथक् शाखाओं पर अपनी लेखनी चलाई तथा इसके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन जनसामान्य के लिए किया। विद्वानों की इसी परम्परा में 'पण्डित रूपचंद जोशी जी' का नाम उनकी रचना 'लालकिताब' के लिए अत्यन्त आदरपूर्वक लिया जाता है। लालकिताब के 5 संस्करण उपलब्ध होते हैं-1939, 1940, 1941, 1942 तथा 1952 संस्करण।[3] अपने वर्ण्य-कौशल तथा विषय-गाम्भीर्य के दृष्टिकोण से लालकिताब के सभी संस्करण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और ज्योतिषशास्त्र की यह शाखा अपने लघु व सहज उपायों तथा उनके चमत्कारिक प्रभावों के साथ-साथ अपनी भाषा के कारण भी दैवज्ञों तथा जनसामान्य को अपनी ओर आकर्षित करती है। यद्यपि ज्योतिषशास्त्र की इस शाखा अर्थात् 'लालकिताब' के मूलभूत सिद्धान्तों तथा वैदिक ज्योतिषशास्त्र के शास्त्रीय सिद्धान्तों में पर्याप्त वैषम्य है, तथापि दोनों ही शास्त्रों का एक ही उद्देश्य है- जनकल्याण। 'कर भला हो भला, अन्त भले का भला।'[4] 'लालकिताब' ज्योतिष पद्धति में कई ऐसी संज्ञाओं का प्रयोग मिलता है, जो पारम्परिक वैदिक ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते हैं। जैसे-ग्रहों के पक्के घर, सोया भाव, सोया ग्रह, कुर्बानी के बकरे[5], बनावटी ग्रह, ग्रहों के ऋण, धोखे का ग्रह[6] आदि और इन सब के अतिरिक्त सर्वथा नवीन व अद्वितीय उपाय पद्धति। परन्तु प्रस्तुत शोध पत्र में केवल ग्रहों के ऋण सम्बन्धी अवधारणा पर विचार किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति में ऋण सम्बन्धी अवधारणा का उल्लेख मिलता है। देवऋण-ऋषिऋण-पितृऋण-मनुष्यऋण-अतिथिऋण इन पाँच ऋणों के भेद से मानवमात्र को उनके उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों का बोध कराने की परम्परा भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य रहा है।[7] संभवतया इसी परम्परा से प्रभावित होकर लालकिताब ज्योतिष-परम्परा ग्रहों के ऋण सम्बन्धी अवधारणा को स्वीकार करती है और इसे अत्यन्त प्रबल व जातक के जीवन पर निर्णायक प्रभाव डालने वाला माना गया है। जन्माङ्ग में ग्रहों की विविध स्थितियाँ अलग-अलग ऋणों की सूचना देती हैं। जातक के ऋणों के सन्दर्भ में, लाल किताब में मातृऋण, पितृऋण, स्त्रीऋण, भगिनी/कन्याऋण, भ्रातृऋण, मित्रऋण, गुरुऋण, स्वऋण (ऋण अपना), सम्बन्धीऋण, निर्दयीऋण (जालिमानाऋण), अजात का ऋण, दैवीऋण आदि पर चर्चा की गई है।[8] लालकिताब के अनुसार जातक के ऊपर उनके पूर्वजों व सम्बन्धियों के प्रति किए गए कर्मों का तथा स्वयं द्वारा किए गए कर्मों का प्रभाव होता है और यही प्रभाव 'ऋण' संज्ञा से जाना जाता है। 'लालकिताब' ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है कि ग्रहों के जन्माङ्ग में स्थिति के आधार पर जातक तथा उसके वातावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन तो किया ही जाता है, तदुपरान्त वर्णित ग्रहस्थिति अथवा ग्रह-ऋण जन्य दोषों से मुक्ति के उपायों को भी

बताया जाता है। ऋणमुक्ति हेतु उद्योग की परम्परा भारतीय संस्कृति में भी रही है-ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्।" प्रमुख तीन ऋणों अर्थात् ऋषि-देव-पितृत्तऋण से मुक्ति के उपाय बताते हुए कहा गया है कि शास्त्रोक्त विधि से वेदों को पढ़कर धर्मविवाह से संतति का उत्पादन कर और यज्ञों द्वारा क्रमशः ऋषि-पितृ और देवऋण से मुक्त हुआ जा सकता है।[9]

पितृ ऋण- इस ऋण का सूचक ग्रह गुरु को माना गया है।[10] जन्माङ्ग में सूर्य यदि राहु, केतु या शनि के साथ अवस्थित हो तो जातक पितृ ऋण से युक्त होगा। तुला राशि, मकर राशि तथा कुम्भ राशियों में स्थित सूर्य भी इसी स्थिति का सूचक है। सूर्य का षष्ठस्थ, अष्टमस्थ अथवा द्वादश भावस्थ होना, जन्माङ्ग के दशम भाव में सूर्य का शनि, राहु अथवा केतु के साथ स्थिति, जन्माङ्ग के दशम भाव अथवा सूर्य की शत्रु ग्रहों से युति अथवा दृष्ट होना, राहु-केतु के एक ही ओर शेष सभी ग्रहों की स्थिति भी जातक को पितृ ऋण से पीड़ित करता है। इसी प्रकार कुछ अन्य ग्रह स्थितियों को भी ऋण पितृ का कारक माना गया है, जैसे-यदि जन्माङ्ग में बुध अष्टमस्थ और गुरु नवमस्थ हों, बुध द्वितीय भावस्थ या सप्तमस्थ और शुक्र नवमस्थ हो, बुध तृतीयभावस्थ तथा राहु नवमस्थ हों, बुध चतुर्थभाव में तथा चन्द्रमा नवमभाव में हों, बुध पञ्चमस्थ तथा सूर्य नवमस्थ हों, बुध षष्ठस्थ तथा केतु नवमभाव में स्थित हों, गुरु केन्द्रस्थ तथा शनि द्वितीय भाव में हों, राहु-केतु या शुक्र पञ्चमभावस्थ हों परन्तु सूर्य लग्न या एकादश में न हो चन्द्रमा 3 या 6 में हों परन्तु बुध 2, 12 में न हों। घर नौवें हो ग्रह कोई बैठा, बुध बैठा जड़ साथी हो। ऋण पितर उस घर से होगा, असर ग्रह सब निष्फल हो। साथी ग्रह जब जड़ कोई काटे, दृष्टि मगर वह छुपाता हो। 5, 12, 2, 9 कोई मन्द, ऋण पितर बन जाता हो।" जन्माङ्ग में इस ऋण की उपस्थिति का कारण बताते हुए कहा गया है कि यदि जातक द्वारा पूर्वजन्म में पिता, पितृतुल्य व्यक्ति, ध र्म-कानून या राज्य के प्रति अपराध किया गया हो, उनका ऋणी हो अथवा राज्य, पिता या पितृतुल्य व्यक्ति के प्रति शास्त्रविहित उत्तरदायित्वों का निर्वहन न कर उनकी उपेक्षा या तिरस्कार का अपराधी हो तो जन्मकुण्डली में यह योग परिलक्षित होता है। निशानी यह कि साथ में (घर के पड़ोस में) धर्म मन्दिर या बृहस्पति की चीजें पीपल आदि को बर्बाद कर ही चुका हो या कर रहा हो।[11]

मातृ ऋण-इस ऋण हेतु चन्द्रमा को महत्त्वपूर्ण कहा गया है।[12] जन्मकुण्डली का चतुर्थभाव पाप प्रभाव में हो अर्थात् पाप ग्रहों की स्थिति अथवा दृष्टि चतुर्थभाव पर हो, चतुर्थेश अशुभ व पाप ग्रहों के साथ षष्ठ, अष्टम या द्वादश भाव में स्थित हो, जन्माङ्ग में चन्द्रमा नीचस्थ (वृश्चिक राशि में) होकर, राहु-केतु-शनि में से किसी के साथ हो अथवा षष्ठस्थ, अष्टमस्थ अथवा द्वादश भावस्थ हो तो जातक की कुण्डली मातृ-ऋण से पीड़ित मानी जाएगी। चतुर्थ भाव में स्थित केतु, चन्द्रमा को विशेष रूप से पीड़ित करता है, अतः इस परिस्थिति में भी जातक को मातृ-ऋण का दोष होता है। मातृ-ऋण का कारण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जातक यदि अपने सन्तान की उत्पत्ति के बाद माता को कष्ट दे अथवा माता के दुःख की उपेक्षा करे तो यह ऋण होता है। माता, मातृतुल्य स्त्री अथवा मातृभूमि का ऋणी, व्यक्ति भी इस दोष से युक्त होता है। इस दोष से पीड़ित व्यक्ति की निशानी यह है कि इस जातक के घर के पड़ोस में पूजन, योग्य, नदी, नहर, तालाब अथवा कुँए को गन्दगी जमा करने या गन्दगी बहाने के काम में लाया जा रहा होगा। स्त्रीऋण-जन्माङ्ग में शुक्र, शनि, राहु, केतु या सूर्य की स्थिति मंगल के साथ हो, कुण्डली के द्वितीय या सप्तम भाव में सूर्य, चन्द्र, राहु स्थित हों तो शुक्र पीड़ित होता है तथा यह ग्रह स्थिति स्त्रीऋण की सूचक होती है। प्रसूति के समय स्त्री को किसी लालच के कारण मार देना, स्वयं की स्त्री, विधवा, वृद्धा, अपंग स्त्री, कुंवारी कन्या, गर्भवती स्त्री, अधिक आयु की कुंआरी कन्या, गरीब, बेसहारा, संतानहीन, नेत्रहीन, काणत्व दोष से युक्त, स्त्रियों को दुःखी करने, अपमानित करने, धन का हरण करने, हानि पहुँचाने अथवा शास्त्रविहित उत्तरदायित्वों के निर्वहन में शिथिलता के कारण जातक के जन्माङ्ग में यह दोष दृष्टिगत होता है। इस दोष की निशानी यह है कि ऐसे जातक के घर के लोगों में दाँतों वाले जानवर, विशेषतया गाय के प्रति घृणा होगी या गौ-पालन के प्रति अरुचि का भाव होगा, जातक का अंगूठा अकारण ही निष्क्रिय हो सकता है।

भ्रातृऋण/ मित्रऋण- जन्मकुण्डली के एकादश, तृतीय भाव में मंगल स्थित हो तथा उस पर शनि की दृष्टि पड़ रही हो, मंगल षष्ठ, अष्टम या द्वादश भावस्थ हो, मंगल जन्मकुण्डली के किसी भी भाव में राहु-शनि केतु अथवा सूर्य के साथ हो, मंगल तृतीयस्थ तथा राहु एकादशभावस्थ

हो, जन्मपत्रिका के तृतीय भाव में राहु हो और मंगल ग्यारहवें, बारहवें या नवम भाव में स्थित हो, मंगल खाना नम्बर 09 (नवमभाव) में हो तथा बुध खना नम्बर 1-8 में हो[13] तो जातक के जन्माङ्ग को भ्रातृ या मित्रऋण से युक्त माना जाता है। विगत जन्म में सहोदर भाईयों अथवा भाई के समान मित्रों को धोखा देने, सम्पत्ति के हरण अथवा उनके प्रति कर्त्तव्यों के निर्वहण में शैथिल्य के कारण यह ऋण होता है। निशानी यह कि जातक का बड़ा भाई मर जाए या लम्बी बीमारी से पीड़ित हो।

बहन-बेटी का ऋण भगिनी/कन्याऋण- जातक की जन्मपत्रिका के तीसरे या छठे भाव में चन्द्रमा स्थित हो तो बुध पीड़ित हो जाता है और यह स्थिति भगिनी/कन्या ऋण के उपस्थिति का बोधक होती है। लालकिताब में बुध को कन्याय संतति (प्रथम) का कारक माना गया है।[14] इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रहयोग भी उपरोक्त ऋण की उपस्थिति का संकेत देते हैं, यथा-चतुर्थभाव में बुध और केतु शनि द्वारा दृष्ट हों, केतु-शुक्र या राहु-बुध की युति हो, तृतीय-पञ्चम या षष्ठ भाव में केतु-बुध हों और उनका सम्बन्ध शुक्र के साथ हो, जन्माङ्ग में बुध तृतीय-षष्ठ-अष्टम या द्वादश भाव में शनि-राहु या केतु के साथ हो, बुध के साथ केतु युति सम्बन्ध बना रहा हो अथवा बुध पर शनि या राहु की दृष्टि हो तो भी जन्माङ्ग भगिनी या कन्याऋण अथवा लालकिताब की भाषा में कहें तो बहन-बेटी के ऋण से पीड़ित मानी जाएगी। जातक द्वारा विगत जन्म में यदि सहोदर बहन, बेटी, छोटी बहू या इनके सदृश अन्य किसी स्त्री का अपमान, मानभंग, सम्पत्ति का हरण, अन्यान्य प्रकार के दु:ख, धोखा आदि दिया गया हो तो यही पापकर्म जन्माङ्ग में भगिनी या कन्याऋण बनकर प्रकट होते हैं। इस दोष की निशानी यह है कि जातक मासूम बच्चों का स्वार्थपूर्वक बदल देने या चोरी-छिपे बेचने की प्रवृत्ति से युक्त होता है। बहन या बेटी के विवाह या जन्म के समय एकाएक दुभार्ग्यपूर्ण घटनाएँ होती हैं।

देव या गुरुऋण-जातक की जन्मपत्रिका में बृहस्पति षष्ठस्थ-अष्टमस्थ या द्वादशमावस्थ हों, चतुर्थभाव या दशमभाव में गुरु, राहु के साथ हों, गुरु अपनी नीच राशि मकर या शत्रु राशियों में स्थित हों और उस पर शनि-राहु या केतु की दृष्टि हो, गुरु-चन्द्र-शनि में से तीनों अथवा किसी दो ग्रहों का सम्बन्ध नवम भाव से हो, कुण्डली में बृहस्पति के साथ राहु-केतु या शनि युति सम्बन्ध बना रहे हों तो जातक देव या गुरुऋण से पीड़ित कहा जाएगा। द्वितीय, पञ्चम, नवम या द्वादश भाव में बुध, शुक्र या राहु के होने पर भी गुरु पीड़ित हो जाता है, तथा जन्माङ्ग देव या गुरुऋण से युक्त हो जाता है। किसी कारण से कुल पुरोहित बदला गया हो, गुरु या गुरु समान व्यक्ति की हत्या हुई हो, बरगद-अश्वत्थादि के वृक्ष कटवाए गए हों, गाय का वध किया गया हो, अपमान किया गया हो, सम्पत्तिहरण, धोखा, मिथ्या-वचन आदि से पीड़ित किया गया हो तो जातक के जन्माङ्ग में उपरोक्त दोष दृष्टिगत होते हैं। देव या गुरु ऋण से पीड़ित जन्माङ्ग वाले जातक की निशानी है कि जातक के घर के समीप किसी देव मन्दिर या पीपल का वृक्ष नष्ट कर दिया गया हो।

अज्ञातऋण-जातक के जन्माङ्ग में उपस्थित ये ग्रहयोग अज्ञात ऋण का संकेत देते हैं। लग्न भाव, सप्तम भाव, अष्टम भाव या दशम भाव में सूर्य पुत्र शनि स्थित हों, षष्ठ भाव, अष्टम भाव या द्वादश भाव में तीन-चार या इससे अधिक ग्रह हों, जन्मकुण्डली में प्रत्येक शुभ ग्रह के साथ एक अशुभ ग्रह निश्चित हो, शनि लग्नस्थ, मंगल चतुर्थभावस्थ, सूर्य सप्तमस्थ हो एवं चन्द्रमा वृश्चिक राशि अर्थात् अपनी नीच राशि में हो, केन्द्र स्थान रिक्त हो अर्थात् लग्न-चतुर्थ-सप्तम-दशम भाव में कोई ग्रह स्थित न हो, खाना नम्बर 12 में सूर्य, शुक्र, मंगल हों[15], द्वादश भावस्थ सूर्य-चन्द्र-मंगल राहु को पीड़ित करने वाले होते हैं, अत: इन परिस्थितियों में अज्ञात या अजातऋण जन्माङ्ग में दृष्टिगत होता है। विगत जन्म में जातक द्वारा रक्त सम्बन्धियों के अतिरिक्त विशेषतया ससुरालपक्ष के लोग[16], अन्य दुर्बल, कमजोर, बेसहारा या अनजान व्यक्ति को धोखा देने, धनहरण, अपमान, हानि पहुँचाने अथवा उनका ऋण धारण करने से जन्माङ्ग में यह दोष दृष्टिगत होता है। इस योग की निशानी यह है कि ऐसे जातक की दक्षिणी दीवार के साथ वीरान कब्रिस्तान या भड़भूजे की भट्ठी होती है या घर के मुख्य द्वार की दहलीज के नीचे से घर का गन्दा पानी बाहर निकलने की नाली बहती है।

निर्दयीऋण (जालिमानाऋण)- जन्माङ्ग के दशम व एकादश भावों में सूर्य, चन्द्रमा या मंगल होने से शनि पीड़ित होता है, तथा निर्दयी ऋण का योग बनता है। विगत जीवन में अकारण जीवहत्या करने अथवा धोखा देकर किसी का मकान छीन लेने और उसका मूल्य न चुकाने के

कारण यह योग बनता है।[17] इस दोष की निशानी यह है कि जातक के घर का मुख्य द्वार दक्षिण में होगा, अनाथों से छीनकर ली गई जमीन पर मकान बना होगा अथवा कुँए की छत पर घर निर्मित होगा।

इस प्रकार लालकिताब के विविध संस्करणों में अलग-अलग ऋणों की चर्चा की गई है तथा इसके निर्धारक ग्रह योगों व ग्रहों की विभिन्न भावों में स्थिति पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। जातक की कुण्डली में विविध ऋणों के योग परिलक्षित होने पर उस जातक के आस-पास के वातावरण, निवास स्थान, व्यवहारादि के आधार पर कई निशानियों अर्थात् लक्षणों का निर्धारण किया गया है जो जन्माङ्ग में विविध ऋणों की उपस्थिति को पुष्ट करते हैं। भारतीय ज्योतिषशास्त्र के विविध सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव इस लालकिताबप्रोक्त ऋण सम्बन्धी अवधारणा पर दृष्टिगत होता है। वैदिक ज्योतिष में जातक के विविध सम्बन्धियों अर्थात् रिश्तेदारों का कारक जिन ग्रहों को माना गया है, उन ग्रहों की जन्माङ्ग में निर्बल स्थिति, पाप प्रभाव तथा पाप स्थानों में स्थिति के आधार पर ही तत्तत ऋणों और तदजन्य शापों का निर्धारण किया गया है।[18] लालकिताब के रचनाकार का यह मत है कि जिस ग्रह के अपने गृह में या कारकत्व वाले घर में शत्रु ग्रह बैठा हो तो सम्बन्धित ग्रह पीड़ित माना जाएगा तथा पीड़ित ग्रह जिन रिश्तेदारों के कारक होते हैं उन्हीं रिश्तेदारों के प्रति किए गए पाप कर्म तथा तदजन्य शाप से ऋणों की उत्पत्ति होती है। इन ऋणों से मुक्ति हेतु उपायों पर लालकिताब में पर्याप्त चर्चा की गई है। बिना ऋणों से मुक्त हुए कल्याण सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को स्मृति परम्परा भी पुष्ट करती है, जिसमें कहा गया है- अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवान्नदोऽग्निमान्। शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षेमनः कुर्यात्तु नान्यथा।"[19] अर्थात् ऋणों से मुक्ति हेतु शास्त्रविहित कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने के उपरान्त ही मोक्ष का इच्छुक होना चाहिए। स्पष्ट है कि ज्योतिष वेदाङ्गरूपी प्रत्यक्ष शास्त्र की लालकिताब परम्परा मानव मात्र के कल्याण, सुख, समृद्धि व आनन्द प्राप्ति के मार्ग में ऋणमुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर अपनी उपादेयता ही प्रमाणित कर रहा है। जैसी करनी वैसी भरणी, की नहीं तो करके देख।

सहायक आचार्य (ज्योतिष),
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-7

सन्दर्भ सूची

1. बृहस्पतिसंहिता; 1/5
2. प्रश्नमार्ग; 1/7
3. सामुद्रिक की लालकिताब (1952), संपादक वेणीमाधव गोस्वामी, भूमिका, पृ. 29
4. अरुण संहिता (लालकिताब), हरेकृष्ण ट्रस्ट, 2009, पृ. 1
5. इल्मे सामुद्रिक की लालकिताब (1942), पृ. 70,
6. सामुद्रिक की लाल किताब (1941), पृ. 398
7. महाभारत; अनुशासनपर्व, 37/18
8. अरुण संहिता (लालकिताब), पृ. 38-39
9. मनुस्मृति; 6/36
10. सामुद्रिक की लालकिताब के अरमान (1940), अनुवादक- उमेश शर्मा, सागर पब्लिकेशन्स, पृ. 121
11. अरुण संहिता (लालकिताब), पृ. 38
12. सामुद्रिक की लालकिताब (1941), पृ. 393
13. लालकिताब (1952), फरमान नम्बर-8, पृ. 172,
14. अरुण संहिता (लालकिताब), पृ. 39
15. सामुद्रिक की लालकिताब (1939), पृ. 228, अनुवादक; हरेश पंचोली
16. सामुद्रिक की लाल किताब (1941), पृ. 393, वेणीमाध व गोस्वामी, हिमाचल पब्लिकेशन्स, दिल्ली
17. अरुण संहिता (लालकिताब), पृ. 39
18. प्रश्नमार्ग; 15/39-41
19. याज्ञवल्क्य स्मृति; प्रायश्चित्ताध्याय; यतिधर्मप्रकरणम्; श्लोक 57

भारतवर्ष में लेखन कला की प्राचीनता

हरिओम कुमार

भारतवर्ष में लेखन कला का इतिहास भारत के सामान्य इतिहास की ही भाँति अस्थिर है, तथा इस विषय पर विभिन्न तथा विरोधी मत हैं। प्रारम्भिक प्राच्य विद्याविशारदों में अन्यतम मैक्समूलर का कहना है, ''मेरा विचार है कि पाणिनि की पारिभाषिक शब्दावली में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो लेखन के अस्तित्व की पूर्व-कल्पना करता हो।'' उनके अनुसार पाणिनि का काल ई. पू. चौथी शताब्दी है। इस प्रकार उनके विचार से लेखन-कला का प्रारम्भ 400 ई. पू. के भी पश्चात् हुआ।[1]

दूसरे प्राच्य विद्याविशारद बर्नेल इस मत के समर्थक हैं कि भारतीय ब्राह्मी लिपि पिकनीशियन लिपि से निकली है तथा भारत में इसका प्रवेश ई. पू. चौथी या पांचवीं शताब्दी के पहले न हुआ होगा।[2] ''क्योंकि पहले के अन्वेषणों के परिणामस्वरूप लेखन-कला का प्रवेश काल पूर्वोत्तर प्रमाणित होगा और उसे ई. पू. 1000 या इससे भी पूर्व रखना होगा।''[3]

उपर्युक्त विचार 11वीं शताब्दी या बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रकट किये गये थे। तत्पश्चात भारतीय इतिहास पर नवीन सामग्री उपलब्ध हुई है, जिसने इस विषय पर ऐतिहासिकों के विचार को परिवर्तित कर दिया है। संस्कृत भाषा और साहित्य की प्राचीनता एवं इतिहास पर नवीन शोध, सिन्धुघाटी की लिपि की खोज, मध्यपूर्व और भारत के उसके सम्बन्धों एवं आर्यों के मूल निवास पर नवीन प्रकाश ने भारतीय सभ्यता के आदि और उसके साथ ही लेखन-कला के प्रारम्भ को और पहले भेज दिया है।[4]

भारतीय अनुश्रुतियाँ :

भारतीय अनुश्रुतियाँ भारत में लेखन-कला को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करती हैं। नारदस्मृति में, जो लगभग पाँचवीं शताब्दी का विधिविषयक ग्रन्थ है, लेखन-कला के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है : ''यदि ब्रह्मा उत्तम नेत्रतुल्य लेखन-कला की सृष्टि न करते तो इस लोक की यह शुभ गति न होती।''

बृहस्पति कुछ भिन्न शब्दों में इसी अनुश्रुति का उल्लेख करते हैं : ''चूँकि छः मास के अनन्तर किसी घटना के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, इसलिए ब्रह्मा ने अति प्राचीन काल में पत्ररूढ़ अक्षरों की सृष्टि की। ''लिपिकेयथावत्ग्रहण से मनुष्य उसी प्रकार वाङ्मय के विशाल कोश में प्रवेश करता है जिस प्रकार नदी-मुख से समुद्र में।''

जैन ग्रन्थ समवायांगसूत्र एवं पण्णवनासूत्र तथा बौद्ध ग्रन्थ 'ललित-विस्तार' भी ब्राह्मण-साहित्य की भाँति भारत में लेखन-कला की अति प्राचीनतम का प्रतिपादन करते हैं। देश की कला-परम्परा भी भारत में लेखन-कला की प्राचीनता के विषय में इन साहित्यिक अनुश्रुतियों की पुष्टि करती है। बादामी से प्राप्त एक मूर्ति में ब्रह्मा अपने चार हाथों में से एक में तालपत्रों की पुस्तक लिये हुए है।[5] साथ ही सरस्वती की कल्पना पुस्तक रजिंतहस्ता के रूप में की गई है।[6] इस प्रकार ज्ञान और साहित्य के इन देवताओं का लिखित पुस्तक से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विदेशी अनुश्रुतियाँ :

विदेशी अनुश्रुतियाँ भारतीय अनुश्रुतियों का समर्थन करती है। चीन और पश्चिमी एशिया के विद्वान् लेखन के आविष्कार एवं उसकी प्राचीनता विषयक भारतीय परम्पराओं से सुपरिचित थे। इसकी पुष्टि निम्नांकित उल्लेखों से होती

है :

चीनी यात्री हुएनसांग भारत में लेखन के अति प्राचीन आविष्कार का उल्लेख करता है। चीनी विश्वकोश 'फा-वान-शु-लिन' का कथन है कि बायें से दायें और लिखी जाने वाली ब्राह्मी लिपि का आविष्कार फान (ब्रह्मा) ने किया था तथा यह लिपियों में सर्वोत्तम थी। अलबेरूनी भारत में लेखन-कला की प्राचीनता का निर्देश करता हुआ लिखता है-''हिन्दू एक बार लेखन-कला भूल गये थे, जिसका पुनराविष्कार पराशर के पुत्र व्यास ने दैवी प्रेरणा से किया।'' उसके अनुसार भारतीय वर्णमाला का इतिहास कलियुग (ई. पू. 3101) से प्रारम्भ होता है। इस परम्परा का प्रचार इस कारण हुआ कि व्यास वेदों के संकलकर्ता तथा महाभारत एवं अष्टादश पुराणों के रचयिता समझे जाते हैं। यवन लेखकों का साक्ष्य कतिपय यवन लेखकों ने, भरत में लेखन कला तथा लेखन-सामग्री के सम्बन्ध में अपने अन्वेषणों का उल्लेख इस प्रकार किया है- नियार्कस लिखता है, ''यहाँ के निवासी कपास और चिथड़ों से (निस्संदेह लिखने के उद्देश्य से) कागज बनाना जानते हैं।'' मेगस्थनीज अपनी 'इण्डिका' नामक पुस्तक में वह लिखता है कि भारतवर्ष में ''यात्रियों के उपयोग के लिए, जिनसे साक्षर होने की आशा की जाती थी, विश्रामगृहों की दूरी जानने के लिए दस-दस स्टेडिया की दूरी पर पत्थर गाड़े जाते हैं।'' पंचाधैं के अनुसार वर्षफल के कथन का भी उसने उल्लेख किया है। पंचाधैं का निर्माण लेखन की सहायता से ही हो सकता है। एक अन्य ग्रीक लेखक क्विण्टस कर्टियस कुछ पेड़ों की मुलायम छाल का लेखन सामग्री के रूप में उल्लेख करता है।[7] इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भारतवर्ष में लिखने के लिए अति प्राचीन काल में भोजपत्र का प्रयोग होता था।

बौद्ध साहित्य का साक्ष्य :

बौद्ध साहित्य में न केवल लेखन के अस्तित्व बल्कि लेखन के व्यवसाय, विषय, पद्धति एवं प्रयुक्त होने वाली सामग्री का निश्चित एवं सुस्पष्ट निर्देश है। विनयपिटक में संकलित कृतियों में लेखन-कला को भिक्षुओं के लिए निर्दोष एवं सराहनीय बता कर उसकी प्रशंसा की गई है।[8] गृहस्थों और उनके पुत्रों के लिए लिखने का व्यवसाय जीविका का एक उत्तम साधान समझा जाता था।[9]

महावग्ग और जातक में केवल ई. पू. पाँचवीं शती के पूर्व लेखन-कला के अस्तित्व के प्रमाण ही नहीं मिलते हैं, अपितु उन संस्थाओं का भी निर्देश है, जिनमें लेखन-कला की शिक्षा दी जाती थी। पाठ्य-विषय पर लिखित सामग्री तथा लिखने की विधि एवं उपकरणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ललितवस्तर में बुद्ध की लिपिशाला में जाने तथा उनके शिक्षक विश्वामित्र के द्वारा चन्दन-फलक पर स्वर्ण-लेखनी से उनको वर्ण परिचय कराये जाने का वर्णन है।

ये सभी बौद्ध प्रमाण इस बात के परिचायक हैं कि भारत में ईसा पूर्व की चौथी और छठी शताब्दी के मध्यकाल में, लेखन-कला का व्यापक प्रसार था एवं सामान्य जनता इससे सुपरिचित थी।

ब्राह्मण-साहित्य का साक्ष्य :

वेदोत्तर संस्कृत साहित्य में जिसमें महाकाव्य, काव्य, नाटक, स्मृतियाँ, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, आख्यायिका, दर्शन तथा अन्य शास्त्र समाविष्ट हैं, विषय की प्रति, शैली, आकार तथा लेखन के पर्याप्त प्रमाण भरे पड़े हैं।

सामान्यतया भारत में रामायण एवं महाभारत का समय चतुर्थ शताब्दी ई. पू. माना जाता है। इनमें उत्तरकालीन युगों के स्थल भी विद्यमान हैं, जिन्हें मूल ग्रन्थों का अंग नहीं माना जा सकता है।[10] इनमें लेखन सम्बन्धी 'लिख', 'लेख', 'लेखन', 'लेखक' आदि अनेक शब्द भरे पड़े हैं। इस पर बूलर का कथन है ''यद्यपि महाकाव्यों के प्रमाण केवल उचित सतर्कता से स्वीकार किये जा सकते हैं, फिर भी इसका निराकरण नहीं किया जा सकता है कि उनके लेखन ओर लेखक सम्बन्धी शब्द अति प्राचीन हैं।[11] महाभारत की भूमिका में कहा गया है कि महाभारत के रचयिता व्यास ने गणेश (जो स्पष्टतः लेखन में निपुण मानव ही थे) को अपना लेखक बनाया था।[12]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र ब्राह्मण-साहित्य का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अर्थशास्त्र का समय अशोक के शिलालेखों के पूर्व ई. पू. चतुर्थ शतक है। इसमें लेखन के विशिष्ट और प्रत्यक्ष संकेत हैं जिनमें से कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

(क) वृत्तनौलकर्मा लिपि संख्यानं चोपयुंजीत। 1/5/21 (चूडाकर्म उपरान्त लेखन और गणना सीखनी चाहिये)

(ख) पंचमे मन्त्रिपरिषदा पत्र-सम्प्रेषणेन मन्त्रयेत। 1/19/6 (पाँचवें प्रहर में राजा को पत्र-सम्प्रेषण द्वारा मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करनी चाहिये)।

(ग) संज्ञालिपिभिश्चारसंचारं कुर्युः। 1/12/8 (संज्ञा और

लिपि के साथ अपने गुप्तचरों को भेजना चाहिये।)

(घ) अमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखवाचनसमर्थालेखकः स्यात् । 2/9/28 (लेखक..लिखने और पढ़ने में समर्थ तथा रचनाकुशल होना चाहिये।)

सूत्र-साहित्य :

श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों-का समय ईसा पूर्व की दूसरी और आठवीं शताब्दियों के बीच रखा गया है। सूत्र-साहित्य भी लेखन के व्यापक प्रचार के प्रमाण उपस्थित करता है। उदाहरणार्थ वसिष्ठ धर्मसूत्र में व्यावहारिक प्रमाण के रूप में लिखित पत्रकों का उल्लेख है। साथ ही साक्ष्य के प्रकरण में एक सूत्र किसी प्राचीनतर ग्रन्थ या प्राचीन परम्परा से उद्धृत किया गया है।[13]

पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त, निम्नलिखित पद लेखन-कला के अस्तित्व के सूचक हैं:

(क) लिपि और लिबि

(ख) लिपिकर

(ग) यवनानी

(घ) ग्रन्थ

(ङ) स्वरित

इसके अतिरिक्त पाणिनि पाँच और आठ के अंकों एवं स्वस्तिक जैसे धार्मिक चिह्नों द्वारा पशुओं के कानों को अंकित करने का उल्लेख करते हैं। ठोस प्रमाण पारम्परिक, साहित्यिक, सामयिक एवं निर्देशात्मक सभी प्रकार के साक्ष्यों से निष्पन्न निष्कर्ष की पुष्टि, पत्थर, धातु, हाथी दाँत, मृत्तिकापट्ट तथा घिया पत्थर (स्टेलाइट) जैसे स्थायी पदार्थों पर खुदे उन लेखों से होती है, जो लेखन-काल और आज के बीच लम्बी शताब्दियों को पार कर आये हैं, जबकि पत्तों, छाल, कपड़ों और कागज जैसे नाशवान् पदार्थों पर लिखी गयी समकालीन कृतियाँ नष्ट हो गयी हैं।

मौर्य अभिलेख :

लेखन के उदाहरण, जिनके समय के विषय में मतभेद नहीं हो सकता है, अशोक के शिलालेखों में पाये जाते हैं। अशोक का समय ई. पू. की तीसरी शती है। ये शिलालेख, चटानों, प्रस्तर-स्तम्भों तथा गृहाभित्तियों पर देश की दो मुख्य लिपियों-ब्राह्मी और खरोष्ठी-में है। ये उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर राज्य, पश्चिम में काटियावाड़ में गिरनार से दक्षिण-पूर्व में धौली और जौगड़ तक-एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हैं। इन लेखों की लिपि में निम्नलिखित विशेषताएं हैं-

(अ) वर्णों के रूपों में व्यापक भेद (आ) स्थानीय भेद, मुख्यतया उत्तरी और दक्षिणी दो रूप थे किन्तु अन्य स्थानीय उपभेद भी प्राप्त होते हैं। (इ) वर्गों के विकसित एवं घसीट रूप, एक ही वर्ण का सुन्दर (प्रायः कोणवाला, सावधानी और सौन्दर्य पर विशेष ध्यान के साथ खोदा गया) रूप तथा साथ ही घसीट (वक्र रेखाओं की ओर अग्रसर तथा प्रतिदिन की लिखावट में शीघ्रता से लिखा जैसा) रूप प्राप्त होता है।

उक्त विशेषताओं के आधार पर बूलर ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है, ''इतने स्थानीय भेदों तथा अनेक घसीट रूपों का अस्तित्व, किसी भी दशा में इस बात को सिद्ध करता है कि अशोक के समय में लेखन का एक लम्बा इतिहास था तथा उस समय अक्षर परिवर्तन की अवस्था में थे।''[14] अशोक अपने लेखों के लिए पत्थर के माध्यम की व्याख्या करता हुआ कहता है, ''जिससे यह चिरस्थायी हो।''[15] इससे प्रतीत होता है कि नाशवान् पदार्थों पर भी लिखने का कार्य होता था। अशोक ने भिक्षुओं और उपासकों के दैनिक अध्ययन एवं पाठ के लिए कुछ धार्मिक ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है।[16] ये कृतियाँ निश्चय ही पत्थर पर नहीं खुदी होंगी प्रत्युत पत्र, छाल और कागज जैसे साधारण पदार्थों पर लिखी होंगी।

प्राङ्गमौर्य अभिलेख :

अशोक काल के पूर्व के भी अभिलेख हैं जो लेखन तिथि को मौर्यकाल के भी पूर्व खींच ले जाते हैं-

(अ) एरण मुद्रा विरुद (आ) भट्टिप्रोलु अवशेष मंजूषा द्राविडी अभिलेख (इ) तक्षशिला : मुद्रा ब्राह्मी विरुद (ई) महास्थान प्रस्तर अभिलेख (उ) सोहगौर ताम्रपट्ट अभिलेख (उ) पिप्रह्वा बौद्धकलश अभिलेख (ए) बडली अभिलेख तथा (ऐ) सिन्धुघाटी की लिपि।

इस प्रकार देश की परम्पराएँ, विदेशी लेखकों का साक्ष्य, साहित्यिक प्रमाण तथा अवशिष्ट लेख सभी भारतवर्ष में लेखन कला के ज्ञान को वैदिक काल तक सिद्ध करते हैं। यह प्राचीनता ईसा पूर्व की चौथी सहस्राब्दी तक जाती है।

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

सन्दर्भ सूची

1. हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ. 262,
2. साउथ इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ. 9
3. इण्डियन पेलियोग्रॉफी (आंग्ल-अनुवाद), पृ. 17
4. भारतीय लिपि-विज्ञान पर आधुनिकतम यूरोपीय लेखक डेविड डिरिंजर (अपनी पुस्तक 'दि अल्फाबेट' पृ. 334 में) प्रारम्भिक प्राच्य विद्याविशारदों के अन्वेषणों के आधार पर मानते हैं कि ''अन्ततः अनेक साक्ष्यों से आर्य भारत में लेखन के प्रवेश की तिथि ई. पू. आठवीं और छठवीं शताब्दी के मध्य में ज्ञात होती है और इस प्रकार उन (साक्ष्यों) से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि ब्राह्मी लिपि सिन्धुघाटी की लिपि की अपेक्षा अत्यन्त परवर्ती है तथा भारतवासियों को लेखन का ज्ञान ई. पू. सातवीं या आठवीं शताब्दी के पश्चात् हुआ।''
5. इण्डियन एण्टिक्वेटी, भाग 6, 366. मूर्ति का समय 580 ई. है।
6. वीणापुस्तकरजिंतहस्ते। भगवति भारति देवि नमस्ते।।
7. मैक्रिण्डल, हिस्ट्री ऑफ एलेक्जेण्डर्स इन्वेजन ऑफ इण्डिया, 8/9
8. भिक्खुपाचित्तिय, 2/2.
9. रिज डेविड्स बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 108
10. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 1
11. इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ. 4
12. आदि पर्व, 1/112
13. विण्टरनिट्ज, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 1
14. इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ. 7
15. इयं धम्मलिपि लेखिता चिलठितीका होतु। शिलालेख 2 (काल्सी)।
16. इमानि भंते धम्मपलियानानि विनयसमुकसे अलियवसानि अनागतभयानि।